सुबोध आयुर्वेद ग्रंथमाला—१

# सुबोध शारीर क्रिया-विज्ञान

(केन्द्रिय आयुर्वेद परिषद्, दिल्ली द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार)

डॉ॰ कन्हैया लाल तिवारी

[सुबोध आयुर्वेद ग्रंथमाला अन्तर्गत-१]

# सुबोध शारीर क्रिया विज्ञान

[केन्द्रिय आयुर्वेद परिषद, दिल्ली
द्वारा
निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार]


**डॉ० कन्हैयालाल तिवारी**

एम० ए०, सा० रत्न,
बी० ए० एम० एस० (आयुर्विज्ञानाचार्य)
प्राचार्य
डी० एम० एम० आयुर्वेद कालेज
यवतमाल



**ईस्टर्न बुक लिंकर्स**

दिल्ली : : (भारत)

सर्वेअपि सुखिनः सन्तु सर्वेसन्तु निरामयाः ।

सुखों की हरियाली की ही तरह
दुखआपदाओं की भीषण तपन को भी
हँसते हँसते झेलकर सहधर्म निभाती हुयी
जो सतत प्रेरणा स्त्रोत ही बनी रही है
उस मेरी सहधर्मिणी
डा० सौ० सुमन के अनुराग को
समर्पित !

# प्राक्कथन

अति प्राचीन एवं वेदोत्पन्न आयुर्वेद के सिद्धांत आज के अति प्रगत चन्द्रमा शुक्र एवं मंगल तक उड़ान भरनेवाली विज्ञान की चकाचौंध रोशनी में भी सत्य ही साबित हो रहे है। उस आदीम जमानें में जब न कोई यंत्र उपलब्ध थे न मानव के ज्ञान को समय समय पर पगपग पर सहाययभूत होने वाले कोई साधन। लेकिन फिर भी उन दिव्य मस्तिष्क मनीषियों ने अपनी द्रष्टा दृष्टि से जो देखा और उसे जो शब्दों में पिरोकर प्रत्यक्ष रूप दिया वह समस्त ज्ञान वे उनके प्रतिपादित समस्त सिद्धांत आज के कम्प्युटर के अति प्रगत जमाने में भी उसी प्रकार अबाधित हैं।

हजारों वर्ष पूर्व जब संसार के अन्य प्रदेशों का मानव आदीम अवस्था में विचरण कर रहा था तब इस देश में प्राणिमात्र के कल्याण के लिये आयुर्वेद प्रयत्नरत था। न सिर्फ मानव मात्र बल्कि हस्त्यादि प्राणि तथा वृक्षों के कल्याण के लिये भी आयुर्वेद के सिद्धांत प्रतिपादित होकर, क्रियाकारी हो चुके थे [हस्त्यायुर्वेद अश्वायुर्वेद वृक्षायुर्वेद]

कायचिकित्सा (Medicine) — बाल चिकित्सा (Pediatrics), ऊर्ध्वांगचिकीत्सा [E.N.T.] — [ शालाक्य] शल्य चिकित्सा (Surgery) दंष्टा चिकीत्सा या विष विज्ञान (Toxicolgy) आदि से युक्त अष्टांग आयुर्वेद अपने सभी अंगों के (Branches) सिद्धांत प्रतिपादन में चरम सीमा पर था। अष्टांगायुर्वेद के विभिन्न विषयों के ज्ञान में उन प्राचीन मनीषियों की ज्ञान की वह उत्तुंग उड़ान आज के विज्ञान के भोक्ता प्रगल मानव के लिये भी केवल आश्चर्य का ही विषय बनी हुयी है।

लेकिन साथ साथ यह भी दिखाई देता है कि विशालकाय इस आयुर्वेद के विभिन्न विषय यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। विषय विवेचन की निश्चित एवं योग्य क्रमबद्धता उसमें दिखाई नहीं देती। कई महत्वपूर्ण बातें केवल संकेतात्मक रूप में निर्दिष्ट की हुयी दिखायी देती हैं। समय के अनुरूप धीरे धीरे इसमें भी विद्वानों ने ध्यान देना आरंभ किया तथा संकेतात्मक उन सूत्रों की व्याख्यायें की जाने लगी विषयवार रचनायें की जाने लगी।

किन्तु फ़िर भी इतने वर्षों बाद भी आयुर्वेद की वे बातें वे सिद्धांत आज भी उतने योग्य रूप में विवेचित नहीं किये जा सके हैं। इसका महत्वपूर्ण कारण है इस देश की प्रगतावस्था समृद्धि की चकाचौंध से चौंधियाये हूण, मंगोल, ग्रीक, फ्रेंच, अँग्रेज एक के बाद एक इस देशपर आक्रमण करने लगे। यहाँ की द्रव्यसंपदा ज्ञानसंपदा लूटलूटकर अपने साथ अपने मुल्क

में ले जाने लगे। सामाजिक स्वास्थ्य खुशहाली शान्ति सुरक्षितता आदि सब इस तरह परकीय आक्रमणों में होम होने लगी। नये विचार नयी ग्रंथरचना विद्वानों के संवादादि को जबरदस्त आघात प्राप्त होते रहे। अनेकानेक महत्वपूर्ण मूल्यवान ग्रंथ लूटपाट में रौंदे गये। शत्रुओं ने आरंभ किये अग्निकांड में भस्मिभूत हो गये तो अनेकानेक ग्रंथरत्नों का विदेशी आक्रामकों द्वारा अपहरण कर लिया गया। आयुर्वेद के जैसे कई ग्रंथ हैं, जिनका विभिन्न संहिताओं में केवल उल्लेख उपलब्ध है किन्तु ग्रंथ तो अनुपलब्ध ही हैं।

युद्ध में कटे हुये हाथ पैरों की जगह नये हाथ पैर दुबारा शस्त्र क्रिया द्वारा कलम किये जाने के उल्लेख यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। मस्तिष्क की काकपद शस्त्र क्रियादि के वर्णन आज भी आश्चर्य चकित कर देने वाले ही है। इस प्रकार समस्त संसार को चकित कर देने वाली आयुर्वेद की शल्य क्रिया परकीय आक्रमण लूटपाटादि विपरित दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों के कारण विलुप्त प्राय हो गयी तथा शास्त्र की प्रगति में भयंकर अवरोध पैदा हो गया।

मुगलों के दरबार में उनके युनानी हकीमों का वर्चस्व स्थापित किया गया तो फिरंगी अपने साथ अपने डाक्टर यहाँ लेकर आये। इस तरह वर्षों तक लगातार आयुर्वेद राजाश्रय से विमुख कर दिया गया। अँग्रेजों ने अपने कार्यकाल में ॲलोपथी को राजाश्रय प्रदान किया तथा उसकी उन्नति के लिये सभी अनुकूलतायें प्रयत्नपूर्वक प्रदान की।

इस तरह विषम स्थितियों के झंझवाती थपेड़ों को अनेकानेक वर्षों तक आयुर्वेद सहता रहा और इन घातक विपरीत स्थितियों में भी अपना अस्तित्व अपने सिद्धांत अबाधित रखने में कामयाब हो सका।

देश गुलामी के बन्धनों को तोड़कर आजाद हुआ। इस मिट्टी से नाता रखने वाले हमारे अपने शासक इसी मिट्टी से नाता रखने वाले इसी मुल्क के अपने मौलिक शास्त्र आयुर्वेद की उन्नति की खातिर अब कोई कसर उठा नहीं रखेंगे यह कामना भी धीरे धीरे नीरा स्वप्न ही साबित होने लगी। लगता था सदियों से अपेक्षित आयुर्वेद अब पुन:ऊँची उड़ान भरेगा।

उन्नति के शिखर पादाक्रान्त करता हुआ प्राणिमात्र के कल्याण के अग्रक्रम से सहभागी किया जायेगा आयुर्वेद को। किन्तु यह भी आयुर्वेद का एवं इस देश का दुर्भाग्य ही कहना होगा कि अपनों के हाथों भी आयुर्वेद उपेक्षणीय ही रखा गया। उन्नति के खातिर आवश्यक राजाश्रय उसे नाममात्र ही प्राप्त हो सका तथा उन्नति के लिये आवयश्यक आबोहवा स्वतंत्रता में भी अपनों के शासनकाल में भी आवश्यकतानुरूप आयुर्वेद को प्राप्त नहीं हो पायी।

स्वातंत्र्योत्तर काल में भी एतद्योशिय चिकीत्सा पद्धति को परिपूर्ण आयुर्वेद शास्त्र से हमारे अपनों का ही शासन सौतेला बर्ताव करने लगा और इससे क्षुब्ध विद्वान अपना आक्रोश प्रकट करने लगे। इससे शासकीय सहायता राजाश्रय रूपी मस्त हाथी कुछ क्रियाशील हुआ। संतोष की बात यह है कि धीरे-धीरे शासन की निद्रा दूर होने लगी सदियों से उपेक्षित आयुर्वेद को उन्नति की खातिर योग्य स्थितियाँ अत्यल्प रूप में ही क्यों न प्रदान की जाने लगी।

आधुनिक आयुर्वेद महाविद्यालयिन शिक्षा का स्तर सुधारने के लिये विषयानुरूप ग्रंथरचना प्राचीन गंथों की क्रमबद्ध सुबोध व्याख्यायें आदि की रचना छात्रों के लिये योग्य प्रात्यक्षिक ज्ञान की व्यवस्था, आयुर्वेद के प्रतिपादित सिद्धांतों की नये यंत्र नया संशोधनादि के प्रकाश में प्रचिति प्राप्त करना आदि कई काम थे जो आयुर्वेद विद्वानों को नये उत्साह से अथक प्रयत्नों से भरसक रूप में करने थे। इस दृष्टि से योजनायें रूपरेखायें बनने लगी नया नया कार्य होने लगा। फिर भी हजारों वर्षों की विपरित स्थितियों के बाद आयुर्वेद की उन्नति के लिये यह तो केवल शुरूआत ही है। अभी तो बहुत कुछ करना है। नये नये संशोधन करने हैं आज के विज्ञान के प्रकाश में आयुर्वेद के सिद्धांतों को परखना है नये नये क्षेत्र प्रदान करने हैं इस देश के इस मौलिक शास्त्र को।

ॲलापथी की तुलना में आयुर्वेद की ग्रंथसंपदा आज भी न के बराबर ही है। विद्यार्थियों के लिये उनकी ज्ञानपिपासा की शान्ति के लिये अनेकानेक ग्रंथरूपी कुंभों की जरूरत है। प्रान्तीय भाषाओं में तो ग्रंथ संपदा अति न्यून है ही किन्तु राष्ट्रभाषा में भी नये नये सुबोध सुलभ ग्रंथों की जरूरत बहुत ज्यादा प्रमाण में हैं।

ऐसी इन स्थितियों में अल्पस्वल्प सहकार के उद्देश्य से ही आयुर्वेद ग्रंथरचना का मानस बनाकर सुगम आयुर्वेद ग्रंथमाला अंतर्गत यह दूसरा ग्रंथ छात्रों के हाथों में देने का यह प्रयत्न कर रहा हूँ।

विषय के अनुसार विवेचन क्रमबद्ध हो, पाठयक्रम के अनुसार उन समस्त बातों का ग्रंथ में समावेश हो सके, उस विषय से संबद्ध प्रावीन संहितायें तथा अन्य ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरा हुआ ज्ञान उद्धरणों के रूप में विषय के स्पष्टिकरण के लिये दिया जा सके, जहाँ जहाँ जरूरी हो वहाँ वहाँ अर्वाचीन नाम तथा विवेचन भी जोड़ा जा सके इन सभी बातों का ग्रंथ लिखते समय प्रयत्न पूर्वकख्याल रखने की कोशिश की गयी है।

ऐसे देखा जाय तो शरीर क्रिया विज्ञान यह छोटी सी या मामूली बात नहीं है। शरीरस्थ विभिन्न संस्थायें **(different systems)** इन संस्थाओं में अतंर्भूत इन्द्रिय, उन इन्द्रियों की रचना, उनकी कार्यपद्धति, उनके शरीरस्थ कार्यों का स्वरूप, शरीरस्थ दोष–धातु– मल, उनके प्रकार, उनके कार्य, उनकी दुष्टि के कारण, दुष्टि के लक्षण तथा उनसे उत्पन्न विभिन्न व्याधि, मन की रचना, मन के प्राकृत अप्राकृत कार्य, मन एवं शरीर का संबंध , मन दुष्ट होने के कारण आदि, अनेकानेक विषय इस शरीरक्रिया विज्ञान शास्त्र के अभ्यास विषय हैं। अकेले त्रिदोष विज्ञान पर ही अनेकानेक ग्रंथ रचे गये हैं। शरीर मन संबंध मन के कार्य आदि पर भी बड़े–बड़े ग्रंथ रचे गये हैं।

शरीरस्थ विभिन्न इन्द्रियों की दैनदिन शरीर व्यापार में संपन्न विभिन्न क्रियाओं को संक्षेप में शरीर क्रिया विज्ञान कहा जा सकता है। इस शास्त्र में शरीर के विभिन्न अंगोपांग उनके उन उन विभिन्न अपनी संस्थाओं में सपन्न किये जाने वाले कार्य, उनकी विकृति के

कारण, उनकी विकृति की स्थिति में उनके विकृत कार्य–आदि अनेकानेक विषयों का क्रमंबद्ध विवेचन इस शास्त्र का विषय कहा जाता है।

ग्रंथ का अनावश्यक रूप से अति विस्तार भी न होने पाये लेकिन साथ ही आवश्यक विवेचन भी कहीं छूटने न पाये इसका भान रखने का ग्रंथ लिखते समय प्रयत्न किया गया है। प्राचीन विषय एवं सिद्धांत का अर्वाचीन, वैद्यक से जगह जगह पर परस्पर संबंध, दाशनि का यत्न किया गया है। विवेचना विषय के भेद उपभेद इ० रेखात्मक या आलेखात्मक पद्धति से स्पष्ट करने का जगह जगह प्रयत्न किया गया है। उद्देश्य यही कि विषय के अभ्यास का विषय का आकलन सहज रूपेण तथा एक दृष्टि में हो सके।

विषय के योग्य स्पष्टिकरणार्थ आकृति (figure) का जगह जगह दिया जाना बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस बात का विस्मरण न होने पर भी समयाभाव के कारण मात्र वह साध्य नहीं हो पाया इसका खेद है।

प्राचीन संहिताओं की ही तरह आधुनिक काल में रचित अन्य आयुर्वेद ग्रंथों के उद्धरण भी आवश्यक लगा वहाँ देने का यत्न किया गया है, जिसका उल्लेख ऋण निर्देशार्थ जगह जगह किया ही गया है।

विषय का विस्तार देखते हुये सब बातों को संक्षेप में स्पष्ट करना अति कठिन कार्य ही है। किन्तु फिर भी परीक्षा के लिये छात्रों को आवश्यक विषय ज्ञान हो सके इसका ध्यान रखा गया है।

यह ग्रंथ अल्पांश में ही क्यों न हो विद्यार्थियों को तथा आयुर्वेद अभ्यासकों को मददगार साबित हो सकेगा ऐसी अपेक्षा ग्रंथ पाठकों के समक्ष सादर करते हुये करता हूँ।

बहुत सावधानी बरतने के बावजूद भी ग्रंथ में त्रुटियाँ रह गयी होगीं ही इसका भान हमें है। किन्तु प्राचीन आयुर्वेद मनीषियों के आपृवचन , विद्वानों के ग्रंथों का जगह जगह लिया हुआ आधार यह सब तो त्रुटिपूर्ण क्यों कर रह सकता है? पाठकों को यदि यह ग्रंथ उपयोगी साबित हुआ तो उसका श्रेय अर्थात् ही उन आयुर्वेद मनीषियों को तथा जिनके ग्रंथों का जगह जगह आधार लिया गया है उन विद्वानों को ही देना होगा, किन्तु ग्रंथ में जो त्रुटियाँ दिखायी देगी उनके लिये सर्वथा अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करना हम अपना कर्तव्य मानते हैं।

सर्वेअपि सुखिनः सन्तु सर्वेसन्तु निरामयाः।

–डा० कन्हैयालाल तिवारी–

# अनुक्रमणिका

# शरीर

'शरीर क्रिया विज्ञान' विषय में शरीरान्तर्गत क्रियाओं का विवेचन अभ्यास विषय कहा जाता है।

## शरीर–

शब्द-'श्रृ-हरण'। प्रतिक्षणं क्षीयमाणम्। 'श्रृ-हिंसने' धातु से शरीर शब्द की रचना हुई है।

शीर्यते अनेन इति शरीरम्।

प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है, जिसमें प्रतिक्षण सतत क्षयत्व की क्रिया होती रहती है वह शरीर। यह शरीर असंख्य देहाणुओं से (cells) वा घटकों से निर्मित हुआ है तथा ये देहाणु प्रतिक्षण क्षीण होते रहते हैं। और इसीलिये शरीराणुओं के प्रतिपल होने वाले क्षयादि की पूर्तता आहारादि से की जाती रहती है।

## काय–

शरीर का महत्वपूर्ण पर्याय।

'चिञ्-चयने' धातु से 'काय' शब्द बना हुआ। काय - चीयते अन्नादिभि:। 'काय' शब्द से 'कायचिकित्सां' शब्द बना हुआ है। शरीर में चय (Anabolism) तथा अपचय (Ketabolism) क्रियायें अव्याहत शुरू रहती हैं।

आहारादि के कारण अपचय की पूर्ति की जाना तथा चय प्रक्रिया का होना- यह होता रहता है। इस प्रकार चयापचय (चय+अपचय=चयापचय Metabolism ) यह शरीर की सजीवता एवं क्रियात्मकता का मूर्तिमान लक्षण ही माना जाता है।

आहार ग्रहण के उपरान्त शरीर में जाठराग्नि के द्वारा शरीर में सात्म्य - होने के योग्य उसे बनाया जाता है। (पचन Digestion ), जिसके द्वारा सेवित अन्न के वे वे घटक अपने अपने समगुणीय शरीर घटकों के अपचय की पूर्ति कर उनका पोषण करते रहते हैं तथा इस तरह शरीर स्थिति कायम रखने के लिए कारणीभूत होते रहते हैं।
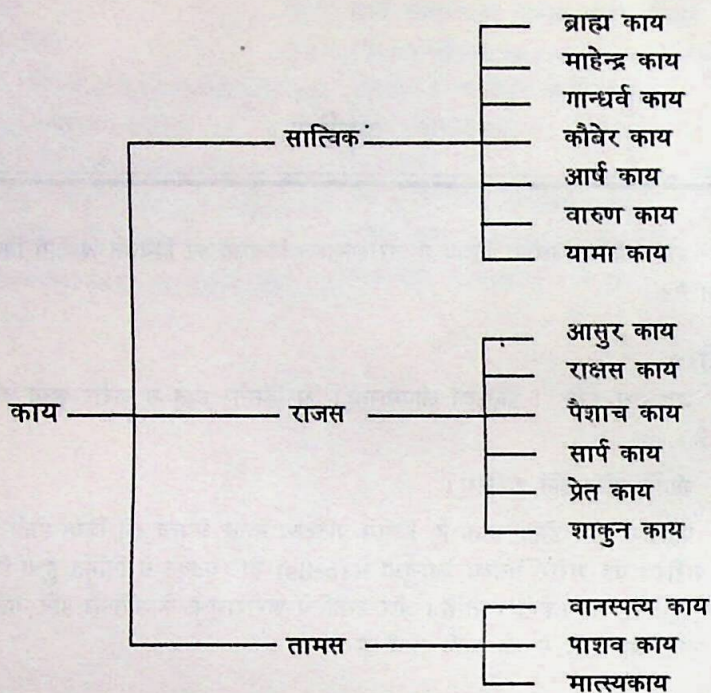
## देह–

शरीर शब्द का यह दूसरा महत्वपूर्ण पयार्य।

दिह्+घञ्। दिह् - वर्धने - दिह् - उपचये सर्जने च।

जिसमें उपचय एवं सर्जन प्रक्रिया होती रहती है। जिसकी वृद्धि होती रहती है वह देह। [ वृद्धि होना-यह सजीवों का महत्वपूर्ण गुणधर्म ]

## क्रियाशरीर–

निसर्ग का एक अद्वितीय चमत्कार।

एक विलक्षण यंत्र अर्थात् प्राणि शरीर। असंख्य देहाणुओं से (Cells) मिलकर बना प्राणी शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है तथा प्रतिक्षण उसके इस क्षय की पूर्ति आहारादि से की जाती रहती है। चयापचय की क्रिया जिसमें सतत चलती रहती है ऐसा यह विलक्षण यंत्र रूपी शरीर अनेक संस्थानों से (Systems) युक्त है। हर एक संस्थान के कार्य सम्पन्न करने वाले अपने अपने इन्द्रिय हैं। इन विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा शरीरस्थ विभिन्न संस्थाओं के निरंतर रूप से चलने वाले क्रियाकलाप

(Different functions of the different systems in the body) देह को जीवित रखते हैं तथा कार्यक्षम एवं सतत ऊर्जा युक्त रखते रहते हैं।

'चिकीत्स्य पुरुष' का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान चिकीत्सक को होना उसकी सफल चिकित्सा के लिये अनिवार्य माना जाता है। इसके लिये छात्रों को शरीर रचना अथवा शारीर (Anatomy) तथा शरीर क्रियाविज्ञान का (Physiology) समुचित ज्ञान होना प्राथमिकत: अनिवार्य स्वरूपीय कहा गया है। इसी के परिणामस्वरूप शरीरस्थ विभिन्न अस्थियाँ-स्नायु-रक्त नलिकायें-मर्म-शरीरस्थ ग्रंथियाँ, हृदय-फुपफुस-मस्तिष्कादि इन्द्रिय विभिन्न स्रोतस-मन-आत्मा इ० की रचना उनका स्थान उनके कर्म आदि का सम्यक् ज्ञान हो पाता है।

शरीर में यांत्रिक स्वरूप में विभिन्न क्रियायें निरन्तर चलती रहती हैं। फुफ्फुस-हृदय-वृक्कादि का कार्य किंचित भी रूकावट के बिना सम्पन्न होता रहता है। इस

तरह ये विभिन्न क्रियायें शरीर में अबाध रूप से निरन्तर चलती रहना ही **स्वास्थ्य वा आरोग्य** कहा जाता है। अर्थात् इन विभिन्न शारीर क्रियाओं में से किसी क्रिया में गड़बड़ी पैदा होना ही **अस्वास्थ्य-अनारोग्य या रोग** कहा जाता है।

अत: यह ज़ानना इस दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हो जाता है कि शरीर में संपन्न होती रहने वाली ये विभिन्न क्रियायें कौन-कौन सी होती हैं ? तथा ये क्रियायें कौन-कौन से इन्द्रियों के द्वारा किस-किस तरह संपन्न की जाती हैं ? शरीरस्थ संपादित इन क्रियाओं में से वातादि किस-किस दोष के द्वारा कौन-कौन सी क्रियायें संपादित की जाती है ?

जिस तरह से रथ के सुयोग्य चालनार्थ सारथि अनिवार्य होता है, जो रथ को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचने देते हुये उसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देता है। शरीर को भी रथ माना गया है। इन्द्रियों को (नेत्र-त्वक्-कर्णादि) इस रथ के अश्व कल्पित किया गया है तथा मन को इस शरीर रूपी रथ का सारथी कल्पित किया गया है, जो बिना हानि इस शरीर रूपी रथ को मोक्ष-उन्नति इ० गन्तव्य पर पहुँचाने वाला होता है।

यह मन ही शरीर की समस्त क्रियाओं का नियन्ता-प्रणेता कहा गया है। अत: मन ही अच्छी - बुरी स्थिति का शरीर पर भी निश्चित रूप से असर पड़ता है। क्योंकि शरीर और मन का परस्पर आधेयाधार संबंध होता है। अत: आयुर्वेद के अध्येता को मन एवं शरीर के संबन्ध तथा उनके क्रियाकलापों का सम्यक् ज्ञान होना अनिवार्य ही हो जाता है।

आत्मा (पुरुष—Soul) देह को जीवित-सचेतन-क्रियाक्षम रखने वाली दिव्य शक्ति मानी गयी है। यह आत्मा जब तक शरीर में विराजमान होता है तभी तक वह देह 'चिकीत्स्य पुरुष' कहलाया जाता है। इस आत्मा के शरीर से निकल जाने पर शरीर में बाकी सभी घटक उसी तरह मौजूद होते हुए भी वह शरीर केवल आत्मा के बिना अब अकार्यक्षम-अचेतन-बेकार-मिट्टी जैसा (मृत) हो जाता है।

इस दृष्टि से आयुर्वेद ने शरीर के साथ ही साथ आत्मा का भी गंभीरता से विचार किया हुआ दिखायी देता है।

इस प्रकार शरीर क्रिया विज्ञान के अध्ययन का मतलब है आत्मा-मन-इन्द्रियाँ-विभिन्न शारीर संस्थायें ( Different Systems in living body ), स्रोतस-साम-निरामत्व-आवृतत्व-अग्नि-त्रिदोष-धातु-मल इ० विभिन्न महत्वपूर्ण अङ्गों का अध्ययन।

इस तरह क्रिया शारीर विषय का सुयोग्य ज्ञान उत्तम चिकीत्सक बनने के लिए अनिवार्य ही है। व्यावहारिक ज्ञानहीन विद्यार्थी केवल पाठान्तर या तोता रटन्त की सहायता से परीक्षा की वैतरणी तो किसी तरह पार कर जाता है किन्तु चिकीत्सा शास्त्र की प्रत्यक्ष भूमि पर

शारीर क्रिया अन्तर्भूत विषय
आत्मा
मन
इन्द्रियाँ
दोष
प्रकृतिविज्ञान
स्रोतस
अग्नि
सामनिरामत्व
आवरण विज्ञान
ग्रंथिविज्ञान
वात
प्राण
व्यान
उदान
समान
अपान
पित्त
साधक
भ्राजक
पाचक
आलोचक
रंजक
कफ
अवलंबक
तर्पक
श्लेषक
बोधक
क्लेदक
जाठराग्नि
धात्वग्नि
मलाग्नि
रस ग्रंथि (Lymph glands)
अन्त:स्रावी ग्रंथि (Endocrine glands)
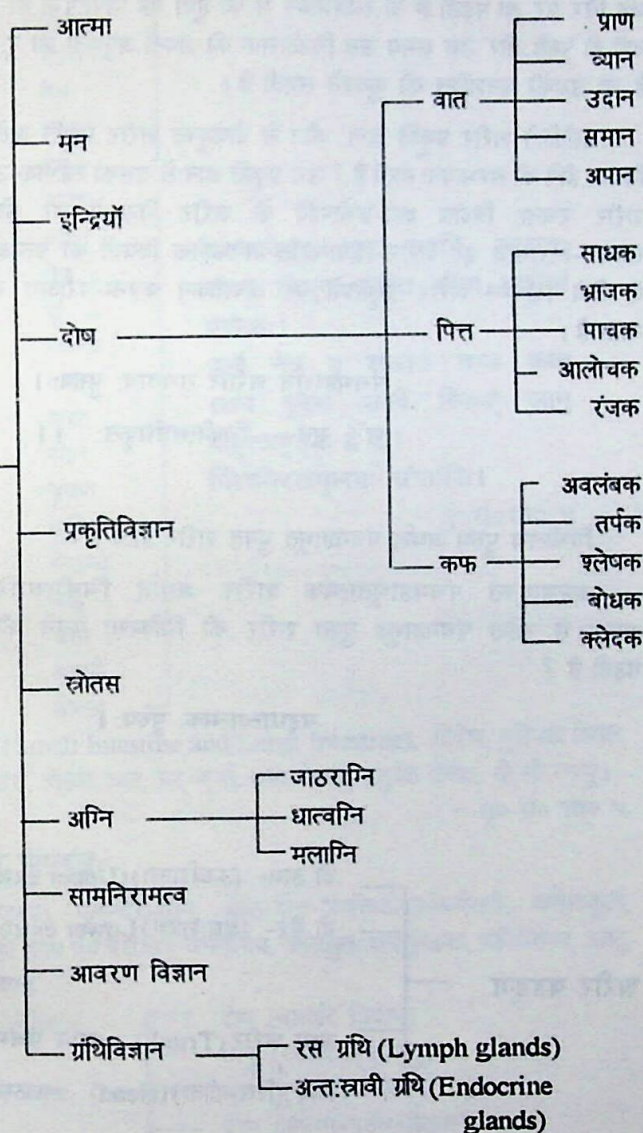
रोगी की चिकीत्सा का-रुग्णों को स्वास्थ्य प्रदान करने के प्रत्यक्ष कार्य ही कठिन जिम्मेदारी जब सिर पर आ पड़ती है तो छात्रजीवन में की हुयी वह पोपटपंची ही सिर्फ उसे मददगार नहीं हो पाती और उस समय उस चिकीत्सक को अपनी अपूर्णता की दु:खद जानकारी होती है जो उसकी मनशक्ति को कुतरने लगती है।

इसीलिये शरीर प्रकृति ज्ञान, कौन से दोषयुक्त शरीर प्रकृति वाले को कौन कौन से विकार होने की सम्भावना होती है ? उस प्रकृति ज्ञान से उसका स्वभाव-उसका बर्ताव-उसकी शरीर रचना, त्रिदोष क्षय-प्रकोपादि के शरीर क्रियाओं पर होने वाले परिणाम, सामत्व-निरामत्व इ० शरीर-क्रियान्तर्गत अनेकानेक विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिये विभिन्न शरीर प्रकृतियों का अवलोकन करना-परीक्षण करना अनिवार्य हो जाता है।

पंचमहाभूत शरीरि समवाय: पुरुष:।
स एव चिकीत्साधिकृत: ।।

-सु०सं०शा० १

चिकीत्स्य पुरुष अर्थात् पंचमहाभूत युक्त शरीर होता है।

आत्मायुक्त पंचमहाभूतात्मक शरीर अर्थात् चिकीत्साधिकृत पुरुष है। आत्मा से रहित पंचमहाभूत युक्त शरीर की चिकित्सा करने की जरूरत ही कहाँ पड़ती है ?

षड्धात्वात्मक: पुरुष:।

-चरक
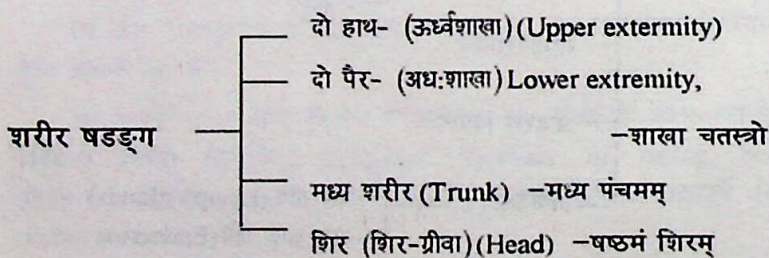
-सु०सं०शा० ५

**शरीर प्रत्यङ्ग–**

- मस्तक
- उदर
- पृष्ट
- नाभि
- नेत्र
- ललाट
- हनु
- मन्या
- बस्ति
- नेत्र
- भ्रू
- स्कन्ध
- कपोल
- कक्षा
- स्तन
- वृषण
- कुक्षि
- नितम्ब
- बाहु
- जंघा
- अंगुली
- स्रोतस

**मस्तकोदर, पृष्ट, नाभि, ललाट, नासा, चिवुक, बस्ति, ग्रीवा, इत्येतां एकेकः।**
**कर्ण नेत्र भ्रू शंखांस गण्ड कक्षा स्तन वृषण पार्श्वे स्फिक् जानु बाहुरुप्रभृतयः द्वे द्वे।**
**विंशतिरङ्गुलयः स्रोतांसि।**

सु०सं०शा० ५

तद्वतही दो आन्त्र (Small Intestine and Large Intestine), त्रिदोष, पुरीषादि त्रिमल, चार रज्जु, षोडश कण्डरा, षोडश जाल, षट् कूर्चा, सप्त सेवनी, चतुर्दश संघात, नौ सौ स्नायु।

– सु० सं० शा० ५

## आचार्य चरकानुसार प्रत्यङ्ग–

पिण्डलियाँ (पिण्डिका), कुकुन्दर-स्तन, ओष्ठ-दन्त-उपजिव्हीका-कर्णपाली, कर्णशष्कुली, नेत्रगोलक, नेत्रमणि, तलुये (हाथ एवं पैरों के), जननेन्द्रिय, बस्तिमुख, गलशुण्डिका, गोजिव्हिका, अवटु, पलकें, बहिर्मुख नौ स्रोतस।

शरीरस्थ विशेष भाव
- दोष (वातादि त्रिदोष)
- धातु (रसादि सप्तधातु)
- मल (पुरीषादि त्रिमल)
- प्राण (आत्मा-पुरुष-चेतना)
- उपधातु (स्तन्य-रजादि)

शरीरस्थ
आशय
(अवस्थान प्रदेश)
वाताशय–स्थान
उरोदर
कटिविवर
अवयव
पक्वाशय
प्राणवह स्रोतस
फुफ्फुस
पित्ताशय–स्थान–उदर
अवयव
अग्न्याशय
यकृत
आमाशय
तिल
श्लेष्माशय–स्थान
उर
सन्धि
अवयव
फुफ्फुस
सन्धि
रक्ताशय–स्थान–कोष्ठ।
अवयव
हृदय
यकृत
प्लीहा
अमाशय–स्थान–दोनों
स्तनमध्य से नाभिपर्यन्त
अवयव–आमाशय
पक्वाशय–स्थान–कोष्ठ
अवयव
बृहदन्त्र
मलाशय
मूत्राशय–स्थान–कटिविवर
अवयव–बस्ति
स्त्रियों में ज्यादा
के दो आशय
गर्भाशय–स्थान कटिविवर
गर्भावस्था में उदर प्रदेश
अवयव–गर्भाशय
स्तन्याशय–स्थान–उर
अवयव–दो स्तन
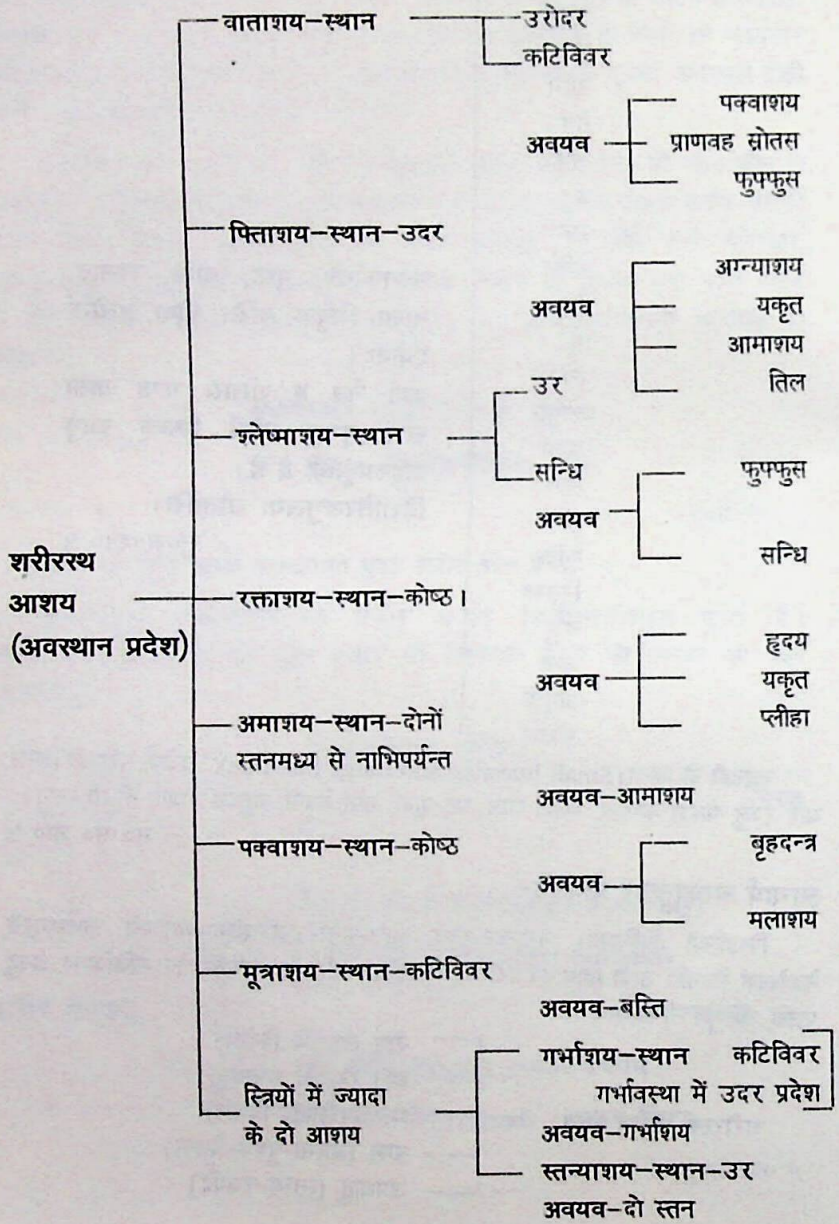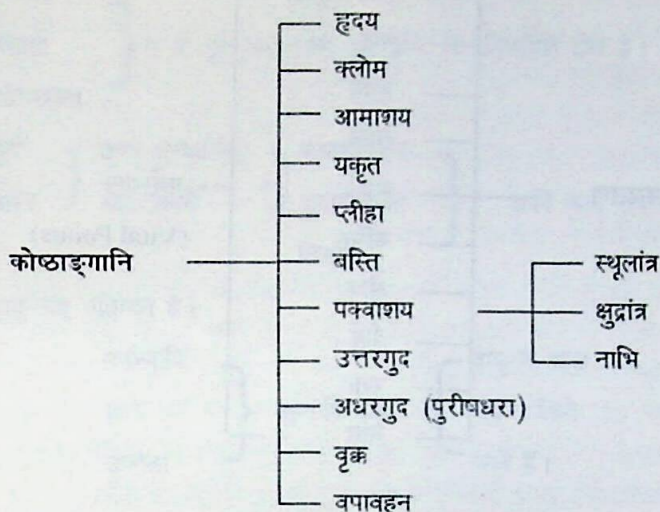
-च०सं०शा० ७

## अन्त:कोष्ठ–

शरीरस्थ महास्रोतस ही अन्त:कोष्ठ कहलाता है।

इसमें अमाशय } का
पक्वाशय } अन्तर्भाव होता है।

**अन्त:कोष्ठो महास्रोत आम पक्वाशयश्रय:।**

## दश प्राणायतन–

इनके नाम से ही शरीर में इनकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है। अति नाजुक–अति महत्वपूर्ण तथा शरीरस्थ प्राण का आधार होने के कारण इनका खूब खयाल रखना होता है।

इन स्थानों में होने वाले विकार अति कष्टकर - कृच्छ्र साध्य एवं प्राण घातक भी साबित हो जाते हैं।

❖
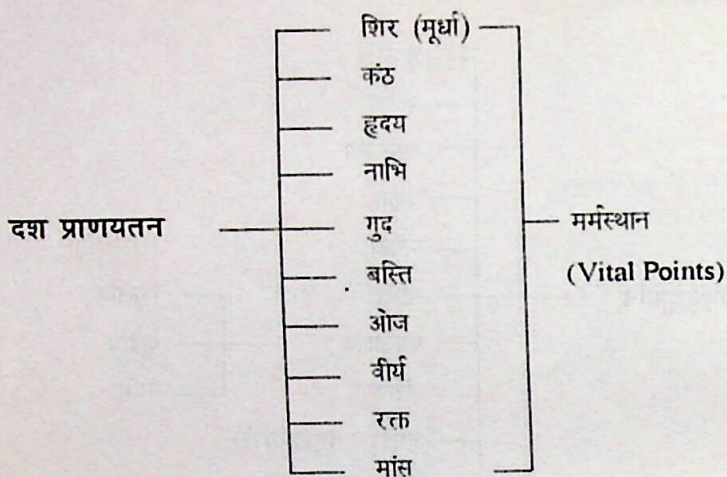
# त्रिदोष

**दोष धातु मला मूलं हि शरीरम्।**

-अ०हृ०सू० १

इनमें त्रिदोषों का स्थान सर्वोपरि है। क्योंकि अपने कारणों से प्रदुष्ट हुये दोष धातु-उपधातु-मलादि सबको प्रदुष्ट कर देते हैं।

समस्त सृष्टि का निर्माण पंच महाभूतों से ही हुआ है, अर्थात् सृष्टि पंचमहाभूतों से घटित है। प्राणि शरीर भी इसी सृष्टि का एक घटक मात्र होने के कारण वह भी अर्थात् ही पंचमहाभूतों से ही घटित होता है।

उष्णता
शीतता
गतिमानता
} ये ही गुण प्रधानतया इस सृष्टि में परिलक्षित होते हैं।

सूर्य
अग्नि
} उष्ण गुणधर्मिय अत: उनसे } रूपपरिवर्तन गुणपरिवर्तन निर्माण } आदि कार्य संपन्न होते हैं।

वायु–यह गतिमान है।

पर्जन्यादि
शीत
उष्णता
} वहनादि कार्य { वायु के द्वारा संपन्न किये जाते हैं।

इस सृष्टि में सिर्फ यदि उष्णता ही होती तो प्राणियों के रहने योग्य (जीवनयापन योग्य) यह सृष्टि नहीं रह पाती।

उष्णता का नियामक शीतता यह गुणधर्म है। पानी (जल) का शीतता गुणधर्म है।

शीतता यह सोम (चन्द्रमा) गुण है। इन पंचमहामहाभूतों का प्रतिनिधित्व शरीर में वातादि त्रिदोष करते हैं।

| महाभूत | शरीरस्थ त्रिदोष |
|---|---|
| १. आकाश, वायु | वायु |
| २. वायु, अग्नि | पित्त |
| ३. अप्, पृथिवी | श्लेष्मा (कफ) |

जहाँ-जहाँ रिक्त स्थान या अवकाश होता है वहाँ वहाँ वायु की स्थिति होती है।

**यत्र यत्र आकाश: तत्र तत्र वायु:।**

आकाश के बिना सूक्ष्म स्वरूपीय वायु का अस्तित्व ही संभव नहीं होता। इस सृष्टि में उष्णता एवं शीतता का वहन एक स्थान से दूसरे स्थान तक वायु के द्वारा ही किया जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक सैकड़ों-हजारों मील तक वायु के द्वारा ही वर्षा के मेघों का वहन किया जाता है। बड़े-बड़े महलनुमा जहाजों को उलट देने वाली तुफानी हवा समय-समय पर इस सृष्टि में अनुभूत की जाती है। सृष्टि में वायु की अकल्पनीय शक्ति का अनुमान इससे आसानी से किया जा सकता है।

प्राणि शरीर में सेवित आहार का अन्नमार्ग में आगे आगे ढकेला जाना, सारकिट्ट का पृथक् किया जाना, किट्ट या मल भाग को शरीर के बाहर उत्सर्जित कर दिया जाना, गर्भाशय में गर्भ का चलन-वलन, गर्भजन्य प्रवृत्ति, शरीरस्थ रक्ताभिसरण, दुःख-सुखादि, संवेदनाओं का वहन आदि शरीरान्तर्गत होने वाली अनेकानेक क्रियाओं का कारक शरीर में यह वातहि होता है। तद्वतही नेत्रों का खोला जाना, बंद होना, चलना, दौड़ना, बैठना, उठना, लिखना, खाना आदि अनेकानेक दृश्य क्रियायें भी इस वायु के ही आंधीन होती हैं।

**प्राया: सर्वा: क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धा: शरीरिणाम्।**

**-अ०हृ०सू० १**

अस्थि–मांसादि शरीर धातुओं की निर्मिति वृद्धि आदि की क्रिया

शरीर को विशिष्ट आकार

बल<br>आघात क्षमता<br>शक्ति } इ. प्रदान करना } **यह पृथ्वी तत्त्व का कार्य होता है।**

पृथ्वी<br>अप् } के प्रतिनिधि स्वरूप } श्लेष्मा दोष के द्वारा } शरीर में ये कार्य संपादित किये जाते है।

अन्न पचन<br>शरीरस्थ ऊर्जा-उष्णता-<br>धातु–उपधातु निर्मिति (रूप पारंर्वतन–गुण परिवर्तनादि)<br>तेज, उत्साह } **इ० कार्य अग्नि के आधीन होते हैं।**

अग्नि तत्वरूप पित्तदोष } शरीर में { इन कार्यों का सम्पादन करता रहता है।

पंचभूतात्मक शरीर में सतत क्षीयमाणता की क्रिया होती रहती है तथा शरीर में होने वाले इस क्षय की पूर्ति करने के लिये उस-उस गुणयुक्त पदार्थों की (आहार- विहारादि की) प्राणियों को इच्छा होती है। जिस महाभूत का शरीर में आधिक्य हो जाता है उस भूतयुक्त गुणों के लिये (आहार-विहारादि के लिये) प्राणियों में अनिच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह सामान्य प्रकृति नियम है।

इस प्रकार वृद्धि एवं क्षय का परस्पर सन्तुलन शरीर में रखा जाता रहता है।

शरीर को जो दूषित करते हैं वे दोष कहलाते हैं।

दूषयन्तीसि. दोषाः।

ये दोष समस्त शरीर पर परिणाम करने वाले होते हैं।

वात यह स्वयं गतिमानता गुण से युक्त होता है। शरीरस्थ अन्य दोष श्लेष्मां एवं पित्त वायु की मदद के बिना शरीर में संचार-करने में असमर्थ ही होते हैं।

पुंबीज(sperm) -स्त्रीबीज(ovum) संयोग से (शुक्रार्तव संयोग) गर्भ का प्रथम देह घटक अणु (cell) निर्मित होता है। इस देहाणु के घटक त्रिदोष ही होते हैं।

**शुक्रार्तव-संयोग काल में माता-पिता का जो दोष बलवान होता है उसी दोष से युक्त प्रकृति उस गर्भ की बन जाती है।**

**शरीरस्थ पित्त - कफ सृष्टिस्थ सूर्य-चन्द्ररूपः -**

सूर्य<br>चन्द्रमा<br>वायु } अखिल ब्रह्माण्ड को धारण कर रखने वाले } ब्रह्माण्ड के संचालक

१. वनस्पतियों का तथा प्राणियों का शरीराकार

शरीरपुष्टि<br>आर्द्रता<br>बल उत्पत्ति } यह सोम (चन्द्रमा) का कार्य

**(विसर्ग कार्य)**

२. वनस्पति एवं प्राणिशरीरस्थ<br>सौम्यांश शोषण का<br>पाक क्रिया } यह सूर्य कार्य

**(आदान कार्य)**

| | |
|---|---|
| ३ सूर्य संयोग से उष्ण बनकर आदान कार्य में सहयोग तथा चन्द्र संयोग से शीत बनकर विसर्ग कार्य में सहयोग, स्वगति से मेघादि का वहन कर वर्षा के लिये कारणीभूत होना। | योगवाही वायु के कार्य |

विसर्गादान विक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा
धारयन्ति जगद्येहं कफपित्तनिलास्तथा।

-सु०सं०सू० २७

शीतांशु क्लेदयत्युर्वीः विवस्वाञ्शोषयत्यपि
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयतिप्रजाः।

-सु०सं०सू० ६

योग वहा परं वायुः संयोगादुभयार्थ कृत
दाहकृत् तैजसा युक्तः शीतकृत सोमसंश्रयात्।

-च०सं०चि० ३

तत्ररात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं श्लेष्मा सौम्य मिति।

-सु०सं०सू० ४२

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| शरीरस्थ | वात<br>पित्त<br>कफ | ये सृष्टिस्थ | वायु<br>सूर्य<br>चन्द्रमा | के<br>प्रतिरूप<br>हैं। |

प्राणि–शरीर में भी ये शक्तियाँ– बल { बलादान, विसर्ग, गति }

इ० कर्म संपादित करती रहती है।

| | |
|---|---|
| सूर्य में से तीन प्रकार की किरणें निकलती हैं | १. सिर्फ प्रकाश प्रदायक<br>२. उष्मा प्रदायक (Infra Red rays)<br>३ रासायनिक परिर्वतन कारक (ultra violet rays) |

सूरज की समस्त किरणें चन्द्रमा पर पड़ती हैं। किन्तु उष्माजनक किरणें वहाँ चन्द्रमा पर ही परिशोषित हो जाती हैं। तथा वहाँ से वे परावर्तित नहीं होती। इसी वजह से पृथ्वी

पर के स्नेहांश का परिशोषण नहीं हो पाता। चन्द्रमा पर पड़ी हुयी सूरज की प्रकाश दायक किरणों का थोड़ा परिर्वतन हो जाता है। लेकिन चन्द्रमा पर पड़ने वाली सूर्य की परिवर्तनकारी किरणें, पृथ्वी पर परावर्तित हो जाती हैं, जिससे सृष्टि में परिर्वतन-बलवर्धनादि कार्य संपन्न हो पाते हैं।

इस वजह से सूर्य एवं चन्द्रमा के कार्यों में फर्क दिखायी देता है।

अपनी शीतल<br>सुखद<br>सौम्य } किरणों के द्वारा चन्द्रमा { वनस्पति एवं प्राणियों में } आप्यांशवृद्धि बलोत्त्पत्ति } करता हैं।

वर्ष के अर्ध भाग में अर्थात् दक्षिणायन में

अर्थात् वर्षा<br>शरद<br>हेमन्त } ऋतुकाल में

यह चन्द्रमा का कार्य विशेष रूप से सम्पादित होता है।

चन्द्रमा के बल के कारण दक्षिणायन में अम्ल<br>मधुर<br>लवण } रस बलवान हो जाते हैं।

**तयो: (अयनयो:) दक्षिणं वर्षा-शरद-हेमन्त:। तेषु भगवानाप्यायते सोम: अम्ल-लवण मधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं सर्वप्राणिनां बलमभि वर्धते।**

**-सु०सं०सू० ६**

**विसर्गे पुनर्वायवो नातिरुक्षा: प्रवान्ति सोमश्चाव्याहत बलं बल: शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ् जगदाप्ययति शश्वत्।**

**अतो विसर्ग: सौम्य:।।**

**-च०सं०सू० ६**

**विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्ग:।**

**-चक्रपाणि**

दक्षिणायन में बलवान बने हुये मधुर<br>अम्ल<br>लवण } रस } शरीर में बल की उत्पत्ति एवं वृद्धि } कर देते हैं।

इन रसों का जनक एवं पोषक सोम (चन्द्रमा) होता है। इस तरह शरीरस्थ श्लेष्मा का मूल कारण भी सोमहि साबित होता है।

आर्द्रता एवं स्निग्धता के कारण शरीर में स्नेहन हाता है। शरीर में दृढ़ता आ जाती है-सन्धिबन्धन (ligaments) स्निग्ध बनकर उनमें दृढ़ता आ जाती है। देह गुरुता (पुष्टि), बलवृद्धि, तर्पण, व्रणरोपण, वीर्यपुष्टि, क्षमा, उत्साह, बल, मन की स्थिरता (धृति), विवेक (योग्या योग्यता का विचार), ज्ञान-

आदि सब प्राकृत कफ दोष द्वारा ही संभव हो सकते हैं और इसीलिये शरीरस्थ प्राकृत श्लेष्मा को ओज वा बल यह संज्ञा भी प्रदान की गयी है।

| | | |
|---|---|---|
| इसी कफ या श्लेष्मा के वैषम्य से (विकृति के कारण) } | कृशता<br>आलस्य<br>शिथिलता<br>नपुंसकता<br>अज्ञान<br>अविवेक | { आदि अशुभ कर्म उत्पन्न हो जाते हैं। |

इन्हें ही उदककर्म कहा जाता है।

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गत: कुपिताकुपित: शुभाशुभानि करोति। तद्यथा दार्ढ्यं शैथिल्य मुपचयं कार्श्यमुत्साह-मालस्यं वृषतां-क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवादिनि चापराणि द्वंद्वाणीति।

-च०सं०सू० १२

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्। क्षमाधृतिरलोभश्च कफकर्मा विकार जम्। -

च०सं०सू० १८

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते<br>
स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते।

-च०सं०सू० १७

स्नेहमङ्गेषु सन्धिनां स्थैर्यबलमुदीर्णताम्<br>
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्याः सिराश्चरन्।

-सु०सं०शा० ७

संधि संश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण बल स्थैर्यकृत<br>
श्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदककर्मणानु ग्रहं करोति।

-सु०सं०सू० १५

बहिश्चर एवं देहश्चर वायु एक ही है–

सृष्टिस्थ वायु प्राकृत स्थिति में – अग्निप्रज्वलन, पृथ्वी धारण, मेघ सर्जन (मेघों की निर्मिति), सूर्य चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि गति की निरन्तरता

इ० अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्यों से सृष्टि का धारणकर्म करता है।

किन्तु वही वायु कुपित हो जाने पर – सागर में उद्वेलन, वृक्षों का उन्मूलन, वातावरण की धूलिमयता

इ० अनेकानेक उत्पातों का कारक बन जाता है।

जो वायु सूर्य एवं चन्द्रमा के प्रभाववहन से भूतों को क्षीण वा आप्यायित करता है वही वायु शरीरस्थ वायु या वातदोष का मूल है। यह शरीरस्थ वात दोष भी प्राकृत स्थिति में देह का धारण वा उपकरण करता रहता है तो–कुपितावस्था में अनेकानेक अशुभों का कारक बन जाता है।

–च०सं०सू० १२/८

शरीरबाह्य सृष्टिस्थ वायु सूर्य एवं चन्द्रमा का प्रभाव वहन (उष्णता एवं शीतता का वहन) कर सृष्टि में होने वाले अनेकानेक परिर्वतनों का कारक बनता है।

इस सृष्टिस्थ बाह्य वायु का ही अंश शरीरस्थ वात दोष भी देह के अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्यों का कर्ता-संचालक बनता है।

देह निर्माण<br>
देह संचालन<br>
देह पालन<br>
देह विनाश (मृत्यु)

– इन समस्त्त क्रियाओं का कारक देहस्थ वायु वा वात दोष ही होता है।

**त्रि स्थूण–**

आयुर्वेद ने शरीरस्थ त्रिदोषों को 'त्रिस्थूण' यह संज्ञा प्रदान की है।

देहोत्पत्ति के हेतु ये त्रिदोष ही हैं; जिस तरह स्थूण वा स्तंभ(Piller) इमारत को धारण करते हैं उसी तरह प्राकृत वा अविकृत स्थिति में शरीरस्थ त्रिदोष देह धारण का कार्य करते हैं।

**वात पित्त श्लेष्माण एव देह संभव हेतवः तैरव्यापनैरधोमध्योर्ध्व सन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते आगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिस्ततश्च त्रिस्थूणमाहुरैके।**

**-सु०सं०सू० २१**

**न र्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतान्**

**शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते।**

**-सु०सं०सू० २१**

अविकृत स्थिति में ये त्रिदोष देह धारण का कार्य करते हैं किन्तु विकृत या विषम अवस्था में ये ही त्रिदोष शरीर में नाना विकार उत्पन्न कर दुःख पूर्ण स्थिति को उत्पन्न कर देते हैं।

**त एव व्यापन्नाः प्रलयहेतवः तदेभिरेव शोणित चतुर्थैः**

**संभवस्थिति प्रलयेष्वविरहितं शरीरं भवति।**

**-सु०सं०सू० २१**

**सर्व शरीरचरास्तु वातपित्तश्लेषष्माणः सर्वास्मिन् शरीरे कुपिता कुपिता शुभाशुभानि कुर्वन्ति प्रकृतिभूताः शुभान्युपचय बल वर्ण प्रसादीनि अशुभानि पुनर्विकृति मापन्ना विकारसंज्ञकानि।**

**-च०सं०सू० २०**

**दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्त श्लेष्मणः।**
**ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति**
**विकृति मापन्नास्तु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति।**

**-च०सं०वि० १**

गर्भशरीरोंत्पत्ति शुक्र-शोणित संयोग से संपादित होते हुये भी वात-पित्त-श्लेष्मा के सह कार्य के बिना गर्भोत्पत्ति कदापि संभव नहीं हो पाती। अतः ही इन्हें देह के **त्रिस्तंभ वा त्रिस्थूण** कहा गया है।

## त्रय उपस्तंभ–

| | |
|---|---|
| आहार<br>निद्रा<br>ब्रह्मचर्य | त्रिदोष रूपी त्रिस्तंभ के सहायक तीन उपस्तंभ |

**त्रय उपस्तंभा इति आहारः स्वप्नों ब्रह्मचर्यमिति।**

–च०सं०सू० ११

त्रिदोष ये देह रूपी इमारत के धारक प्रमुख तीन स्तंभ हैं, जो शरीर की उत्पत्ति-स्थिति-पुष्टि इ० के लिये आधार भूत होते हैं।

आहार-निन्द्रा-ब्रह्मचर्य को उपस्तंभ कहकर शरीर धारण एवं पुष्टि इ. कार्यों में इनका महत्व स्पष्ट कर दिया गया है। इन तीनों में भी प्राकृतता-नियमबद्धता- अविकृति होना शरीर की स्थिति एवं सुचारू रूप से संचालन के लिये अनिवार्य होता है।

इन उपस्तंभों में उत्पन्न हुयी विकृति प्रधान उन दोष रूपी त्रिस्तंभों को भी विकृत कर देती है। जिससे देह स्थिति तथा शरीर का प्राकृत संचालन विकृतियुक्त होकर दुःखद स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इमारत में मुख्य स्तंभों पर का बोझ बाँटने के लिये उपस्तंभों की भी रचना की जाती है। इन उपस्तंभों में कमजोरी दिखाई देते ही अविलंब दूर कर दी जाती है, जिससे मकान की स्थिति अबाधित रह सके। शरीरस्थ इन आहारादि उपस्तंभों को अबाधित रखना, उनमें विकृति होते ही अविलंब रूप से उसे दूर कर देना जरूरी होता है प्रधान स्तंभों की योग्य स्थिति के लिये। इससे प्रधान स्तंभ अर्थात् वातादि दोष प्राकृत या अविकृत रहकर देह स्थिति तथा देह संचालन प्राकृत रह पाता है।

## शरीर में दोषों का स्थान–

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | वायु | हृत् | नाभि प्रदेश के | अधोभाग में | शरीर में |
| २. | पित्त | '' | '' '' | मध्य भाग में | स्थित |
| ३. | श्लेष्मा | '' | '' '' | ऊर्ध्व भाग में | होते हैं। |

## दोषों के शरीर में प्रधान स्थान–

| | |
|---|---|
| वायु | –बस्ति प्रदेश में स्थित |
| प्ति | –हृत प्रदेश में स्थित |
| श्लेष्मा | –मूर्धा (शिर प्रदेश) में स्थित |

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्व संश्रयाः।

–अ०हृ०सू० १

वात पित्त कफानृणां बस्तिहृन्मूर्ध संश्रयात्।

–च०सं०चि० २९

वात पित्त कफानृणां बस्तिहृन्मूर्ध संश्रयात्।
तस्मात्तु स्थान सामिप्यात् हर्तव्या वमनादिभिः।।

--चरक

त्रि दोषों के प्रधान स्थान विदित होना चिकीत्सक के लिये जरूरी है। चिकीत्सा को स्थायी एवं अपुनर्भव बनाने के लिये शोधन चिकित्सा को अपनाना अनिवार्य हो जाता है और शोधन अति समीप के मार्ग से कराना श्रेयस्कर होता है।

**दोषों के आश्रय स्थान–**

१. वायु का आश्रय स्थान अस्थि

२. पित्त '' '' '' स्वेद- रक्त

३. श्लेष्मा '' '' '' रस-मांस-मेद-मज्जा-शुक्र-मूत्र एवं पुरीष।

तत्रास्थिनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः।

-अ०हृ०सू० ११

शेषेषु रस-मांस-मेद-मज्ज-शुक्र-मूत्र-पुरीष प्रभृतिषु।

-अरुणदत्त

शरीर में इन दोषों की प्राकृतावस्था / अविषम स्थिति / वा साम्यावस्थाही } स्वास्थ्य आरोग्य अथवा सुस्थिति कहलायी जाती है।

१. दोष विपरीत गुणधर्मों के आहार-विहार–इ० से दोष का क्षय

२. दोष समान गुण धर्मों के आहार-विहार–इ० से दोष की वृद्धि शरीर में होती रहती है।

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

-अ०हृ०सू० १

**त्रिदोष ये द्रव्य हैं–**

कुछ विद्वानों के अनुसार शरीरस्थ त्रिदोष शरीर की प्राणशक्ति हैं। शरीर की सजीवता एवं क्रिया कारकतत्व इन शरीरस्थ दोषों की प्राकृत वा अविकृत स्थिति पर ही निर्भर रहता है।

कुछ विद्वान् त्रिदोषों को शक्तिस्वरूप मानते हैं। शक्ति यह संपन्न हुये कार्य से प्रतीत होती है। अर्थात् शक्ति का स्वरूप दृश्य(Visible) नहीं होता। शरीरस्थ त्रिदोषों की अनुभूति या प्रतीति भी उनके द्वारा संपन्न कार्यों से ही होती है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि शरीर में त्रिदोष, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों रूपों में स्थित होते हैं।

आयुर्वेद प्रतिपादित त्रिदोष सिद्धान्त यह पूर्णत: वैज्ञानिक सिद्धान्त है। सन् १९३५ में काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में त्रिदोष चर्चा परिषद् का आयोजन किया गया था और उसमें त्रिदोष पर परिपूर्ण चर्चा संपन्न हुई थी।

त्रिदोषों को केवल गुण वा शक्ति के नाम से संबोधित किया जाना उचित नहीं होगा। क्योंकि गुण वा शक्ति द्रव्य के आधीन होती है। गुण वा शक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं है। लेकिन त्रिदोष ये द्रव्य हैं। शरीर में उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। विपरीत आहार विहारादि से वे प्रदुष्ट होकर शरीरस्थ दोष धातु मलों को प्रदुष्ट कर देते हैं, जिससे शरीर स्वास्थ्य वा शरीर की प्राकृत स्थिति में विकृति आ जाती है।

त्रिदोषों के कुछ गुणधर्म कर्मानुमेय होते हैं तो कुछ इन्दियगोचर होते हैं।

उदा - पित्त की द्रवता, स्निग्धता
श्लेष्मा की द्रवता, स्निग्धता
**ये इन्द्रियगोचर गुणधर्म हैं।**

वायु तो स्वयं सूक्ष्म स्वरूपीय होता है। स्वयं दूषित हो जाने पर अन्यों को भी जो दूषित करते हैं, उन्हें दोष कहा जाता है।

**दूषयन्तीति दोषा:।**

देह धारणा का कार्य करने वाले को धातु कहा जाता हैं।

**देह धारणात् धातव:।**

इस दृष्टि से देखा जाए तो दोष ये देह धारण कार्य करने वाले होने की वजह से दोषों को 'धातु' इस नाम से भी संबोधित किया गया है।

मलीन या मैला करने वाला वह मल कहा जाता हैं।

**मलिनीकरणान्मलाः।**

प्राणियों के शरीर का मूल दोष-धातु एवं मल ही होते हैं।

**दोष धातु मलामूलं ही शरीरम्।**

-सु०सं०सू० ३१

शरीरस्थ ये त्रिदोष ही शरीर की उत्पत्ति, शरीर की स्थिति वा अस्तित्व (existance) तथा देहनाश (death) के लिये कारणीभूत होते हैं।

**विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।**

-अ०हृ०सू० १

शरीर से निसृत होने वाला अधोवायु
वमनदि में निसृत होने वाला पित्त
ष्ठीवन में गले से निकलनेवाला कफ
} ये आयुर्वेदोक्त वातपित्त कफ कदापि नहीं कहे जा सकते ये तो मल हैं जिनका निसःरण शरीर द्वारा समय-समय पर किया जाता रहता है।

**मलिनी करणान्मलः–** के अनुसार जब जब शरीरस्थ त्रिदोष विषम स्थिति हो जाने के कारण शरीर को मलिन या दूषित करते हैं तब उस स्थिति में दोषों को **'मल'** संज्ञा दी जाती है।

१ वायु का विभाजनादि रूप -गति
२. अग्नि का पाकादि रूप -सन्ताप
३. जल का संश्लेषणादि रूप -आलिंगन (श्लिष)
} इस प्रकार पंचमहाभूतों से तीन महाभूत त्रिदोष रचना में तथा कार्य में प्रधान होते हैं।

गर्भस्थिति के काल में (शुक्रार्तव संयोग के समय) जो दोष उत्कट होता है उसी दोष से युक्त उस गर्भ की शरीर प्रकृति बन जाती है।

शरीर यह अब्जावधि देह घटकों से (cells) बना हुआ होता है और इनमें से हर एक देह-परमाणु में वात-पित्त-कफ विद्यमान होते हैं। शरीर में स्थित वात सूत्र वात के संचारार्थ होते हैं। वात का संचार उनके माध्यम से होने के कारण-

गति
प्राप्ति
एवं ज्ञान
} इनके भी ये वात सूत्र स्थूल दृष्टि से द्वार ही माने जाते हैं।

पित्त में अग्निभूत की प्रधानता होती है। इसके द्वारा रूप का आविर्भाव तथा तापोत्पत्ति संपादित होती है। अग्नि शरीरस्थ पित्त के भीतर सन्निविष्ट रहकर ये कार्य करती रहती है।

**अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभाशुभानि करोति।**

–च०सं०सू० १२

श्लेष्मा का संश्लेषण कर्म (Cohesion) कर्मानुमेय होता है। लकड़ी में स्थित अब्जावधि कण परस्पर से संयुक्त (संधानित) रखने वाला द्रव्य जिस तरह दृगोचर नहीं होता उसी तरह प्राणि शरीर में लाखों देहकणों को परस्पर संधानित करने वाला-संयुक्त रखने वाला द्रव्य जो चक्षुगम्य नहीं हैं, वह श्लेष्मा नामक दोष ही होता है। शरीर में 'उदक कर्म' का सम्पादन भी श्लेष्मा के द्वारा ही किया जाता है।

आयुर्वेद ने जीवन के (life) समस्त स्वरूपों का (Phenomena) वर्णन त्रिदोष में कर दिया हुआ दिखायी देता है। ये दोष समस्त शरीर स्थित हैं-समस्त शरीर संचारी रहते हैं (सर्व शरीर चराः) समस्त दैहिक (physical) मानसिक (mental) क्रियाओं (function, activities) के कारक होते हैं।

आयुर्वेदोक्त वातकर्म तथा दुष्टकर्म इनका समन्वय आधुनिकोक्त वातनाड़ी संस्था से (Nervous system) किया जा सकता है।

### रक्त-चतुर्थ दोष–

आचार्य सुश्रुत ने रक्त को चतुर्थ दोष माना है। सुश्रुत का यह कथन धन्वन्तरी संप्रदायीन कथन कहलाया जाता है।

१. 'शुक्रशोणित शुद्धि शारीरम्'– अध्याय में आचार्य सुश्रुत का यह कथन प्राप्त होता है कि वातादि दोष एवं शोणित इनसे प्रदुष्ट हुआ शुक्र सन्तानोत्पत्ति के कार्य के लिये अक्षम होता है।

२. २१ वें अध्याय में– आचार्य सुश्रुत ने वातादि दोषों के स्थान कथन करने पर रक्त का स्थान कथन कर–"**एतानि खलु दोषस्थानानि एषु संचीयते दोषाः**"।

ऐसा विधान किया हुआ दिखायी देता है।

३. १४ वें अध्याय में– आचार्य सुश्रुत ने प्रथम वातादि दोषों से प्रदुष्ट हुये रक्त के लक्षणों का कथन करने के उपरान्त रक्त से प्रदुष्ट बने दुष्ट रक्त के लक्षणों का वर्णन किया है।

**पित्तवत् रक्तेन अति कृष्णं च।**

४. आचार्य सुश्रुत ने रक्त प्रदर, रक्तार्श, रक्तपित्त } इ० रक्त दुष्टिजन्य रक्त विकारों की विशेष चिकीत्सा वर्णित की है।

५. दुष्ट पित्त -कफ का शोधन न करने के कारण जिस तरह पित्त-कफ दुष्टिजन्य विकारों की उत्पत्ति होती है, उसी तरह दुष्ट रक्त का शोधन न करने के कारण (दुष्ट रक्त का निर्हरण) रक्त दुष्टिजन्य व्याधियों की उत्पत्ति होती है।

६. त्रिदोषों की चिकीत्सा लिखने पर रक्तदुष्टि की भिन्न चिकित्सा आचार्य सुश्रुत ने वर्णित की हुयी दिखायी देती है।

७. देहोत्पति के समय वातादि त्रिदोष जैसे उपस्थित होते हैं तथा समस्त देह स्थिति के काल में उनकी समस्त शरीर में स्थिति विद्यमान होती है वही संपूर्ण स्थिति पूर्णत: रक्त के विषय में भी लागू होती है।

## रक्त को चौथा दोष मानना अनुचित–

१. वातादि त्रिदोष समस्त शरीर में (देहके अणु रेणु में) व्याप्त तथा समस्त शरीर में उनकी उत्पत्ति होती रहती है।

   किन्तु रक्त की उत्पत्ति वातादि त्रिदोषों की तरह समस्त शरीर में न होते हुये सिर्फ रक्त वह स्रोतसों में ही होती है।

२. वातादि दोष मलदि को स्वतंत्र रूप से प्रदुष्ट करते हैं किन्तु रक्त यह स्वतंत्र रूप से मलादि को प्रदुष्ट नहीं कर पाता।

३. वातादि त्रिदोष सूक्ष्मतिसूक्ष्म स्रोतसों में व्याप्त रहते हैं किन्तु रक्त के विषय में यह स्थिति दिखायी नहीं देती।

४. रक्त की विशेष चिकीत्सा जो आचार्य सुश्रुत नें निर्देशित की है वह वातादि दोषों से प्रदुष्ट रक्त की है, न कि स्वयं दुष्ट रक्त की। (दुष्ट बने हुये रक्त दोष की वह चिकीत्सा नहीं कही जा सकती।)

अत: बहुसंख्य. आयुर्वेद विद्वानों का इस बाबत कोई भी मतभेद दिखायी नहीं देता कि रक्त यह चतुर्थ दोष हो ही नहीं सकता। दोष सिर्फ तीन ही हैं। रक्त यह शरीर के सप्त धातुओं में एक महत्वपूर्ण धातु है, न कि चतुर्थ दोष।

### त्रिदोष–प्राकृत वा सामान्य कार्य–

सृष्टिस्थ सोम अर्थात् चन्द्रमा, ताप–अग्नि रूप सूर्य तथा गतिमान वायु स्व स्व प्राकृत कर्मों से जगत का धारण कर्म करते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| शरीर में :- | शरीर पूरण एवं पोषण का कार्य - | श्लेष्मा के द्वारा |
| | सेवित भोजन का पचन कर सात्म्य भाग (सार भाग) शरीर में सात्म्य करना ऊर्जा तथा तापोत्पत्ति करना। | पित्त के द्वारा |
| | शरीर में निर्मित किट्ट भाग शरीर के बाहर निकालकर शरीर को गंदगी रहित-निर्मल रखना। शरीरान्तर्गत तथा शरीर बाह्य (हस्त-पादादि बाह्येंद्रियों की क्रियायें करवाना) | वायु के द्वारा |

**शरीरस्थ दोषों का शमन/प्रकुपित दोषशमनार्थ प्रमुख चिकीत्सा**

| | | |
|---|---|---|
| १. | बस्ति/स्निग्ध-उष्ण उपाय | प्रकुपित वायु का शमन |
| २. | विरेचन/शीतादि उपाय | प्रकुपित पित्त का शमन |
| ३. | वमन/उष्ण-रूक्षादि उपाय | प्रकुपित्त श्लेष्मा का शमन |

**बस्ति-विरेचन-वमन यही वातादि दोषों की प्रधान चिकित्सा क्यों कहीं जाती है ?**

१. शरीर में श्लेष्मा का प्रधान स्थान हृदय प्रदेश के ऊपर का शरीरोर्ध्व भाग कहा गया है।

वमन द्रव्यों का गामित्व इसी शरीरोर्ध्व भागों में ही होता है।

प्रदुष्ट कफ (मलरूप) ही कफ विकारों के लिये कारणीभूत होता है। अतः वमन के द्वारा इस दुष्ट कफ का शोधन या निष्कासन हो जाने से आप ही आप कफ रोगों का शमन हो जाता है।

**(कारणनाशात् कार्यनाशः)**

२. शरीर में पित्त का प्रधान स्थान यह हृद्प्रदेश से नीचे नाभि प्रदेश तक का कोष्ठभाग कहा गया है।

इस भाग में कार्यकारी द्रव्य यह अग्नि पर कार्य करने वाला होता हैं।

विरेचन द्रव्यों का गामित्व इसी प्रदेश में रहता है। विरेचन से पित्त रोगों के लिये कारणीभूत प्रदुष्ट (मलरूप) पित्त का निष्कासन (शोधन) हो जाता है।

३. शरीर में नाभि का अध: प्रदेश वायु का स्थान कहा गया है। पक्वाशय यह वात का प्रधान स्थान है। इस तरह नाभि अधोभागीय बस्ति प्रदेश वात का शरीर में प्रधान स्थान है।

बस्ति द्रव्यों का गामित्व शरीर के इसी प्रदेश में होता है। बस्ति उपाय से (स्निग्ध-उष्ण) वायु का प्रशमन हो जाता है।

दोषों का शोधन करते समय यदि वह शोधन उनके स्थान से निकटतम मार्ग से किया गया तो वह रुग्ण के लिये अल्पतम पीड़ाकर तथा अधिकतम फलदायी साबित होता है। इसी तत्व का अनुसरण करते हुये श्लेष्मादि दोषों की वमनादि शोधन चिकीत्साओं का किया हुआ निर्देश इस दृष्टि से अति महत्वपूर्ण ही कहना चाहिये।

# वात-वायु

शरीरस्थ त्रिदोषों में वायु का महत्व सर्वोपरि होता है।

शरीरान्तर्गत रक्ताभिसरण, गर्भाशय में गर्भ का चलन वलन-गर्भ का निष्क्रमण (प्रसूति), अन्नमार्ग में अन्न की आगे-आगे गति होती रहना, अग्नि संधुक्षण (फूँक मार-मार कर अग्नि को प्रज्वलित किये रखना), ग्रन्थियों का परिस्त्रवण, मल-मूत्र-स्वेद इ० का प्रवर्तन, शब्द-स्पर्श-गन्धादि का वहन, इ० शरीरान्तर्गत होने वाली सभी क्रियाओं का कारक वायु ही होता है।

उसी तरह उठना-बैठना-दौड़ना-लिखना, हँसना-बोलना, पलकों का खुलना बन्द होना आदि शरीर के बाह्य इन्द्रियों के समस्त व्यापारों का कारक भी यह वायु ही होता है।

गतिमान सिर्फ वायु ही है। पित्त एवं कफ वायु के सहयोग के बिना गति करने में असमर्थ ही होते हैं।

पित्तं पङ्गु कफं पङ्गु पङ्गवो मल धातव:
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्।

-शा०पू० ५

वायु यह समस्त शरीर का संचालक-नियन्ता प्रणेता है।

प्राणियों की उत्पत्ति-स्थिति-लय सभी को कारणीभूत यह वायु ही होता है।

ज्ञानेंन्द्रियों को शब्द-स्पर्शादि अपने अपने विषयों का ज्ञान इस वायु ही के कारण हो पाता है।

वायु के ही कारण गर्भ परमाणुओं का विभाजन होता जाता है तथा गर्भवृद्धि होती रहती है। गर्भ को विशिष्ट आकृति प्रदान करने वाला भी वायु ही होता है।

शरीर के जीवित होने का लक्षण श्वसन का चलते रहना तथा दिल की धड़कन भी चलती रहना है और ये कर्म भी वायु के द्वारा ही संपन्न होते हैं।

गर्भ शरीर में अनेकानेक विवरों की उत्पत्ति तथा स्रोतस निर्मिति वायु के ही द्वारा होती है। शरीर का चलते-दौड़ते-खड़े होते समय संतुलन रखा जाना वायु के ही आधीन है।

विभिन्न क्रियाओं में हाथ-पैर-नेत्र इ० का परस्पर इन्द्रिय सहकार्य एवं संतुलन का कारक वायु ही होता है।

शरीर का नियन्ता-प्रणेता मन होता है। तो मनका नियन्ता-प्रणेता यह वायु होता है। इस प्रकार से वायु शरीर-मन दोनों का नियन्ता प्रणेता बन जाता है। उसका स्थान सर्वोपरि है। इसी कारण से उसे **'विश्वात्मा'** इस सार्थ संज्ञा से संबोधित किया गया है।

आशुकारी-सर्वदिह संचारी-समस्त क्रियाकरा-प्रभु-धाता-दोषों का प्रेरक तथा नियामक शरीरस्थ वात दोष ही होता है।

**वायु ही शरीरस्थ प्राण है।** अत: ही वायु के पाँच प्रकारों को पंचप्राण कहा जाता है।

हर्ष-शोक-ईर्ष्या-कामादि भावों का प्रेरक भी यह वायु ही होता है।

**उत्साहो श्वास नि:श्वास चेष्टा धातुगति समा**
**समो मोक्षो गतिमातां वायो: कर्मा विकारजम्।**

-च०सं०सू० १८

**सर्वाहि चेष्टा वातेन स प्राण: प्राणिनां स्मृत:**
**तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरूध्यते।**

-च०सं०सू० १७

**वायुरेवहि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोसात्राप्युदीरण:**
**कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्।**

-चं०सं०चि० २८

**वायुस्तंत्र यंत्रधर: प्राणोदान समानव्यानापानात्मा, प्रवर्तक श्चेष्य नामुच्चावचानां, नियन्ता-प्रणेता च मनस:,सर्वेन्द्रियाणामुद्योजक:,सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीर**

धातुव्यूह कर:,सन्धानकर: शरीरस्य, प्रवर्तको वाच:, प्रकृति शब्द स्पर्शयो:, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोगिनी, समीरणोऽग्ने:, संशोषणो दोषाणां, क्षेपताब हिर्मलानां, स्थुलाणु स्त्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भप्रकृतिनां, आयुषोऽनुवृत्ति प्रत्यय भूतो, भवत्यऽकुपित: ।

-च०सं०सू० १२

'तेषा संयोग विभागे परमाणुनां कारणं वायु: कर्म स्वभावाश्च । -च०सं०शा० ७

स्वयं भूरेष भगवान वायुरित्याभिशब्दित: ।
स्वातन्त्र्यान्नित्य भावाच्च सर्वगत्वात्तथैवच ।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोक नमस्कृत: । ।
स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेष कारणम् ।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्ष: शीतो लघूश्चर: ।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ।
अचिन्त्य वीर्यो दोषाणां नेता रोग समूह राट् ।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधान गुदालय: ।
देहे विचर तस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ।
दोष धात्वग्नि समतां संप्राप्तिं विषयेषु च ।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यऽकुपितोऽनल: । सु०सं०नि० १
क्रियाणामप्रतिघातममोहं बृद्धिकर्मणाम्
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वा: सिरा: पवनश्चरन् । सु०सं०शा०७
वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्
वायुर्विश्वमिदं सर्व प्रभुर्वायुश्चकीर्तित: ।
अव्याहत गतिर्यस्य स्थानस्था: प्रकृतौ स्थित:
वायु: स्यात् सोऽधिकं जीवेद् वीतरोगा: समा: शतम् ।- च०सं०चि० २८

वायु का स्वयं का शीत यह प्राकृत गुण होते हुये भी अपने स्वयं के योगवाही गुण के कारण कभी वह प्रकुपित पित्त के उष्ण-तीक्ष्णादि गुणों का वहन करता है तो कभी कफ के शीत-स्निग्धादि गुणों का वहन कर रोगोत्पत्ति का कारक बनता है।

योग वह: परं वायु: संयोगादुभयार्थकृत
दाह कृत तैजसा युक्त: शीतकृन् सोमसंश्रयात् ।

शरीर में उत्पन्न होने वाले समस्त रोगों का कारक वायु ही कहा गया है। मर्म-शाखा-कोष्ठादि किसी भी मार्ग में, किसी एक अंग में अथवा सर्वांग में, शरीर के ऊर्ध्व-अधो वा तिर्यक् भाग में-समस्त रोगों को कारणीभूत वायु ही होता है। क्योंकि शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों में बहुतायत प्रमाण अग्निमांद्योप्तन्न रोगों का ही होता है। प्राकृतवा अविकृत स्थिति में वात अपने अग्निसंधुक्षण के कार्य से अग्नि को मंद नहीं पड़ने देता। किंतु वायु की विकृति में इस कार्य में भी विकृति उत्पन्न हो जाने से अग्निमांद्य उत्पन्न होकर फिर तद्संभूत अनेकानेक विकारों का वह कारण बन जाता है।

पुरीषादि मल संचिति से रोगोत्पत्ति होती है और प्राकृत या अविकृत स्थिति में वात ही मलों का विसर्जन कर्ता होता है। किन्तु वात की विकृति में यह कर्म भी बाधित हो जाता है, जिससे भिन्न रोगोत्पत्ति हो जाती है।

स्रोतसावरोध को अनेकानेक रोगों का कारण कहा गया है और स्रोतसावरोध के लिये प्रधानतः कारणीभूत वायु ही होता है।

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति।
विण्मूत्र पित्तादि मलाशयानां विक्षेपसङ्घात करः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किंचित्।
तस्मच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्ति मेंके।

-च०सं०सि० १

## प्राकृत कफ-गुण-कर्म-

शीत-गुरु-मन्द-स्निग्ध-पिच्छिल-श्लक्ष्ण, श्वेत-मधुर-मृदु ये कफ वा श्लेष्मा के प्राकृत गुण हैं।

स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णः मृत्स्नः स्थिरः कफः

-अ.हृ०सू० १

श्लेष्मा शीतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः।

-सु०सं०सू० २१

गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिलः
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः।

-च०सं०सू० १

श्लेष्मा — पृथ्वी, अप् } भूयिष्ठ इसलिये शरीरस्थ { स्नेहन, क्लेदन, आप्यांश, तर्पण, पूरण इ. समस्त श्लेष्माधीन होते हैं।

शरीर का विशिष्ट आकार, वजन (गुरुता), रस, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र } इ. सबकी प्राकृतस्थिति { शरीरस्थ श्लेष्मा की प्राकृत स्थिति पर निर्भर होती है

शरीरस्थ बल एवं ओज श्लेष्मा का ही रूप होता है।

शरीरस्थ पित्तोष्मा की अवास्तव वृद्धि श्लेष्मा के शीतादि गुणों के कारण हो नहीं पाती। इस तरह शरीर में पित्त शक्ति का नियंत्रण श्लेष्मा के द्वारा किया जाकर सन्तुलन रखा जाता है।

प्राणि शरीर का बिल्कुल प्राथमिक या आरंभिक स्वरूप (शुक्र-आर्तव संयोग) कफ के द्रव-स्निग्ध गुणों से युक्त होता है।

सन्धिगत स्निग्धता<br>
शरीरस्थ गंथियों के स्राव<br>
नेत्र-जिव्हादि स्थानिय स्निग्धता<br>
निद्रा<br>
क्षमा-धैर्यादि गुण

— ये समस्त श्लेष्मा के ही प्राकृत कर्म हैं।

आमाशयगत क्लेदन कार्य उर:स्थानीय स्निग्धता, हृदय का आलम्बन, मस्तिष्क स्थानीय स्निग्धता, श्वसन मार्गस्थ स्निग्धता, मधुरादि रस बोधिन कार्य, ज्ञानेन्द्रियों की पुष्टिकर उन्हें अपने कार्यो में क्षम रखना

— ऐसे अनेकानेक शरीरगत महत्वपूर्ण कार्य श्लेष्मा के द्वारा संपन्न किये जाते हैं।

प्राकृतस्तु वलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यतें<br>
स चैवोज: स्मृत: काये स च पाप्मोपदिश्यते।

-च०सं०सू० १७

स्नेहोबन्ध: स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्<br>
क्षमाधृतिरलोभश्च कफ कर्माविकारजम्।

-च०सं०सू० १७

सन्धिसंश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण<br>
बलस्थैर्य कृत् श्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त<br>
उदक कर्मणानुग्रहं करोति।

-सु०सं०सू० १५

**स्नेहमङ्गेषु सन्धिनां स्थैर्थ बलमुदीर्णताम्।**

**करोत्यन्यान् गुणंश्चाकण बलासःस्वाः सिराश्चरन्।।**

**–सु०सं०शा० ७**

## प्राकृत पित्त-गुण-कर्म–

शरीरस्थ पित्त दोष सृष्टिस्थ सूर्य (अग्नि) का प्रतिनिधि स्वरूप कहा गया है। अग्नि किरण वा सूर्य किरणों के पड़ने पर वस्तुओं के विभिन्न रंग प्रकट हो जाते हैं, उसी तरह शरीर में त्वचा-रक्त आदि को शरीरस्थ रजक पित्त रंग प्रदान करता है।

अग्नि वा सूर्य की किरणें वस्तु पर पड़कर वहाँ से उनके परावर्तन नेत्र प्रदेश तक होने के कारण वस्तु रूप दर्शन संपादित होता है। शरीर में आलोचक पित्त नेत्र स्थान में स्थित रहकर रूप ज्ञान करवाता है।

सूर्य एवं अग्नि बाह्य सृष्टि में वस्तुओं में पाकोत्पत्ति कर उनका रूप-गुण परिर्वतन के कारण बनते हैं, उसी तरह जाठराग्नि वा पाचक पित्त शरीर में सेवित अन्न का पाक संपादित कर शरीर में सात्म्य होने योग्य उस आहार में रूप-गुण परिर्वतन कर देती है तथा शरीरस्थ धात्वग्नियों को बल प्रदान कर धातु पुष्टि कार्य करती है।

सृष्टिस्थ अग्नि एवं सूर्य स्नेहांश का ग्रहण करते हैं, उसी तरह शरीरस्थ त्वक्स्थानीय-भ्राजक पित्त अभ्यंगादि में प्रयोजित स्नेहांश का शोषण कर लेता है।

पाचन कर्म तो मूर्तिमन्त अग्नि का ही रूप माना जाता है।

**अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभांशुभानि करोति।**

**–च०सं०सू० १२**

पाकादि कर्मणानल शब्दितम्।

**न खलु पित्त व्यतिरेकादन्योग्निरूप लभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपाचनादिष्वभि प्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियन्तेऽन्तरग्निरिति, क्षीणे ह्याग्निगुणे तत् समान द्रव्योपयोगात्, अतिवृद्ध शीत क्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति।**

**–सु०सं०सू० २१**

**तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्।**

**–भोज**

त्वचा का प्राकृत रंगत्व, अन्न का पचन, सार किट्ट विभजन, धात्वग्नियों को बल प्रदान करना, धातुओं की पुष्टि का कार्य दर्शनेन्द्रिय द्वारा दर्शन ज्ञान, विभिन्न स्नेहांशों का त्वचा के माध्यम से ग्रहण करना।
त्वचा को प्राकृत-मृदु-तेजस्वी संवेदनक्षम रखना, रस का रंजन कर उसे रक्तत्व प्रदान करना, हृदय के ऊपर का कफ का आवरण अपने उष्णगुण से दूर कर हृदय को कार्यक्षम रखना, शौर्य-बुद्धि-मेधा, क्रोध-अभिमानादि भावों को उत्पन्न करना

ऐसे अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन कर शरीर को जीवन प्रदान करने का उसे कार्यक्षम रखने का कार्य करता रहता है।

इति भौतिक धात्वन्न पक्तृणां कर्म भाषितम्।

च०सं०चि० १५

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिता:।।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धि क्षयोद्भव:।

अ०हृ०सू० ११

पित्तादेवोष्मण: पक्तिर्नराणामुपचायते
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून्।

च०सं०सू० १७

अग्न्याशये भवेत् पित्तं पाचकाख्यम्।

शा०सं०पू० ५

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुतृष्णा देहमर्दवम्
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्।

च०सं०सू० १८

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मत:
तन्मूलास्तेहि तद् वृद्धि-क्षय वृद्धि क्षयात्मका:।

च०सं०चि० १५

भ्राजिष्णुतामन्नरूचिमग्नि दीप्तिमरोगताम्
संसर्पत् स्वा: सिरा: पित्तं कुर्याच्चन्यान् गुणामपि।

सु०सं०शा० ७

अग्निरेवशरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्व मूष्मणः प्रकृति विकृतिवर्णो शौर्य भयं क्रोधं हर्ष मोहं प्रसादमित्यमेव मादीनि चापराणि द्वंद्वानीति। -च०सं०सू० १२
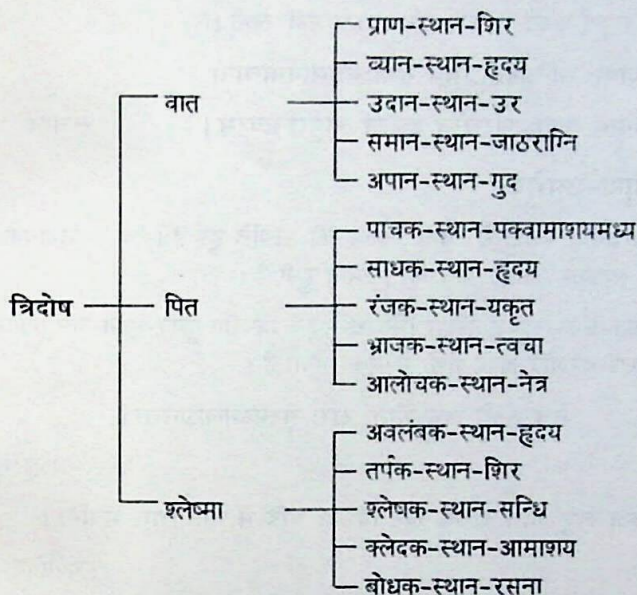
## त्रिदोष-उपभेद-

त्रिदोषों की शरीर में भिन्न भिन्न स्थानों में जो स्थिति होती है उसके अनुसार उन्हें अलग अलग नाम देकर उनके भेद प्रकल्पित किये गये दिखायी देते हैं।

## त्रिदोष-मित्र एवं शत्रु-

महर्षि चरकाचार्य ने शरीरस्थ दोषों को 'शत्रु' के नाम से संबोधित किया दिखायी देता है। अर्थात् शत्रु नियंत्रित रहे-इसका सदोदित खयाल रखकर ही हम उससे सँभलकर-विचारपूर्वक बर्ताव करते हैं। निर्बुद्ध-उत्तेजितावस्था पूर्ण बर्ताव शत्रु के बलवर्धन को ही कारणीभूत होता है। बुद्धि का सुयोग्य उपयोग कर {सारा सार-अथवा योग्यायोग्यता का भान रखकर प्रज्ञापराध न हो पाये तथा उससे दोषों के (शत्रुओं के) बल की वृद्धि न होने पाये-इसका ध्यान रखते हुये} विचारपूर्वक आचरण-(आहार-विहारादि) रखा जाय तो शत्रु नियंत्रित रहता है, (दोष अपनी अविकृत स्थिति में या साम्यावस्था में रहते हैं) तथा उससे आयु संकटहीन सुखपूर्ण रह सकती है। इसके विपरीत आचरण से (मनमाना

आचरण-प्रज्ञापराध इ०) दोष शत्रुवत् बलवान बन जाते हैं तथा दु:खद स्थिति उत्पन्न कर सर्वनाशार्थ कारणीभूत हो जाते हैं।

संक्षेप में कहा जाय तो मित्र-शत्रु के इस अति समर्पक दृष्टान्त द्वारा शरीरस्थ दोष प्राकृत (या अविकृति स्थिति में मित्रवत् उपकारक सावित होते हैं तो अपने ही अविचारपूर्णता वा अविवेक (प्रज्ञापराध) के कारण शत्रु की तरह दोष प्रकुणित होकर हमारे अहित के लिये सिद्ध हो हमारा जीवन दु:खपूर्ण करने में कोई कसर उठा नहीं रखते।

दोषा: सन्निहिताऽमित्रं समीक्ष्यात्मानमात्मना

नित्यं युक्त: परिचरेत् इच्छन् आयुरनित्वरम्। —चरक

## वायु-प्राकृत गुण-उपभेद—

'वा-गति गन्धनयो:'-धातु से "वात" शब्द की उत्पत्ति हुई है। 'वा' गतिवाचक धातु को 'क्त' प्रत्यय लगाकर 'वात' शब्द की निर्मिति हुयी है।

शरीरस्थ वात-रूक्ष-लघु-शीत-खर (स्निग्ध-मृदु के विपरीत गुण)-सूक्ष्म-चल (गतिमान) दारूण-विषद-परुष-बहुशीघ्र आदि गुणों से युक्त होता है।

तत्र रूक्षो लघु शीत: खर: सूक्ष्मश्चलोऽनिल:।

-अ०हृ०सू० १

रूक्ष लघु शीत दारुण खर विशद: षडि में वातगुणा: भवन्ति।

-च०सं०सू० १२

वातस्तु रूक्ष लघु चल बहुशीघ्र शीत परुष: विशद:।

-च० सं० वि० ८

वायु के बहुशीघ्रत्व-गतिमानादि विशेष गुणों के कारण तथा नियन्ता-प्रणेतादि गुणों के कारण शरीर में वात के कारण होने वाले विकारों की संख्या सबसे ज्यादा (वात के ८० विकार) दिखायी देती हैं।

प्राणोऽत्र मूर्धग:।

प्राण :- उर: कण्ठचरो बुद्धि: हृदयेन्द्रिय चित्त धृक्

ष्ठीवन क्षवथूद्‌गार नि:श्वासान्न प्रवेशकृत। —अ०हृ०सू० १२

उदान:- उर: स्थान मुदानस्य नासांनाभिगलांश्चरेत्

वाक् प्रवृति प्रयत्नोर्जा बल: वर्ण स्मृति क्रिय:। —अ०हृ०सू० १२

वायु
- प्राण– स्थान-शिर। उर: कंठस्थान में संचार
  कर्म-बुद्धि-हृदय-इन्द्रियाँ-मन का धारण।
  थूकना-छीकंना, उद्‌गार, साँस लेना,
  कौर निगलना इ.।
- उदान– स्थान-उर। संचार-नासा-नाभि-गलप्रदेश में।
  कर्म–वाक्-ऐच्छिक क्रियायें (voluntary)
  उत्साह-बल वर्ण स्मृति का कारक।
- समान– स्थान–जाठराग्नि। संचार-समस्त कोष्ठ
  कार्य–अन्नग्रहण-पचन-सारकिट्ट विभजन
  किट्ट भाग विसर्जन (आगे धकेलना)।
- व्यान– स्थान-हृदय। संचार-समस्त शरीर में वेगपूर्ण।
  कार्य-चलना, हस्तादि आकुंचन प्रसारण पलकों
  का खुलना-बंद होना।
- अपान– स्थान-गुद। संचार-नितंष प्रदेश, बस्ति,
  मेढ्र (जननेन्द्रिय) उरु० इ. भागों में।
  कार्य-मल मूत्र शुक्र आर्तव गर्भ इ. का प्रवर्तन।

समान– समानोऽग्निसमीपस्थ: कोष्ठे चरति सर्वत:
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति।

-अ०हृ०सू० १२

व्यान– व्यानो ह्णादि स्थित: कृत्स्न देहचारी महाजव:
गत्य पक्षेपणोत्क्षेप निमेषोन्मेषणा दिका:।।

प्राया: सर्वा: क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धा: शरीरिणाम्।

-अ०हृ०सू० १२

अपान– अपानोऽपानग: श्रोणि बस्तिमेढ्रोरुगोचर:
शुक्रार्तव शकृन्मूत्र गर्भनिष्क्रमण क्रिय:।

-अ०हृ०सू० १२

## पित्त–व्युत्पत्ति–उपभेद–स्थान–कर्म

'तप्-सन्तापे' धातु से:-'क्त' प्रत्यय लगाकर-वर्ण विपयर्य होकर ''पित्त'' शब्द की रचना

हुयी है। अग्निमहाभूत प्रधान पित्त में वायु महाभूत का लघुत्व तथा गति ये गुण भी विद्यमान होते हैं।

पित्त-स्निग्ध, तीक्ष्ण (पाचक रसों की तीक्ष्णता) उष्ण (यह पित्त का प्रधान स्वरूपीय सूर्य-अग्नि का प्रतिनिधक गुण और इसीलिये शरीरस्थ जाठराग्नि आधार भी पित्त ही होता है।

शरीरस्थ ऊर्जा–उष्णता इ. भी पित्त के इसी उष्ण गुण के कारण )

लघुता (पित्त के इस युग के कारण शरीरस्थ श्लेष्मा की जड़ता नियंत्रित रखी जाती है।) विस्रगंधिता (रक्त की अपनी विशिष्ट गंध। बोरे में भरी हुयी मछलियों से जो उग्र गंध आती है वह विस्रगंध) सरत्व (गतिमान गुण का ही एक हिस्सा। आगे आगे खिसकना) द्रवता (पतला पन)।

पित्तं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्।

-अ०हृं०सू० १

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूतिं नीलं पीतं तथैव च
उष्णं कटु रसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च।

-च०सं०सू० २१

सस्नेह मुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।

-च०सं०सू० १

पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्।

-सु०सं०सू० ४२

पित्त–वहन मार्ग-सिरा। प्रधानतया नीला

प्रमाण-महर्षि चरकानुसार ५ अंजली।

स्थान-पित्त स्थान में ही अग्नि का वास होता है और इसीलिये पित्त अति महत्वपूर्ण माना जाता है।

नाभि-आमाशय-स्वेद-लसिका
रुधिर (रक्त)-रस-दृष्टि-त्वक्
विशेषस्थान - नाभि।

नाभिरामाशयस्वेद लसिका रूधिरं रसः
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषताः।

-अ०हृ०स० १२

आमाशय एवं पक्वाशय के बीच वाला प्रदेश पित्त का स्थान माना गया है

**पक्वामाशयमध्यगं पित्तस्य।**

**–सु० सं० सू० २९**

शरीर में पित्त के पाँच प्रकार के स्थान :- यकृत, प्लीहा, हृदय, दृष्टि, त्वचा — निर्दिष्ट किये गये हैं।

**पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टि त्वक्।**

**-सु०सं०सू० २१**

पित्त आग्निगुण भूयिष्ट होने की वजह से दाह-पाकादि अग्नि के जो प्रधान कर्म उनका संपादन शरीर में पित्त के द्वारा किया जाता है। ऐसी स्थिति में अग्नि पर जो उपचार किये जाते हैं, वे ही उपचार पित्त पर भी किये जाते हैं। क्योंकि शरीरस्थ पित्त दोष ही शरीरस्थ अंतराग्नि होती है। जब जब शरीर में पित्त क्षीण होता है तब तब अग्निगुणीय तीक्ष्णोष्ण उपचारों का ही अवलंबन करना पड़ता है।

इसके विपरीत शरीर में पित्त की अति वृद्धि होने पर अग्निगुण विपरीत इस तरह के शीतोपचार करने पड़ते हैं।

१. पाचक:- **पक्वामाशय मध्यगम्।**
**पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्।।**
**त्यक्तद्रवत्वं पाकादि कर्मणानल शब्दितम्**
**पचत्यन्नं विभजते सार किट्टो प्रथक् तथा।।**
**तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्**
**करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्।।**

**-अ०हृ०सू० १२**

**तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति-विवेचयति दोष-रस-मूत्र पुरीषाणि तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्त स्थानानां शरीरस्थ चाऽग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा।-**

**सु०सं०सू० २१**

**पित्त**

- **पाचक**
  - **स्थान**-पक्वामाशय मध्यगम्।
  - **कार्य**-अग्निसंज्ञिय। अन्नपचन सार किट्ट विभजन स्वस्थान में रहकर शरीर के अन्यपित्त स्थानों को बल प्रदान करना
  - -अ०हृ०सू० १२
  - आमाशय एवं पक्वाशय प्रदेश के मध्य भाग में स्थित यह पित्त अन्नपचन संपादित करता है।
  - दोष-रस-पुरीष-मूत्र-इनका पृथक्करण संपादित करता है। स्वस्थान में रहता हुआ स्वसामर्थ्य से अग्निकर्म के द्वारा शरीर के अन्य पित्त स्थानों को बल प्रदान।
  - इसी को पाचकाग्नि कहा जाता है।
  - -सु०सं०सू० २१
- **रंजक**
  - **स्थान**-आमाशय समीपस्थ यकृत
  - **कार्य**-रस को (लाल) रंग प्रदान करना
  - अ०हृ०सू० १२
  - **स्थान**– यकृत-प्लीहा -सु०सं०सू० २१
- **साधक**
  - **स्थान**-हृदय।
  - **कार्य**-बुद्धि-मेधा-अहंकार इ. के द्वारा इच्छित सिद्धि। –अ०हृ०सू० १२
  - **स्थान**-हृदय। यही साधकाग्नि।
  - **कार्य**-इष्टार्थ साधन। -सु०सं०सू० २१
- **आलोचक**
  - **स्थान**-नेत्र।
  - **कार्य**-रूपग्रहण। काला-गोरा, बडा-छोटा। इ. का आलोचन। -अ०हृ०सू० १२
  - **स्थान**-नेत्रान्तर्गत दृष्टिपटल (Retina)
  - **कार्य**–सृष्टिस्थ पदार्थों का रूप ग्रहण।
  - -सु०सं०सू० २१
- **भ्राजक**
  - **स्थान**-त्वचा
  - **कार्य**–अभ्यंगस्थ स्नेहादि का त्वचा में शोषण। शरीर को काला-गोरा इ. विभिन्न रंग प्रदान करता है।

२. रंजक— आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरंजनात्।

-अ०हृ०सू० १२

यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा स रसस्य रागकृ दुक्तः।
-सु०सं०सू० २१

३. साधक— बुद्धिमेधा भिनानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तम्।।

-अ०हृ०सू० १२

यत् पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरीति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थित मनोरथरसाधन कृदुक्तः।

-सु०सं०सू० २१

४. आलोचक—रूपालोचनतः स्मृतम् दृक्स्थमालोचकम्।

-अ०हृ०सू० १२

यत् दृष्टयां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति सज्ञा स रूपग्रहणाधिकृतः।

-सु०सं०सू० १२

५. भ्राजक— त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात् त्वचः।

-अ०हृ०सू० १२

यत्तु त्वचित पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा।

-सु०सं०सू० २१

कफ (श्लेष्मा)-व्युत्पत्ति-उपभेद इ०—

'श्लिष-आलिङगने' धातु को 'मनिन्' प्रत्यय लगाकर 'श्लेष्मा' शब्द की रचना हुयी है।

शरीर घटक- परमाणुओं का (cells) परस्पर संयुतिकरण रखना, उन परमाणुओं को आलिंगन देकर बिखरने न देना यह महत्वपूर्ण कार्य है श्लेष्मा का।

श्लेष्मा देहाणुओं को दृढ़ता एवं बल प्रदान करता रहता है।

श्लेष्मा—पृथ्वी—अप् भूयिष्ठ है तथा शरीर भी पृथ्वी-अप् भूयिष्ठ ही होता है-इससे शरीर में श्लेष्मा की महति स्पष्ट होती है।

उत्पत्ति स्थान—समस्त शरीर।

विशेषतया हृदय-रस वह स्रोतसों में रसाग्नि के द्वारा इसकी उत्पत्ति होती रहती है।

पाचकाग्नि का सेवित अन्न पर कार्य होकर रसोत्पत्ति होती है। इस प्रकार रस धातु की निर्मिति के समय रस के मल के रूप में कफ की निर्मिति होती रहती है।

**कफ गुण**--स्निग्ध-शीत-गुरु-मन्द (चिरकारी) विलम्ब से क्रियाकारी मृदु-श्लक्ष्ण घन-श्वेत-पिच्छिल मधुर।

**श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च**
**मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धों लवणः स्मृतः।**

-सु०सं०सू० २१

**स्नेह शैत्य शौक्ल्य गौरव माधुर्य**
**मात्स्र्यानि श्लेष्मणः आत्मरूपाणि।,**

-च०सं०सू० २०

**स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।**

-अ०हृ०सू० १२

**श्लेष्मा-प्राकृत-स्थान**–

उरः-कण्ठ-शिर-फुफ्फुस (Lungs) -संधि-आमाशय-रस-मेद, नासा-जिव्हा

**प्रधान स्थान**–उर स्थान। (Thoracic cavity)

**उरः कण्ठ शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसः**
**मेदो घ्राणं च जिव्हा च कफस्य सुतरामुरः।**

-अ०हृ०सू० १२

आमाशय यह कफ का स्थान होकर उर, मस्तक, गल, जिव्हामूल, सन्धि–ये उसके पंचस्थान हैं।

**आमाशयः श्लेष्मणः।**
**श्लेष्मणस्तूरः शिरः कण्ठसन्धयः इति।**

-सु०सं०सू० २१

समस्त शरीर में व्याप्त श्लेष्मा दोष मूल में एंक ही हैं। कर्मभेद एवं स्थान भेद के अनुसार उसे भिन्न स्थानों में भिन्न नाम प्रदान किये गये हैं।

श्लेष्मा —

- **अवलंबक-स्थान-हृदय**
  कर्म-हृदयस्थ अन्न के (रस के) वीर्य से तथा स्व वीर्य से सिर तथा हाथों की संधियों का तथा शरीरस्थ अन्य श्लेष्म स्थानों का क्लेदनादि से पोषण करता है।
  -अ०हृ०सू० १२

- उरस्थानीय कफ शिर एवं दोनों हाथों की संधियों का धारण करता है तथा हृदय सहकार्य से हृदय व तत्कार्यार्थ बल प्रदान करता है। -सुसं०सू० २१

- **क्लेदक-स्थान -आमाशय**
  कार्य -स्वशक्ति से अन्य कफ स्थानों पर तथा समस्त शरीर पर अनुग्रह (उपकार) करता है।-सु०सं०सू० २१
  स्थान-आमाशय
  कार्य -अन्न संघात को स्निध एवं पतला बनाकर पचन क्रिया के योग्य बनाता है। -अ०हृ०सू० १२

- **बोधक-स्थान-जिव्हा**
  कर्म -जिव्हा पर इसकी स्निग्धता (आर्द्रता) के कारण ही विभिन्न रसों का ज्ञान संभव। -अ०हृ०सू० १२
  स्थान-जिव्हामूल
  कार्य- उत्तम रस ज्ञान करवाना।
  -सु०सं०सू० २१

- **तर्पक-स्थान-शिर**
  कार्य -इन्द्रियों का पोषण
  -अ०हृ०सू० १२
  शिरस्थानीय श्लेष्मा स्नेह संतर्पण का महत्वपूर्ण कार्य। स्वशक्ति से नासा-कर्ण-नेत्र इ. को स्निग्धता एवं कार्यक्षमता। -सु०सं०सू० २१

- **श्लेषक-स्थान-संधि।** कार्य- संधि स्थानों की स्निग्धता-क्रियाक्षमता। - अ०हृ०सू० २१
  संधिस्थानीय श्लेषक समस्त संधियों को बल प्रदान कर सतत क्रियाकारी रखता है। -सु०सं०सू० २१

१. अवलबक– उरस्थ: सत्रिकस्य स्ववीर्यत: हृदय स्यान्न वीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा। कफ धाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलंबनम् अतोऽवलम्बक: श्लेष्मा।

-अ०हृ०सू० १२

उरस्थ त्रिक् सन्धारणमात्मवीर्येणान्नरस सहितेन हृदयालम्बनं करोति।

-सु०सं०सू० २१

२. क्लेदक– यस्त्वामाशय संश्रित:, क्लेदक: सोऽन्नसंघात क्लेदनात्

-अ०हृ०सू० १२

आमाशयस्थ श्लेष्मा स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति।

-सु०सं०सू० २१

३. बोधक– रसबोधनात् बोधकोरसनास्थायी

-अ०हृ०सू० १२

जिव्हामूलं कंठस्थो जिव्हेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग् रस ज्ञाने वर्तते।

-सु०सं०सू० २१

४. श्लेषक– संधिसंश्लेषणात् श्लेषक:

-अ०हृ०सू० १२

५. तर्पक– शिरसंस्थोऽक्ष तर्पणात् तर्पक:।

-अ०हृ०सू० १२

## आयुर्वेदोक्त साधक पित्त एवं वर्तमान 'अॅड्रेनलीन'

हृदस्थानीय साधक पित्त भय-क्रोध-शोक-हर्षादि संपादित करता हैं।

आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान वर्णित अधिवृक्क ग्रंथि मध्य भाग से (Adrenal medula) स्रावित होने वाला अॅड्रेनलिन प्राचीनोक्त साधक पित्त के कार्यो को ही संपादित करता है।

अॅड्रेनलिन का स्थान प्रत्यक्षत: हृदय तो नहीं कहा जा सकेगा। फिर भी हर समय यह

हृदय के मार्फत ही रक्त के साथ समस्त शरीर में प्रक्षेपित किया जाता रहता है। आयुर्वेद ने साधक पित्त का हृदय पर कार्य वर्णित किया है। यह अॅड्रेनलिन भी हृत्पेशियों पर ही कार्यकर होता है। इस दृष्टि से अॅड्रेनलिन का स्थान हृदय कहा जाय तो इसे कोई गलत बात नहीं कहा जा सकता।

रस का आयुर्वेदोक्त स्थान हृदय है। वास्तवत: रस का स्थान ग्रहणी होते हुये भी वह रस हृदय के ही मार्फत हर समय समस्त शरीर में प्रक्षेपित किया जाता रहता है। इस दृष्टि से रस का स्थान हृदय को कहा जाना अनुचित नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से प्राचीनोक्त साधक पित्त तथा वर्तमान 'अॅड्रेनलिन' इनमें साम्य दिखायी देता है और विचार आता है कि क्या प्राचीन आयुर्वेदोक्त वह साधक पित्तहि आधुनिकोक्त 'अड्रेनलिन' है ? —वैद्य रणजीत राय देसाई—

## आयुर्वेदोक्त पंचप्राण तथा आधुनिक क्रियाशारीरोक्त नाड़ी संस्थान (Nervous system) —

प्राण
व्यान
उदान
समान
अपान

यह आयुर्वेदोक्त पंचवायु शरीरस्थ समस्त क्रिया, गति चलन वलन इ. सबको कारणीभूत होते हैं। इनकी महत्ता के कारण ही आयुर्वेद ने पंचप्राण यह संज्ञा इन्हें प्रदान की है।

१. प्राण- प्राणोऽत्र मूर्धग:-प्राण वायु के इस स्थानानुसार तथा इसके आयुर्वेदोक्त कर्म विवेचन अनुसार आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञानोक्त शीर्षण्य नाड़ियाँ (Cranial Nerves) तथा उनमें अनुस्यूत उत्तर स्वतंत्र नाड़ी संस्था का इसमें अंतर्भाव होता है।

२.अपान- श्रोणि-बस्ति इ. अपान वायु के आयुर्वेदोक्त शरीर में स्थान हैं।

अपान वायु के आयुर्वेदोक्त कर्मों के अनुसार आधुनिकोक्त सुषुम्नाकांडीय अनुकटिक अंश (Lumber) तथा अधिबस्तिक नामक चक्र (Hypogastric plexus) है।

प्राचीन अपानोक्त कर्म-मल-मूत्र-शुक्रार्तव-गर्भ इ. की प्रवृत्ति करना और ये ही कर्म आधुनिकोक्त (Hypogastric plexus) के भी हैं।

३.उदान- आयुर्वेदोक्त स्थानों के और कर्मों के अनुसार-आधुनिकोक्त

मध्यस्वतंत्र नाड़ी संस्थान का अंशभूत-उत्तर अनुग्रैविक नाड़ीकन्द (Sup. Cervical ganglia) सुषुम्ना कांडीय (Spinal Cord) अनुग्रैविक भाग

(Cerviacal Part) और उसी के अनुपृष्टिक भाग का (Thoracic part) ऊपर आया हुआ भाग तथा वहाँ से नीचे के ग्रीवा के ऊपर कंठ एवं छाती में श्वासपटल (Diaphragm) पर्यन्त स्थित नाड़ियाँ (Nerves) होती हैं।

४.व्यान- आयुर्वेदोक्त 'हृदिस्थित:' तथा 'देहचारी महाजव:' इ. के वर्णन के अनुसार तथा इसकी आयुर्वेदोक्त क्रियाओं के अनुसार-आधुनिकोक्त--शीर्षण्य नाड़ियों को (Cranial Nerves) छोड़कर शेष मस्तिषक-सौषुम्निय नाड़ी संस्थान (Cerebro-spinal nervous system) के क्षेत्र के कार्य भी वही हैं जो प्राचीनोक्त व्यान के कर्म निर्देशित किये गये हैं।

५.समान- 'अग्निसमीपस्थ:'-'कोष्ठे चरति सर्वत:' इस प्राचीनोक्त वर्णन के अनुसार तथा वर्णित क्रियाओं के अनुसार–

आधुनिकोक्त-सुषुम्ना अनुपृष्टभागीय-(Thoracic Part of the spinal cord)
ऊपर का अर्ध भाग,
अनुपृष्टिक स्वतंत्र नाड़ीकंद-(Thoracic sympathetic ganglia)
सौरमंडल-(solar plexus)

उदर स्थित चक्र, जिसका मूल-पीठ में पृष्टवंश के बाहर स्थित एक नाड़ीकन्द। इसे इसके कार्य के अनुसार **'उदर्य मस्तिष्क'**-यह नाम दिया हुआ दिखायी देता है। यही योगियों का प्रसिद्ध **'मणिपूर-चक्र'** है।

उत्तरांत्रिक चक्र (superior mesentric plexus)

अधरांत्रिक चक्र (Inferior mesentric plexus) तथा पाचनयंत्र नियामक सौषुम्निक नाड़ियाँ (spinal nerves) ये होते हैं।

- प्रत्यक्ष शारीर-आचार्य गणनाथ सेन

आधुनिकोक्त **'Melanin'** यही प्राचीन आयुर्वेदोक्त **'भ्राजक पित्तं'** दर्शन शास्त्र (Phylosophy) एवं आयुर्वेद के अनुसार दोष ये गुण-कर्मो के आश्रय स्थान होने के कारण वे द्रव्य हैं, उन्हें नीरी 'शक्ति' नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से उष्णता यह द्रव्यरूप न होने के कारण उसे पित्त नहीं कहा जा सकता।

त्वक्‌गत रंजक द्रव्य 'Melanin' का संबंध उष्मा से निश्चित रूप से प्रतीत होता है। शीत प्रदेशीय व्यक्तियों की त्वचा में यह Melanin नामक द्रव्य अल्प तथा अत्यल्प प्रमाण में होता है। (अथवा उसका आभाव होता है) और इसीलिये उनकी त्वचा रंगहीन (अतिगौर वर्णीय) होती है। इसके विपरीत अति उष्ण प्रदेशों में-अफ्रीका-अरबस्तान इ० के लोगों की त्वचा लालीमायुक्त काली होती है। क्योंकि उनकी त्वचा में यह 'Melanin' नामक रंगद्रव्य (Pigment) प्रभूत मात्रा में उपस्थित होता है।

शीत प्रदेशीय लोग जब प्रदीर्घ काल तक उष्ण प्रदेश में आकर बसते हैं तब धीरे

धीरे उनके त्वक् वर्ण में फर्क पड़ता जाकर त्वचा लालीमायुक्त कृष्णता धारण कर लेती है।

इससे ऐसा लगता है कि त्वक्स्थ ' Melanin' का सम्बन्ध उष्मा के साथ निश्चित ही होना चाहिये।

आयुर्वेद की दृष्टि से पित्त वर्ग में जिन द्रव्यों को रखा जा सकता है उनका रासायनिक स्वरूप Harmone सदृश होता है।

उदा-चुल्लिका ग्रंथि का (Thyroid Gland) अंत:स्रांव-'थायरॉक्झीन'

अधिवृक्कीय मध्यभागीय स्राव-'अॅड्रेनलीन' तथा 'हेमोग्लोबिन' की रासायनिक रचना का पूर्वरूप (Precursor) Tryrosyine से बहुत मिलती जुलती है।

इस दृष्टि से भी Melanin पित्त वर्ग में अन्तभूर्त किया जा सकता है और इसलिये इस Melanin को 'भ्राजक पित्त' के नाम से संबोधित करना तर्कसंगत ही लगता हैं।

-कायचिकीत्सा-वैद्य रणजीत राय देसाई

# आयुष्य-लक्षण
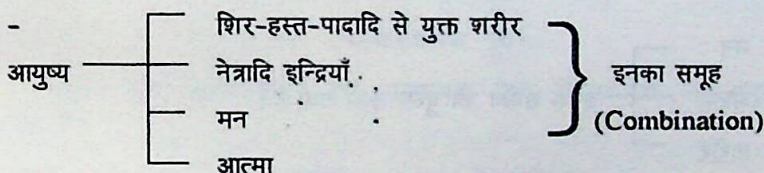
शारीर घटना पंचमहाभूतों से बनी हुयी है। शरीर यह (प्राक्तम भागों के अनुसार) आत्मा का उपभोग लेने का मन्दिर है।

जन्म जन्म की शुभाशुभ इच्छायें - आसक्तियाँ मन के माध्यम से (प्राक्तन भोगों के अनुसार) उत्पन्न होकर शरीर में स्थित आत्मा सुख दु:खादि भोग भोगता रहता है।
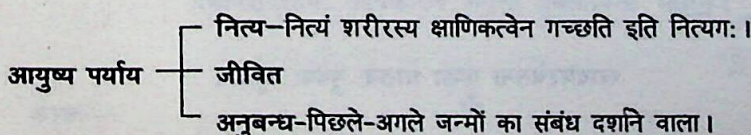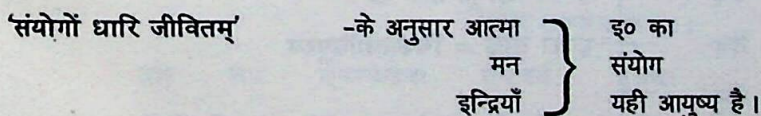
प्राचीन भारतीय विचार प्रणाली के अनुसार सूक्ष्म शरीरस्थ मन युक्त आत्मा उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अनेकानेक योनियों में (प्राक्तन भोगों का अन्त हो जाने तक) भटकता रहता है। तथा पूर्वजन्म कृत सुकृत-दृष्कृतों का अनुबन्ध प्रत्येक जन्म में होता है।

आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों से वियोग हो जाने तक यह 'आयुष्य' विद्यमान होता है।

विभिन्न योनियों से आत्मा का गमन। इस 'अनुबन्ध' शब्द से सूचित होता है।

शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगों धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरूच्चते।।

-च०सं०सू० २१

# पुरुष

मन
आत्मा — इनके संयोग को पुरुष कहा गया है।
शरीर

सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।

-च०सं०सू० १

खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।

- चरक

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिक: स्मृत:

मनोदशेन्द्रियाण्यार्था: प्रकृतिश्चाष्ठ धातुकी ।

– च० स० शा० १

पंचमहाभूतोत्पत्ति मूल प्रकृति से ।

पंचमहाभूत + आत्मा
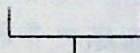
षड्धात्वत्मक: पुरुष:

चैतन्य युक्त (आत्मा‌युक्त) तथा प्रमाणबद्ध ऐसा पंचमहाभूतों का समूह यह शरीर है।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतम्

पंचमहाभूतविकार समुदायात्मकं समयोगवाही ।

-च० सं० शा० ६

प्रकृति-महान, अंहकारादि-२४ तत्त्व + चेतना (आत्मा)

इनका समवाय=शरीर ।

तत्र सर्व एवाचेतना एषवर्ग: पुरुष:

पंचविशतितम: कार्यकारण संयुक्त श्चेतायिता भवनि ।

-सु० सं० शा० १

❖

# सृष्टि उत्पत्ति

सृष्टि की उत्पत्ति के
कारणों में आयुर्वेद ने
स्वभाव
ईश्वर
काल
यदृच्छा
नियति
परिणाम
इन कारणों का
निर्देश किया है।
प्रकृति
सत्व-रज-तम ये तीनों गुण सम = प्रकृति
ये गुण जब विषम हो जाते है तब सृष्ट्युत्पत्ति।
महान (बुद्धि)
(त्रिगुणात्मक–सत्वरजतमात्मक)
अंहकार
वैकारिक अंहकार
+ रजोगुण इनसे
पंचज्ञानेन्द्रियाँ
पंचकर्मेन्द्रियाँ
मन इनकी उत्पत्ति
भूतादि अंहकार+रजोगुण इनसे पंचतन्मात्रा
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गन्ध की
उत्पत्ति
से पंचमहाभूत
आकाश
वायु
तेज
अप्
पृथ्वी की
उत्पत्ति।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. शब्द तन्मात्रा से | शब्द गुण | आकाश उत्पन्न। | |
| २. स्पर्श '' | शब्द स्पर्श | वायु | '' |
| ३. रूप '' | शब्द-स्पर्श-रूप | तेज | '' |
| ४. रस '' | '' '' | '' - रस गुण अप् उत्पन्न | |
| ५. गन्ध '' | '' '' | '' '' गन्ध गुण पृथ्वी उत्पन्न। | |

इस प्रकार आकाश महाभूत शब्द इस एक गुण से युक्त। फिर आगे आगे एक एक गुण की वृद्धि होती जाकर पृथ्वी महाभूत पाँचों गुणों से (सर्व गुण युक्त) युक्त। इस तरह से तन्मात्राओं से महाभूतों की रचना हुयी।

=कुल २४ तत्व + पुरुष (चेतन-आत्मा) = सृष्टयुत्पत्ति।

आयुर्वेद सिर्फ दृश्य स्वरूपीय बाह्य शरीर को ही महत्व नहीं देता है तो शरीरेन्द्रियाँ, सत्व (मन) एवं चेतना (आत्मा) इस तरह के पूर्ण पुरुष का गंभीर स्वरूपीय विचार आयुर्वेदने विशद किया है। इसी कारण स्वस्थता वा निरोगिता की परिभाषा करते समय बाह्य शरीर की सुंदरता-सुघडतादि पर ही सिर्फ ध्यान केन्द्रित न करते हुये आत्मा इन्द्रियाँ एवं मन इन सबमें ही यदि प्रसन्नता होती है तो ही वह स्वस्थ या निरोगी कहा जा सकता है।

**प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।**

नित्यप्रति आसपास के संसार में हम देखते हैं कि बाह्यांग से सुंदर-सजिले दिखने वालों में कोई भीषण मनोरूग्ण होता है तो कोई कामभावना से पागल बना किसी पर बलात्कार की योजना मन में बनाते रहता है तो कोई अपने मित्र का खून कर उसके दो लाख रुपयों पर कब्जे की योजना में खोया हुआ दिखायी देता है। ऐसे व्यक्ति का खाना-पीना उठना-बैठना-सोना किसी भी बात में मन नहीं लग पाता। मन अशान्त होता है। ऐसी स्थिति में मन और पर्याय से आत्मा अशांत होता है। आधुनिक **'Psychiatry'** भी इन बातों का गंभीरता से विचार करती हुयी दिखायी देता हैं। शरीर स्वस्थ होने पर भी ऐसे कई लोग देखे जा सकते हैं, जिनसे मानसिक रोगियों के अस्पताल भरे पड़े हैं।

ऐसी स्थिति में आयुर्वेदोक्त तन और मन दोनों ही स्वस्थ होना सच्चा स्वास्थ्य है-यह कथन आज के विज्ञान की-प्रगति की चकाचौंध में भी शत प्रतिशत वैज्ञानिक साबित होता है।

## पुरुष:—आत्मन: लक्षणानि—

प्राण (श्वसन प्रक्रिया), अपान वायु का निरंतर चलने वाला कार्य (पुरीष-मूत्र-स्वेदादि-विसर्जन), पलकों का खुलना-बंद होना, मन की सत्वरस्वरूपीय तिव्रतम गति (एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रिय में मन द्वारा त्वरित संचार किया जाना), स्वप्न में देशान्तर गमन करना, आयुष्य, मृत्यु का ग्रहण, वाम नेत्र से देखी हुयी वस्तु का दक्षिण नेत्र को ज्ञान होना।

इच्छा-द्वेष-चेतना-सुख-दु:ख-प्रयत्न-बुद्धि-स्मरण-धृति-अहंकार-इ. से युक्त होना- ये चेतन पुरुष के लक्षण कहे जाते हैं।

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गति:
इन्द्रियान्तरसंचार: प्रेरणं धारणं च यत्।
देशान्तर गति: स्वप्ने पंचत्व ग्रहणं तथा
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सत्येनावगमस्तथा।
इच्छा द्वेष सुखं दु:खं प्रयत्न श्चेतना धृति:
वुद्धि: स्मृतिरहंकारों लिङ्गानि परमात्मन:।

—च०सं०शा० १

पंचज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ } पंचमहाभूतों से उत्पन्न

१. श्रवणेन्द्रिय का सम्बन्ध सिर्फ आकाश महाभूत से। शब्द जिसका धर्म है।
२. स्पर्शनेन्द्रिय का सम्बन्ध सिर्फ आकाश एवं वायु महाभूत से। शब्द स्पर्श जिसका धर्म है।
३. रूपेन्द्रिय का सम्बन्ध सिर्फ आकाश एवं वायु—तेज महाभूत से। शब्द स्पर्श रूप जिसका धर्म है।
४. रसेन्द्रिय का सम्बन्ध आकाश—वायु—तेज एवं अप् महाभूत से। (शब्द स्पर्श रूप रस)।
५. गन्धेन्द्रिय का सम्बन्ध आकाश-वायु-तेज अप् एवं पृथ्वी महाभूत से।(शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध)।

इ. अनेकानेक काम इन कर्मेन्द्रियों के द्वारा संपादित किये जाते हैं।

हस्त पाद गुदोपस्थं जिव्हेन्द्रियमथापि च
कर्मेंद्रियाणि पंचैव पादौ गमन कर्मणि।
पायुपस्थौ विसर्गार्थे हस्तौ ग्रहण धारणे
जिव्हा वागिन्द्रियं वाक् च सत्याज्योति स्तमोनृता।

-च०सं०शा० १

## पंच महाभूत–

प्राणि शरीर पंच महाभूतों से बना हुआ रहता है। सृष्टिस्थ समस्त वस्तुयें भी इन्हीं पंचमहाभूतों से घटित होती हैं।

**यह समस्त चराचर=सृष्टि ही पंचमहाभूतात्मक है।**

महाभूतानि खं वायुरग्निराप: क्षितिस्तथा
शब्द: स्पर्शश्च रूपं च रसौ गन्धाश्च तद् गुणा:।
तेषामेकं गुण: पूर्वो गुणवृद्धि परे परे
पूर्व: पूर्व गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृता:।

-च०सं०शा० १

१. पृथ्वी महाभूत-खरत्व।
पार्थिवस्तु गन्धो गन्धन्द्रियं सर्वमूर्त समूहो गुरुता चेति।

-सु०सं०शा० २

२. अप् महाभूत-द्रवत्व।
आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्य स्नेहोरेतश्च।

-सु०सं०शा० २

३. नेज महाभूत-उष्णता। तेज

तैजसास्तु रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो

भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च। -सु०सं०शा० २

४. वायु महाभूत-चलत्व-गतिमानता

वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टा समूहः

सर्व शरीरस्पंदनं लघुता च। -सु०सं०शा० २

५. आकाश महाभूत-अप्रतिघात-(आघात वा प्रहार करने पर प्रत्याघात वा प्रतिप्रहार की संभावना न होना)

अंतरिक्षास्तु शब्दः शब्देन्द्रियं सर्व छिद्रसमूहो विविक्तता च।

-सु०सं०शा० २

खर द्रवोचलण्णत्वं भूजलानिल तैजसाम्

आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिङ्गं यथोक्रमम्।

-च०सं०शा०१

## स्पर्शनिन्द्रिय महत्ता–

स्पशनिन्द्रिय को शरीरेन्द्रियों में अति महत्वपूर्ण माना गया है। इसी के द्वारा समस्त लक्षणों की अनुभूति की जाती है।

तत्वतः सभी इन्द्रियों का अन्तर्भाव इसी स्पशनिन्द्रिय में ही हो जाता है।

कानों से सुनना यह भी एक प्रकार की स्पर्श क्रिया ही होती हैं। कर्णस्थ श्रवण मज्जातन्तु (The fibres of Auditory nerve) जो त्वचा में होते हैं, वे ही शब्दों का वहन करते हैं।

स्पशनिन्द्रिय शरीरस्थ समस्त इन्द्रियों में अङ्गोपाङ्गों में व्याप्त है और इसी लिये शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि सभी-स्पशनिन्द्रिय गोचर होते हैं।

लक्षण सर्वमेतत् स्पर्शनिन्द्रिय गोचरः

स्पर्शनिन्द्रिय विज्ञेयः स्पर्शोहि स विपभर्यः। -च०सं०शा० १

१. आकाश गुण-शब्द-शब्देन्द्रिय (कर्ण)–

समस्त छिद्र समूह - पृथकत्व। शरीरस्थ समस्त छिद्र-समस्त अवकाश युक्त स्थान-समस्त स्रोतस

२. वायु गुण-स्पर्श-स्पर्शनेन्द्रिय-

चलन वलनादि समस्त क्रियाव्यापार। देहस्थ समस्त क्रियाकलाप -लघुता श्वसन क्रिया-पलकों का खुलना-बंद होना, हस्तपादादिका संकोच-विस्तार गति-प्रेरणा-धारण-स्पर्श विभिन्न क्रिया।

३. तेज गुण-

रूप-रूपेन्द्रिय वर्ण-सन्ताप-तेजस्विता-क्रोध-शौर्य-तीक्ष्णता पचन क्रिया पित्त-उष्णता-कान्ति-रूप-दृष्टि इ.।

४. अप् गुण-

रस-रसनेन्द्रिय-समस्त द्रव समुदाय शैत्य-जड़त्व-स्नेह-शुक्र जलीय अवयव-रस-वसा-कफ-पित्त-मूत्र-स्वेद-रस-जिव्हा-शुक्र, द्रव, फैलने वाले, स्निग्ध श्लक्ष्ण पदार्थ।

५. पृथ्वी गुण-

गन्ध-गन्धेन्द्रिय-समस्त भूत समूह, जड़ता-पार्थिव अवयव-नख-अस्थि-दन्त-मांस-त्वक्-पुरीष-केश-श्मश्रु-लोम-कण्डरा-नासा-स्थूल-दृढ़-साकार-वजनयुक्त-खर-कठिन गुण युक्त जो जो हैं, वे सब पार्थिव।

# सत्व-रज-तम

सत्व-रज-तम को ही मन कहा गया है। सत्व-रज-तम ये मन के गुण या अंश हैं।

सत्व-यह गुण है जो कभी प्रदुष्ट नहीं होता। रज-तम-ये मनोदोष हैं, जिनकी दृष्टि से विभिन्न मनोविकारो की उत्पत्ति होती है।

सामान्य स्थिति में (शरीर एवं मन की निरोगी स्थिति में) ये सत्व-रज-तम परस्पर से न टकराते हुये परस्पर सहकार्य से कार्य संपन्न कराते रहते हैं।

सत्व-रज-तम का स्वरूप तथा उनके परस्पर सहकार्य से कार्य किस तरह संपन्न होता है-इसके लिये दीपक का समर्थक उदाहरण दिया गया है।

| | |
|---|---|
| दीपक तथा उसकी बत्ती(वर्तिका) तम<br>दीपक में डाला गया घी-तेल इ० रज<br>दीपक की जलती हुयी ज्योत - सत्व | इनके परस्पर सहकार्य से दीपक जलता रहता है, तथा प्रकाश देने का कार्य संपन्न होता है। |

पंचमहाभूत एवं सत्व-रज-तम-

| | |
|---|---|
| १. पृथ्वी | तमो बहुल |
| २. अप् | सत्व तमो बहुल |
| ३. तेज | सत्व रज बहुल |
| ४. वायु | रजो बहुल |
| ५. आकाश | सत्व बहुल। |

तत्र सत्व बहुल माकाशं, रजोबहुलो वायु: सत्वरजोबहुलोऽग्नि, सत्वतमो बहुलाप:, तमो बहुलापृथिवी इति।

-सु०सं०शा० १

सत्व-

सत्व यह गुणस्वरूप है और इसीलिये सत्वप्रकृति सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

१. प्रकृतिस्थ सत्वगुण- क्षमा-सत्य-धर्म-आस्तिक्य-ज्ञान-बुद्धि-मेधा-स्मृति-धारणा- गुणों से युक्त अक्रूरता यह स्वभावधर्म। बँटवारा करा लेने की वृत्ति (विभाजन), निष्काम कर्म भावना, दूसरों को फँसाना-लूटना-उनका विश्वास घात करना-आदि विचार भी कभी मन में न आना। इह-परलोक का विचार कर सदोदित सत्कर्म-परोपरादि में रत रहना। अन्याय-अत्याचार-दुराचार इ. से सदा अलिप्त रहना

इन गुणों से युक्त सत्वगुणी व्यक्ति जनादर-लोक श्रद्धा को सदासदा ही पात्र रहती है। ऐसे व्यक्ति धीर-गंभीर-अन्यों को मार्गदर्शक तथा सदा सब के स्मरण में रह जाने वाली होती है।

२. प्रकृतिस्थ रजोगुण- रजो गुण यह क्रियाकर-क्रिया प्रवर्तक होता है। सतत कार्यशील रहना, शरीर-मन दोनों ही किसी न किसी कार्य में सदा मग्न रहना ये विशेष स्वभाव गुण होते हैं।

काम-क्रोध-दंभ-मान-अहंकारादि भाव उसमें विशेष क्रियारत होते हैं। काम-अहंकारादि भावों की पूर्ति के खातिर अन्यों पर अन्याय-निर्दयता भी हुयी तो भी उसका उन्हें कुछ नहीं लगता।

किसी भी योग्य हो अथवा अयोग्य मार्ग से अपनी कार्य सिद्धी कर लेने की वृत्ति से युक्त होते हैं, परिणाम स्वरूप विन्ता-दुःख बहुलता का उन्हें सामना करना पड़ता है।

चंचल-क्रोधी-विचारों में अस्थिरता आदि विशेषताओं से युक्त होते हैं।

३. प्रकृतिस्थ तमोगुण– तम की प्रधान विशेषता जड़ता। अतः प्रकृति में अकर्मण्यता-तन्द्रालुता (आँखे अलसायी हुयी-शरीर जड़ता तथा आलस्य युक्त)-निद्राप्रियता (बैठे-बैठे या काम करते करते ऊँघने लगना) आराम प्रियता।

जितना कहा गया है बस उतना ही किसी प्रकार करके छूट्टी पा लेने की प्रवृत्ति।

बुद्धि पर तम का आवरण होने के कारण योग्या- योग्य-हिताहितकर आदि का विचार बुद्धि कर नहीं पाती। तथा योग्य निर्णय लेने की बुद्धि की क्षमता नहीं होती।

बुद्धि विपरीत आचरण वा प्रज्ञापराध-यह तमो प्रधान प्रकृति की विशेषता होती हैं। अतः जीवन में सुख-प्रगति-कुछ विशेष कर पाना-यह इन्हें असाध्य ही रहता है।

अति स्वार्थी-नास्तिक- दुष्ट बुद्धि, अधर्माचरणी-जीवन में ऊँची उड़ान भरने की न कभी इच्छा होना और न कभी वह उन्हें संभव हो पाना-ये तमोगुणी प्रकृति की विशेषतायें होती है।

बुद्धि पर तम का आवरण-अतः अज्ञान और इसीलिये जीवन दुःख विषाद से भरा हुआ।

सत्व प्रकृति जैसी सर्व श्रेष्ठ मानी गयी है वैसे ही उसके विपरीत तमोगुणीय प्रकृति अति हीन कही जाती है।

# मन

सृष्टि की उत्पत्ति के चौबीस तत्वों में मन का भी उल्लेख किया हुआ है।

मन यह उभयेन्द्रिय है अर्थात् वह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा

कर्मेन्द्रियाँ दोनों भी मन के बिना क्रिया संपन्न करने में नितान्त असमर्थ होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ दोनों की ही क्रियाओं का नियन्ता-प्रणेता मन ही होता है।

**मन का सन्निकर्ष** प्राप्त हुये बिना इन्द्रिय एवं विषय दोनों का योग्य संयोग हो जाने पर भी उस विषय का ज्ञान उस इन्द्रिय को ही नहीं पाता। उसी प्रकार कार्य करने वाली कर्मेन्द्रिय से मन का सन्निकर्ष होने के अभाव में कर्मेन्द्रिय का वह कार्य संपादित नहीं हो पाता।

रास्ते से चलते समय यदि आदमी किसी गहन विचार में खो जाता है तो उसका मन अर्थातहि चलने वाले पैरों के (कर्मेन्द्रिय) साथ अपना सन्निकर्ष नहीं रख पाता क्योंकि वह किसी गहन विचार में रत हुआ रहता है। परिणाम स्वरूप पैर किसी पत्थर से टकराता है और उस लगी हुयी ठोकर से उसका अंगूठा जख्मी हो जाता है।

शोकमग्न कोई व्यक्ति अपने इस प्रिय के शोक में डूबी है-ऐसी स्थिति में अर्थातहि आँख या कान किसी भी ज्ञानेन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष न रह पाने के कारण उस व्यक्ति के पास आकर बैठी हुई व्यक्ति (दर्शन), उस व्यक्ति ने उस के नाम का किया संबोधन (शब्द सुन पाना) किसी का भी उसे ज्ञान नहीं हो पाता।

## मन ही सत्व है–

प्राणोत्क्रमण के समय आत्मा उस देह को छोड़ कर बाहर पड़ती है तब उसके साथ मन भी शरीर छोड़ कर बाहर पड़ जाता है।

स्थूल देह का त्याग करने के उपरान्त मनयुक्त सूक्ष्म देह में आत्मा स्थित हुई रहती है। प्राक्तन भोग भोगने के लिये (जन्म जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना) यह आत्मा मन सहित उस सूक्ष्म देह में रहती हुई अनेकानेक योनियों में भटकती रहती है।

जब कभी प्राक्तन भोगों का अन्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के समय में यह आत्मा मनयुक्त सूक्ष्म देह का त्याग कर जन्म-मृत्यु के फेरों से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जाती है।

इस प्रकार मन का आत्मा से जन्मजन्मांतरों का सम्बन्ध होता है। जैसे शुभ या अशुभ प्राक्तन भोग होंगे-उनके अनुसार वैसी शुभाशुभ इच्छा मन प्रदर्शित करता है और उस इच्छा के अनुसार शुभाशुभ कर्म संपन्न किये जाते हैं।
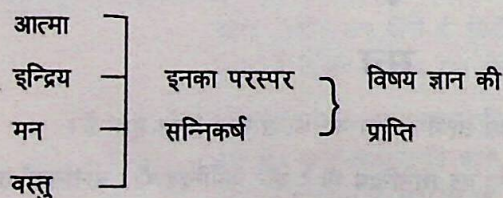
सुखद कल्पनाओं के भावेष्य रंजन में मन पूर्णतः रममाण होने की स्थिति में सुगन्धित फूलों का गुच्छ लेकर पास में आकर बैठी हुयी तथा गुन गुनाती हुयी व्यक्ति का कोई भान नहीं हो पाता। न कान शब्द सुन पाते हैं, न आँखें-आयी हुयी व्यक्ति को देख सकती हैं और न ही नासा को फूलों की मीठी महक की कोई अनुभूति होती है। लेकिन विचार शृंखला टूटते ही अब उसी व्यक्ति को आयी हुयी व्यक्ति भी दिखायी दे जाती है तथा लाये हुये फूलों की गन्ध भी अब उसे महसूस होती है। क्योंकि विचारों में लीन मन तन्द्रा टूटने के कारण अब चक्षु-कर्ण-नासादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष कर पाता है जिससे वे इन्द्रियाँ अपने अपने ज्ञान का ग्रहण अब कर पाती हैं।

**मन एक समय में किसी एक ही विषय से सन्निकर्ष कर पाता है।**

किन्तु विषयों से संयुक्त होने की मन की गति इतनी तीव्र होती है कि समस्त विषयों का ज्ञान एक ही समय-एक साथ होने का आभास उत्पन्न होता है।

**लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावोभाव एव च**
**सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षज वर्तते।**

-च०यं०शा १

**वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तत् च वर्तते।**

सूक्ष्मत्व
एकत्व } मनगुण
तीव्रगामित्व

एक ही समय में समस्त विषयों का ज्ञान होने का आभास होने के कारण (मन की तीव्रतम गति के कारण) मन अनेक वा अनेक रूपीय होने बाबत शंका हो जाती है। किन्तु मन न अनेक हैं न अनेकरूपीय। यही एक मात्र मन अपने तीव्रगामित्व के कारण दशों इन्द्रियों से सन्निकर्ष करता रहता है तथा उन उन इन्द्रियों को विषय ज्ञान की प्राप्ति करवाता रहता है तथा विभिन्न कर्मो की संपन्नता करवाता रहता है।

**अणुत्वमथ च एकत्वं द्वौगुणौ मनसः स्मृतौ।**

-च०सं०शा० १

मन इन्द्रियों के द्वारा पदार्थो को ग्रहण करता रहता है।

१. इन्द्रियों पर नियंत्रण
२. विचार करना
३. इन्द्रियों से विभिन्न काम करवा लेना
४. ज्ञानेंद्रियों को उनके विषयों का ज्ञान करवाना

} मन के कर्म

इन्द्रियाभि निग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः
मुहोविचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते।

-च०सं०शा० १

चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थ संज्ञकम्।

-च०सं०शा० १

मन का स्थान–

१. अति वृद्ध दोष हृदय को (जो प्राणों का स्थान होता है) दूषित् कर मन, वाणी तथा शरीर की क्रियाओं का अवरोध कर उन्हें बंद कर देते हैं।

वाग्देह मनसां चेष्ठामाक्षिप्यतिबलामलाः
संन्यस्थन्त्यबलं जंतुं प्राणायतन संश्रिताः।

-च०सं०सू० २४

२. वातादि दोष संज्ञावह स्त्रोतसों में तथा रजस्तमादि मनोदोष प्रविष्ठ होकर उनके द्वारा संज्ञावह स्रोतसों के व्याप्त हो जाने पर मन व्यग्र होकर मूर्च्छित हो जाता है।

संज्ञावहेषु स्त्रोतांसु दोषव्याप्तेषु मानवः
रजस्तमः परितेषु मूढ़ों भ्रान्तेन चेत सा।

-सु०सं०उ० ६१

३. दोष प्रकुपित होकर-उन्मार्ग गामी होकर मनोवह स्रोतसों में प्रविष्ठ होकर मदयुक्त बना देते हैं, जिसे 'उन्माद' कहते हैं।

मदयन्त्युद्गता दोषाः यस्मादुन्मार्ग माश्रिताः
मानसोऽयमतो व्याधिरून्माद इति कीर्तितः।

-सु०सं०उ० ६२

४ जीवित शरीर यह मनादि अतिन्द्रियों का अधिष्ठानभूत होता है।

**तद्वदतीन्द्रियाणां सत्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीर**
**मयन भूतमधिष्ठान भूतश्च।**

-च०सं०वि० ५

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन का अधिष्ठान जो हृदय, तत्स्थानीय मनोवह वा संज्ञावह स्रोतस जब वातादि शारीर अथवा रजादि मनोदोषों से आवृत्त हो जाते हैं तब उन्माद-अपस्मारादि मनोव्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त चेतन शरीर ही मनोवह स्रोतस रहते हुये भी हृदयस्थ संज्ञावह वा मनोवह स्रोतस-मन का अधिष्ठान है।

सम्यक् योग से सुख की प्राप्ति होती है तो हीन मिथ्यादि योगों के कारण दुःख प्राप्त होता है। लेकिन इस सुख दुख के ज्ञानार्थ

| | |
|---|---|
| आत्मा<br>मन<br>बुद्धि<br>इन्द्रियाँ | इनकी अनिवार्यतः जरूरत रहती हैं। इनमें से एक का भी सन्निकर्ष यदि ओछा (कम) रहा तो सुख दुःखानुभूति नहीं हो सकेगी। |

मन यह एक तरफ तो इन्द्रियों के माध्यम से चतुर्विध योग की साधना करता है तो दूसरी तरफ आत्मा से स्पर्शनिविष्ट रहता है, जिससे सुख दुःखादि की अनुभूति होती है।

**हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगोदृष्टश्च चतुर्विधः**
**नात्मेन्द्रिय मनोबुद्धि गोचरं कर्म वा विना**
**सुखं दुःख यथा यत्तुबोद्धव्यं तत्तयोच्यते।**

-च०सं०शा० १

मन को 'सत्व' कहा गया है। आत्मा के संयोग से मन शरीरधारण (नियमन) एवं प्रेरण करता रहता है। सत्व गुण के प्रमाणानुसार मन का बल ठहराया जाता है। हर्ष, शोक, दुःखादि समस्त स्थितियों में सत्व बल व्यक्ति कभी विचलित नहीं हो पाता।

**सत्व मुच्यते मनः।**
**तच्छरीरस्य तंत्रकं आत्मसंयोगात्।**

-च०सं०वि० ९

सत्वं तु व्यसनाभ्युदय क्रियादि स्थानेष्वविक्लवकरम्।

-सु०सं०सू० ३५

सत्वं मनोबलो गुण विशेषो रजस्तमसोर्तिपक्ष:
सत्वे सति पीडादि सहिष्णुत्व लक्षणं मनोबलं भवति।

-डल्हण

क्रमागत सत्वपरीक्षायां सत्वं सत्वगुणो मनोगत:
तदुत्कर्षान्मनोबल वदभ्दवति।
अविकल्पो अविकृतित्वं सुख दुःख हैतो निर्भय
विकारशून्यता अविक्लव:।

-चक्रपाणि

सत्वगुण की अधिकता से —— श्रेष्ठ मनोबल —> प्रवर सत्व
रजोगुण की अधिकता से —— मनोबल मध्यम —> मध्य सत्व
तमोगुण की अधिकता से —— मनोबल हीन —> अवरसत्व वा हीनसत्व

सत्वान सहते सर्वं संस्तभ्यात्मान मात्मना
राजस: स्तभ्यमानोऽन्यै: सहते नैव तामस:।

-सु०सं०सू० ३५

**मन–त्रिदोष सम्बन्ध–**

हृदय को मन का स्थान कहा गया है। 'हृदय' शब्द संहिताओं में कभी मस्तिष्क (Brain) तो कभी हृदय (heart) के अर्थ में प्रयोजित किया दिखायी देता है।

**प्राण वायु-** यह 'मूर्धग:' अर्थात् शिरस्थानीय रहकर बुद्धि-पित्त-इन्द्रियाँ तथा हृदय इन्हें धारण करता है। 'धमनी' द्वारा बाह्येन्द्रियों के विषय मन तक पहुँचाता है।

**उदान वायु-** 'उर: स्थानीय' होकर स्मृति-उत्साहादि को उत्पन्न कर ऐच्छिक क्रियायें संपादित करता है। (voluntary movements)

**साधक पित्त-** 'हृदगतं' अर्थात् हृत् स्थान में स्थित होता है। बुद्धि-धारणा -अहंकारादि से वह इष्टार्थ साधन करता है।

**व्यान वायु-** 'हृदिस्थित:' अर्थात् हृदय स्थानों में रहता हुआ समस्त चेष्टाओं का (Activitis, Movements) कारक बनता है। समस्त वायुओं का वहन 'धमनी' मार्फत किया जाता है।

तर्पक कफ- मन एवं इन्द्रियों का पोषण (तर्पण) करता है।

वायु को-"**नियन्ता प्रणेता च मनसः**" कहा गया है। बुरे हेतुओं से यह मन को परावृत्त करता है। मन का नियमन वायु के ही द्वारा किया जाता है। योगशास्त्रोक्त प्राणायामादि क्रिया -वायु के द्वारा मन का नियमन करने के खातिर ही निर्दिष्ट की हुयी हैं।

शरीरस्थ समस्त इन्द्रियां मन के अधीन और मन वायु के अधीन होता है। मन के सान्निध्य में इन्द्रियाँ स्व स्व विषयों का ज्ञान ग्रहण कर पाती हैं। मन का काम उस विषय से सम्बद्ध गुणदोष विवेचन से होता हैं।

फिर बुद्धि का कार्य आरंभ होता है और वह योग्यायोग्यता का निर्णय करती है। इस बुद्धि के आदेशनुसार ही, मन का आचरण होता है।

'निश्चय करना'-यह मन का धर्म नहीं है। सारासार विचार करने वाली बुद्धि ही योग्या योग्यता के बाबत निर्णय लेती है। इसीलिये-

**'निश्चयात्मिका बुद्धिः'**

इस तरह का उसका वर्णन किया हुआ दिखायी देता है।

**इन्द्रियेणोंद्रियार्थोहि समनस्के न गृह्यते**
**कल्प्यते मनसाऽप्यूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा।**
**जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका**
**व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्।**

**-च०सं०शा० १**

## मन एवं निद्रा–

जब मनयुक्त आत्मा निष्क्रीय बन जाता है, उस समय उसके आधीन रहने वाली इंद्रियाँ क्रियाशून्य बन जाती हैं तब वे अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर पाती।

इस तरह से शरीर एवं मन क्लान्त हो जाने पर (थक जाने के कारण) क्रियाशून्य बन जाते हैं तथा मनुष्य को निद्रा आ जाती है।

**यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मनः क्लमान्वितः**
**विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः।**

**-च०सं०सू० २१**

प्राणियों का चेतनास्थान जो हृदय जब तमावृत्त हो जाता है तब निद्रा आती है।

तमोगुण के बिना निद्रा असंभव है तो सत्व गुण के बिना जागृति असंभव हैं।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्

तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम्।

–सु०सं०शा० ४

तमोगुण व्याप्त मन तथा समस्त इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं अर्थात् स्वकार्य संपादनार्थ असमर्थ हो जाती हैं और जीवात्मा निर्विकार होने के कारण वह स्वयं यदि कभी नहीं सोता फिर भी वह निद्रामग्न हो गया-ऐसा कहा जाता है।

करणानां तुवैकल्ये तमसाऽभिप्रार्धिते

अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते।

–सु०सं०शा० ४

**मनोदोष एवं शरीर दोष–**

मानसदोष {
- सत्व (गुणस्वरूप/कभी विकृत नहीं होता)
- रज
- तम

शारीर दोष- {
- श्लेष्मा
- पित्त
- वात

वात-पित- का साम्य रजो दोष से

श्लेष्मा- का साम्य तमो दोष से

केवल शारीर व्याधि
वा
केवल मानस व्याधि ] इस तरह के रोग का प्रदीर्घ काल स्वरूप रह ही नहीं पाता। क्योंकि मन एवं शरीर का आधेयाधार सम्बन्ध होता है। उसी प्रकार मन यह शरीरेन्द्रियों का नियन्ता-प्रणेता होता है। तो शारीर दोष वात यह मन का नियन्ता-प्रणेता होता है।

इस शरीर एवं मन का परस्पर में उलझा हुआ-परस्परा वलम्बित संबंध होने के कारण एक दूसरे पर असर होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक ही है।

काम<br>शोक<br>भय- } इन मनोभावों के अतिरेक के कारण } वात प्रकोप संपन्न होता है उसी प्रकार रजोदोष वृद्धि भी हो जाती है।

काम<br>क्रोध<br>शोक- } इन मनोभावों के अतिरेक के कारण } अतिसार यह शारीरव्याधि उत्पन्न तथा जब तक इस शारीर रोग अतिसार का मूल हेतु शोक क्रोधादि के उपाय नहीं किये जाते, तब तक अतिसार में, स्थायी उपशय प्राप्त नहीं हो पाता।

मन का अधिष्ठान शरीर है।

मन यह समस्त इन्द्रियों का<br>शरीरस्थ समस्त क्रियाकलापों का } नियन्ता-प्रणेता

और इसीलिये मनोविकारों का परिणाम शारीर रोगों पर

तो दीर्घकालीन वा जीर्ण शारीर व्याधि से पीड़ित रुग्ण का मन चिड़चिड़ा- अस्थिर-अशान्त बना हुआ होता है।

शोक-कामादि भावों में लिप्त मन } विनोद, मनोरजन खाना- पीना इ० } किसी भी बात में आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता

तो

तीव्र ज्वर<br>तीव्र उदरमूल } इ० शरीर रोग पीड़ित व्यक्ति का मन } काम मोह इ० में रम नहीं सकता।

**काम शोक भयाद् वायुः क्रोधात् पित्तं च कुप्यति।**

**-च०सं०चि०**

**ते च विकाराः परस्परमनुवर्तन मानाः कदाचित्**<br>**अनुबध्नाति कामादगोज्वरादयश्च।**

**-च०सं०वि० ७**

प्रदीर्घ काल जीर्ण शारीर रोग से पीड़ित व्यक्ति मनोरुग्ण भी बन जाती है तो दीर्घकाल मनोरोगों से पीड़ित व्यक्ति में शरीर विकृति भी उत्पन्न हुयी दिखाई देती है।

रजोगुण यह जिस तरह समस्त मनोरोगों का कर्ता होता है उसी तरह शारीर रोगों के लिये सबसे ज्यादा कारणीभूत वात दोष होता है। रज की मदद के बिना जैसे तमो गुण रोगोत्पत्ति नहीं कर सकता उसी तरह 'पित्तं पङ्गु कफं पङ्गु'- ऐसी स्थिति होने वाले शरीरस्थ दोष पित्त तथा कफ वात की मदद के बिना रोगोत्पत्ति नहीं कर सकते।

ज्वर
अतिसार
शोफ
} इ० शुद्ध शारीर व्याधि होते हैं।

मोह
विचलित चित्तता
ईर्ष्या
क्रोध
मद
मत्सर
] इ० शुद्ध मानस व्याधि होते हैं।

उन्माद
अपस्मार
भ्रम
मूर्च्छा
निद्रा
(अतिनिद्रा-अनिद्रा इ०)
] इ० शारीर-मानस व्याधि होते हैं।

मनोदोष विकृति से उत्पन्न हुये मनोरोग आगे (अगले काल में) शारीर दोषों का भी प्रकोप कर देते हैं। और उससे मानस-शरीर (psycho-somatic) व्याधि ऐसा उनका स्वरूप बन जाता है।

उसी प्रकार शारीर दोष दुष्टि से उत्पन्न शारीर व्याधि आगे मनोदोषों में भी विकृति उत्पन्न कर देते हैं और उसके कारण उनका स्वरूप आगे शारीर-मानस(souro-Psychotic) हो जाता है। काम-क्रोध ज्वर, शोकातिसार इ. प्राचीनोक्त रोगों के नामों पर से उन प्राचीन मनीषियों को इस बात का ज्ञान निश्चित रूप से था यह स्पष्ट हो जाता है।

सभी रोग उभयाश्रित होते हैं-ऐसा सिद्धान्त आयुर्वेद ने प्रतिपादित किया हुआ दिखायी देता है।

समस्त रोगों के लिये कारणीभूत–आयुर्वेदोक्त प्रज्ञापराध का मन से ही तो संबंध होता है। रज-तम व्याप्त होकर बुद्धि विभ्रम होकर ही प्रज्ञापराध संपन्न होता है।

१. अधिष्ठान भेदेन द्विधा रोगा: मनोधिष्ठानं शरीराधिष्ठानं च।

२. रजस्तमश्च मनसौ द्वौ च दोषौ उदाहृतौ।

-अ०हृ०सू०

३. रजस्तमश्च मानसौ दोषौ तयोर्विकारा: काम क्रोध लोभ मोह ईर्ष्या मान मद शोक चिन्ता उद्वेग भय हर्षादय:।

४. शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधिनामाश्रयो मत:।

-च०सं०सू० १

५. सत्व संज्ञेन मन उच्यते..... सत्व शब्देनैव मनसि लब्धे संज्ञा शब्देनात्मशरीर संबंधं मन उच्यते।

-च०सं०सू० १-चक्रपाणि

सत्व ही मन है। मन को ही सत्व यह नाम दिया है। सत्व यह मन का गुण है। यह सत्वगुण कम हो जाने पर सहन शक्ति-निग्रहादि का ह्रास होकर मन चंचल एवं अशान्त बन जाता है।

रज-कार्यप्रवर्तक

तम– रजो गुण की क्रियाशीलता का अतिरेक होने न देते हुये उसे लगाम लगाने का काम करता है। इस तरह परस्पर विरोधी स्वरूपीय ये दो मनोदोष मन का संतुलन सांधित रखे रहते हैं। निद्रा-मन को आवश्यक स्वरूपीय विश्राम प्रदान करती है।

इस प्रकार मन का और पर्याय से शरीर-स्वास्थ्य का संतुलन रखा जाता रहता है।

मन के विषय/मन के अर्थ-

अमुक एक करना या न करना–इस बात विचार करना।
क्या ग्रहण करना चाहिये? क्या छोड़ देना चाहिये? इस बाबत उहापोह।
योग्य एवं कल्याणकरी बातें तथा कार्यों के लिये → संकल्प।
अहित कर विषयों से मन को रोकना।

चिन्त्यं विचार्यं उह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वहि अर्थसंज्ञकम्।

-च०सं०शा० १

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयं अनन्तवान्
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्ववृध्द्या निवर्तते।

-च०सं०शा० १

धीधृति स्मृति विभ्रंश: सम्प्राप्ति: काल कर्मणाम्
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या: दु:ख हेतव:।

-च०सं०शा० १

धी धृति स्मृति विभ्रष्ट: कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्
प्रज्ञापराधं तं विज्ञातं सर्वदोष प्रकोपणम्।

-च०सं०शा० १

# अग्नि

बाह्य सृष्टि में उष्णता-तिक्ष्णता इ. गुणयुक्त सूर्य एवं अग्नि का अनुभव हम दिन प्रतिदिन लेते ही रहते हैं।

सूर्य के कारण रूप परिर्वतन-गुण परिर्वतनादि परिणाम नित्य देखे जा सकते हैं।

हर घर में हर रोज जलने वाली अग्नि भोजन पकाने का (पक्वता-पचन) काम करती देखी जा सकती है।

शरीर में अन्न का पचन करने वाली अर्थात् अन्न घटकों का रूप-गुण परिर्वतन रूप परिणाम करने वाली शरीरस्थ जाठराग्नि होती है। यह शरीरस्थ प्रमुख अग्नि मानी जाती है। यही जाठराग्नि शरीरस्थ अन्य अग्नि स्थानों को बल प्रदान करती रहती है।
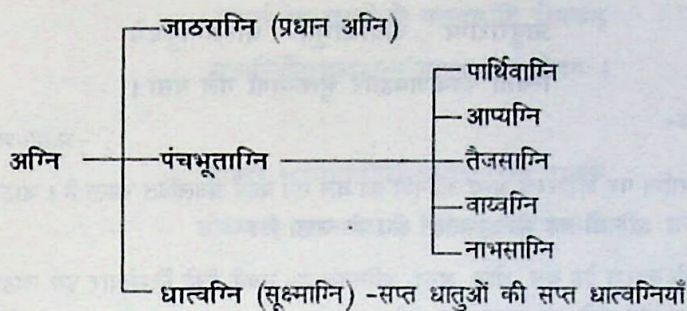
कुछ विद्वानों के अनुसार-शरीरस्थ पित्तोष्मा (पाचक पित्त) ही जाठराग्नि है।

आत्रेय के अनुसार वातादि दोष रसादि धातु तथा मल } इनमें स्थित ऊष्मा { यही जाठराग्नि है।

शरीरस्थ ग्रहणी (Duodenum) } यह जाठराग्नि का अधिष्ठान होता है।

ग्रहणी के अंतर्भाग में पित्तधरा कला होती है, जिसके आश्रय से वह (अग्नि अर्थात् पित्त) उत्पन्न होती है। इस ग्रहणी भाग में अपक्व अन्न का पचन कार्य संपन्न होकर पक्व अन्न नीचे लघ्वन्त्र में छोड़ा जाता है।

दोषदुष्टि इ. के कारण जब इस अग्नि में मन्दता आ जाती है तब ऐसी स्थिति में योग्य पचन न हो सकने के कारण अपक्व स्वरूपीय अन्न ही ग्रहणी से आगे लघ्वंत्र में छोड़ दिया जाता है।

यह जाठराग्नि वा कायाग्नि शरीर का बल-तेज होती है। इसी जाठराग्नि से

सप्तधात्वग्नि पंचभूताग्नि } इन्हें बल प्राप्त होता है।

अर्थात् जब-जब भी यह कायाग्नि या जाठराग्नि मंद पड़ जाती है तब-तब उसका अनिष्ट परिणाम पंचभूताग्नि तथा सप्तधात्वग्नियों पर भी पड़ा हुआ दिखायी देता है।

**तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता,**
**सैव धन्वन्तरि मता कलापित्त धराव्हया।**

-अ०हृ०शा० ३

**अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यध:**
**दुर्बलाग्न्य बलाददुष्टादाममेव विमुञ्चति।**

-च०सं०सि० १९

आयुरारोग्य वीर्योजौभूत धात्वग्निपुष्टये
स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गा गले बसा।

-अ०हृ०शा० ३

जाठराग्नि पर शरीरस्थ अन्य अग्नियों का बल एवं कार्य अवलंबित रहता है। जाठराग्नि क्षय से अन्य अग्नियों का भी आपातत: क्षय हो जाता है।

इस के कारण देह बल, ओज, अन्न, अग्निबल इ० सबके लिये जिम्मेदार इस जाठराग्नि में विकृति न होने पाये-यह प्राकृत रह सके इस तरह के उपकारक अन्नपान रूपी ईंधन से उसकी यत्नपूर्वक रक्षा की जाना अनिवार्य हो जाता है।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणा मधिको मत:
तन्मूलास्तेहि तद् वृध्दि क्षयं वृध्दिक्षयात्मका:।

-अ०हृ०शा० ३

तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेधनेर्हितै:
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौह्यायुर्बल स्थिति:।

-अ०हृ०शा० ३

'काय' शब्द अग्नि वाचक तथा चिकीत्सा का अर्थ है अग्नि की (जाठराग्नि) चिकीत्सा होती है। समस्त रोगों को शरीरस्थ अग्नि ही कारणीभूत होती है। अग्नि के इस सम्यक् रूपेण कार्य संपन्नता पर ही-

बल
वर्ण
तेज
ओज
कार्यशक्ति

} इ. समस्त जीवनावश्यक भाव अवलंबित होते हैं।

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यं उत्साहोपचयो प्रभा
ओजस्तेजोऽग्नय: प्राणश्चोक्ता देहाग्नि हेतुका:।

-च०सं०चि० १५

जाठर: प्राणिनामग्नि: काय इत्याभिधीयते
यस्तं चिकीत्सेत्सीदन्तं स वै कायचिकीत्सक:।

-भोज-च०सं०चि० ३०-चक्र०

यदन्नं देह धात्वोजो बलवर्णादि पोषकम्

तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसोदय:।

-अ०हृ०शा० ३

जाठरो भगवानाग्निरीश्वरोऽन्नरस्य पाचक:,

सौक्ष्म्याद् रसनाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते।

-सु०सं०सू० ३५

अग्नि का प्रधान तथा ज्यादा से ज्यादा कार्य जठर में और इसीलिये उसे **'जाठराग्नि'** -यह सार्थ नाम दिया गया है।

यह अग्नि अन्न के पचन का कार्य करती है इस कारण उसे **'पाचकाग्नि'** कहा गया है।

यह अग्नि यदि शान्त या नष्ट हो गयी तो उस व्यक्ति का जीवन ही नष्ट हो जाता है। यदि यह विषम (विकृत) हो गयी तो नानविध रोगों को उत्पन्न करने के लिये कारणीभूत हो जाती है। यह प्राकृत वा उत्तम कार्यकारी रही तो उत्तम आरोग्ययुक्त दीर्घ जीवन इससे उस व्यक्ति को प्राप्त होता है।

शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरंजीव त्यानामय:

रोगीस्यांद् विकृते मूक्तमग्निस्तरमान्निरूच्यते।

-च०सं०चि० १५

| | | |
|---|---|---|
| अग्नि | सम | निरोगी तथा अत्युत्तम शरीरस्थिति |
| | विषम | वात प्रकृति व्यक्तियों में दिखायी देती है। |
| | तीक्ष्ण | पित्त ,, ,, ,, ,, । |
| | मन्द | कफ ,, ,, ,, ,, । |

तीक्ष्ण विपरीत लक्षणस्तु मन्द:।

-च०सं०वि० ६

तीक्ष्णोमन्देन्धनो धातून विशोष्यति पावक:।

-च०सं०वि० १५

विषमोवातजान् रोगांस्तीक्ष्ण: पित्त समुद्भवान्

करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफ संभवान्।

-सु०सं०सू० ३५

ग्रहणी में स्थित जाठराग्नि के अंश धातुओं में विद्यमान होते हैं।

स्वस्थानस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिता:।

-अ०हृ०सू० ११
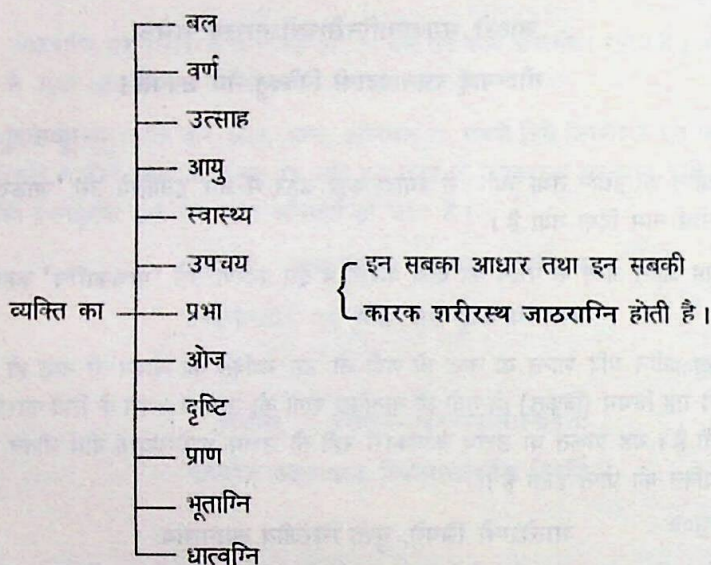
शरीरस्थित जाठराग्नि निसर्ग का अनूठा चमत्कार ही कहना चाहिये। शरीर में वह जिस तरह का पचन संपादित करती है-आहार रस उत्पन्न करती है-उस तरह का पचन कृत्रिम रूप से शरीर के बाहर किया ही नहीं जा सकता। शरीरस्थ पित्त द्रव्य इस जाठराग्नि का आश्रयस्थान होता हैं। पित्तस्थ उष्णता ही यह अग्नि होती है। अत: ही अग्निमांद्य की स्थिति में उष्ण विर्यात्मक द्रव्य देकर पित्त (पाचक पित्त) की वृद्धि करने की (पर्याय से अग्नि प्राकृत करने की) क्रिया संपादित करनी होती है।

पित्त यह द्रव्य है तो अग्नि यह प्रभाव वा शक्ति है – जो पित्त द्रव्य के आश्रय से शरीर में स्थित है।

आयुर्वर्णं बलं स्वास्थ्यं उत्साहोपचयो प्रभा
ओज स्तेजोऽग्नय: प्राणाश्चोक्ता देहाग्निर्हेतुका:।

-च०सं०चि० १९

## समाग्नि–

विषम न होने के कारण यह अग्नि प्राकृत और इसीलिये शरीरोप कारक तथा सर्वश्रेष्ठ कहलायी जाती है।

त्रिदोष साम्यावस्था में अग्नि सम होती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| योग्य मात्रा में | | उचित रूप में | |
| तथा | सेवित आहार को | पचाने वाली | समाग्नि होती है। |
| उचित समय में | | अग्नि ही | |

समाग्नि के द्वारा शरीर में धातुसाम्य रखा जाता है।

| | | |
|---|---|---|
| समाग्नि शरीर स्वास्थ्य | इ. शरीरोपकारक अति | संपादित करने |
| बल तेज ओज | महत्वपूर्ण कार्यों को | वाली |

युक्तं युक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्।

–च०सं०चि० ५

सगा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यक् विपच्यते।

–मा०नि०

समः अविकृतः धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः.......समाउचिताः
मात्रा आहारस्थ सम्यक् यस्य विपच्यते स समाग्निः।

–मधुकोष

## विषमाग्नि–

समाग्नि के यह विपरीत गुणीय। वात प्रकृति लोगों में विषमाग्नि दिखायी देती है। कभी अन्नपचन योग्य रूप में तो कभी अयोग्य रूप में होता है।

| | | |
|---|---|---|
| असम्यक् आहार | आध्मान, शूल, उदावर्त | इ. अनेकानेक विकारों |
| पचन के कारण | प्रवाहण, आँत्रकूजन, अतिसार | की उत्पत्ति। |

विषमाग्नि यह वात विकारों को उत्पन्न करने वाली होती है। विषमाग्नि द्वारा अन्न का पाक भी अनिश्चित स्वरूपीय होता है।

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।

–च०सं०चि० १५

विषमो वातजान् रोगान्।

–सु०सं०सू० ३५

**तीक्ष्णाग्नि–**

नाम से ही इसके तीव्रगुण की कल्पना आ जाती है।

आहारसेवन विषयक समस्त अपचारों को सहन करने की क्षमता वाली होती है। पित्त प्रकृति व्यक्तियों में तीक्ष्णाग्नि दिखायी देती है।

अति स्निग्धान्न, गुर्वान्न,<br>
अति मात्रा में सेवित भोजन<br>
अध्यशन<br>
(बार-बार भोजन करना)

{ आदि समस्त अपचारों का (सेवित अन्न का) पचन कर देती है।

यही तीक्ष्णाग्नि और शक्तिशाली होने पर अत्यग्नि स्वरूप धारण करती है। इस अत्यग्नि के कारण ही भस्मक रोग उत्पन्न हो जाता है, जिसमें आदमी बार-बार खूब भोजन करता है, क्षुधा बिल्कुल सह नहीं पाता, भूख के कारण बेहद व्याकुलता आ जाती है।

किन्तु हर समय भरपूर भोजन और दिन में कई बार भोजन करने पर भी यह भस्मक रोगी उत्तरोत्तर निस्तेज एवं क्षीण ही होता जाता है। भस्मक रोगी का गला-ओंठ-तालु निरंतर सूखे हुये से ही उसे प्रतीत होते हैं।

ऐसे भस्मक रोगी ने क्षुधानुभूति होने पर भोजन न करने से उसकी वह अत्यग्नि उसके शरीर में धातुओं को ही भस्म करने लगती है।

**तीक्ष्णः पित्ता निमित्तात्।**

-सु०सं०सू० ३५

**तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः पित्तलानां तु**<br>
**पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवत्यग्नयः।**

-च०सं०वि० ६

**मन्दाग्नि–**

तीक्ष्णादि के विपरीत गुणीय यह अग्नि आहार संबंधित थोड़ा सा भी अपचार यह अग्नि सह नहीं पाती।

अग्नि अधिष्ठान के श्लेष्माभिभूत होने के कारण यह अग्नि मंद पड़ी हुयी होती है।

कफ प्रकृति व्यक्तियों में मन्दाग्नि दिखायी देती है।

अल्प मात्रा में सेवित आहार को भी यह अल्पशक्ति युक्त अग्नि योग्य रूप में पचा नहीं पाती।

मन्दाग्नि के कारण अन्न का विदाह होकर अपक्व अन्न ऊर्ध्व-अधो मार्ग से बाहर प्रवृत्त हो जाता है।

१. कफोत्कर्षेण मन्दः।

-अरुणदत्त

२. चिरपाको मन्दः।

-हेमाद्रि

३. तथा मन्दो विकारान् कफ संभवान्।

४. तद्विपरीत लक्षण स्तु मन्दः श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवत्यग्नयः।

-च०सं०वि० ६

## पांच भौतिकाग्नि-

शरीर पंचमहाभूतों से उत्पन्न। पंचभूतात्मक इस शरीर के पोषणार्थ सेवित आहार भी पांच भौतिक ही होता है तथा शरीर भी पंचभूतात्मक ही होता है।

इसीलिये-

आहार का आप्यांश आप्यग्नि के द्वारा
पार्थिवांश पार्थिवाग्नि के द्वारा

इस तरह उस उस पांच भौतिक अग्नि के द्वारा स्वगुण युक्त आहार का अंश पाचित किया जाता है, जिसके द्वारा उस-उस शरीरस्थ भूत की पुष्टि होती रहती है।

भौमाप्याग्नेय वायव्याः पंचोष्माणः सनाभसः
पंचाहार गुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि।

-च०सं०चि० १९

यथा स्वैरेव पुष्यन्तेर्देहे द्रव्यगुणाः पृथक्
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नेशः।

-च०सं०चि० १९

पांच भौतिक अग्नि अपने अपने गुण युक्त आहार का पचन कर शब्दादि गुण ग्रहण करने वाली अपनी अपनी इन्द्रिय का पोषण करती रहती है।

## सप्त धात्वग्नि-

शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक महाभूत की अपनी अपनी अग्नि होती है उसी तरह शरीरस्थ प्रत्येक धातु की स्वयं की अग्नि होती है।

प्रत्येक धातु की अग्नि अपने अपने धातुगुण युक्त आहार पचन का उस आहारांश से अपने अपने धातु का पोषण कार्य संपन्न करती है।

उस उस धात्वग्नि से उस उस धातु का पचन होकर सार-किट्ट भाग तैयार होता है। अर्थात् पूर्व धातु का पचन होकर अगला प्रसाद धातु तथा धातु मल निर्मित होते हैं।

यह क्रिया शरीर में वायु तथा स्रोतसों की सहायता से संपादित होती रहती है।

## वह्नि व्यापद्–

अर्थात् जाठराग्नि की विकृति।

जाठराग्नि विकृति के कारण–

१. अभोजन-उपवास (प्रदीर्घ काल आहार ही ग्रहण न करना)

२. अजीर्ण (खूब ज्यादा प्रमाण में जड़ान्न सेवन के कारण)

३. अध्यशन–बार बार भोजन करना

(भूख न होते हुये भी जीभ के चोचलों के खातिर)

४. विषमाशन —
- सामान्य से खूब ज्यादा प्रमाण में आहार सेवन
- सामान्य से अति कम प्रमाण में आहार सेवन
- असमय भोजन करना

५. गुर्वाहार–स्निग्ध पदार्थ-तले हुये पदार्थ, मैदा के पदार्थ, पोहे, उडद इ. पचने के लिये भारी पदार्थों का सेवन

६. असात्म्याहार–स्वप्रकृति
ऋतु (शीत-उष्ण इ. काल)
देश (आनूप-जाङ्गलादि) } के प्रतिकूल आहार सेवन

७. दुष्टाचार– पहले दिन का पकाया हुआ या दो दिन पूर्व का भोजन, सड़ा-गला, दुर्गंध युक्त-अपवित्र भोजन

८. अति रूक्षाहार

९. अति स्निग्धाहार

१०. अति शीताहार

११. वमन
विरेचन } का विभ्रम (वमन-विरेचनादि शोधन क्रियायें अति प्रमाण में वा असम्यक् प्रमाणों की जाना)

१२. स्नेह विभ्रम

१३. देहाति कर्षण–अति चिन्ता कुपोषण, शोकादि के कारण धातुक्षय होकर अति कृश हो जाना प्रदीर्घ काल तक जीर्ण रोग से पीड़ितता से धातुओं का क्षय हो जाना।

१४. देश, काल, ऋतु– इनका वैषम्य।

१५. वेगधारण– मल-मूत्र-कासादि अधारणीय वेगों का धारण=वातप्रकोप
अग्निमांद्य/अग्निसाद

अल्प प्रमाण में सेवित लघु आहार की शरीर में अग्नि द्वारा पाचित नहीं किया जा सकता और उदावर्तादि तकलीफें उत्पन्न हो जाती है। जिससे–

| | |
|---|---|
| अपक्व<br>अर्धपक्व<br>शुक्ततताप्राप्त | दुष्ट स्वरूपीय अन्न को विषमयता प्राप्त होकर शरीर के लिये वह धातक साबित होता है। |

अभोजनादजीर्णाति भोजनाद्विषमाशनात्
असात्म्य गुरु शीतातिरूक्ष संदुष्ट भोजनात्।
विरेक वमन स्नेह विभ्रमाद् व्याधिकर्षणात्
देशकालर्तु वैषम्यात् वेगानां च विधारणात्।
दूषयन्त्यग्निः स दूष्टोऽन्नं न तत्पचति लध्वपि
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्।

–च०सं०वि० १५

वह्निव्यापद्–

| | | |
|---|---|---|
| अग्नि | जाठराग्नि–भुक्तान्न पचन=परिणमन<br>भूताग्नि –शरीरस्थ भूतांश पोषण<br>धात्वग्नि –आहार रस का रस-रक्तादि धातुओं में परिणमन होना | इन प्राकृत कार्यों की संपन्नता न हो पाना–वह्निव्यापद्। |

| शुष्क<br>विरुद्ध<br>विष्टंभि | आहार | वह्निव्यापद् उत्पन्न करने वाला जिससे आमाजीर्णादि चार अजीर्णों की उत्पत्ति होती है। |
|---|---|---|

## आयुर्वेदोक्त पचन प्रक्रिया–

आहार भक्षण करने पर उस आहार पर शरीरस्थ जाठराग्नि का कार्य (पाचक स्रावों का कार्य) होकर शरीर में सात्म्य होने योग्य उस आहार में रूप परिवर्तन-गुणपरिर्वतनादि का होना आहार का पचन कहलाता है।

पाचक पित्त वा जाठराग्नि (कायाग्नि) के द्वारा यह पचन प्रक्रिया महास्रोतस्थ (Alimentary Canal) ग्रहणी में (Duodenum) संपन्न की जाती रहती है।

पचन क्रियोतर आहार रस (सार भाग) तथा किट्ट भाग (मल भाग) निर्मित होकर आहार रस महास्रोतसस्थ शोषणाङ्कुरों में (villi) शोषित किया जाकर किट्ट भाग अलग किया जाकर वह आगे बृहदंत्र में ढकेल दिया जाता है और अन्त में शरीर के बाहर विसर्जित कर दिया जाता है।
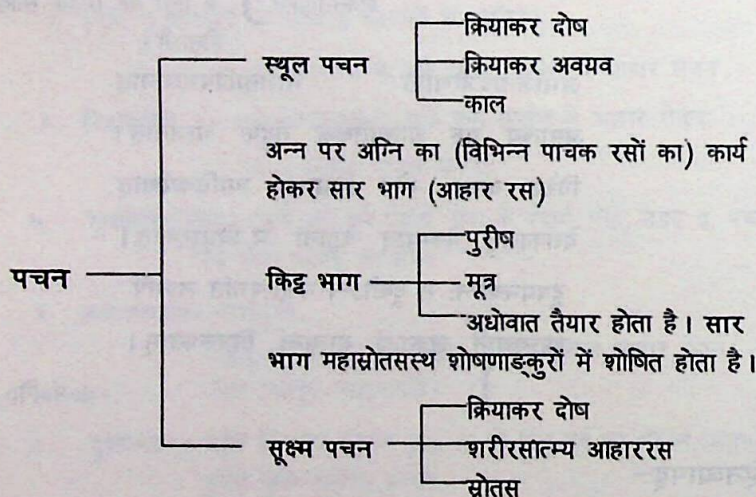
जहाँ स्थूल पचन की क्रिया खत्म हो जाती है वहीं सूक्ष्म पचन क्रिया का आरंभ हो जाता है। शरीर में सिरायें एवं रस-वाहिनियों के द्वारा शोषित किया जाने पर धात्वग्नि तथा सूक्ष्माग्नि की क्रिया होकर–

धातु
उपधातु } इनकी निर्मित सूक्ष्म पचन में होती है।
धातुमल

सूक्ष्म पचन में तैयार होने वाले उपधातु-

१. रस- स्त्रियों में रज एवं स्तन्य
२. रक्त- सिरा, कण्डरा
३. मांस- वसा, सप्त त्वचा
४. मेद- स्नायु
५. शुक्र- ओज

काल– पचन क्रिया आहारग्रहण के साथ ही एक दम पूर्ण नहीं हो जाती, पचन क्रिया को निश्चित कालावधि की जरूरत होती है।
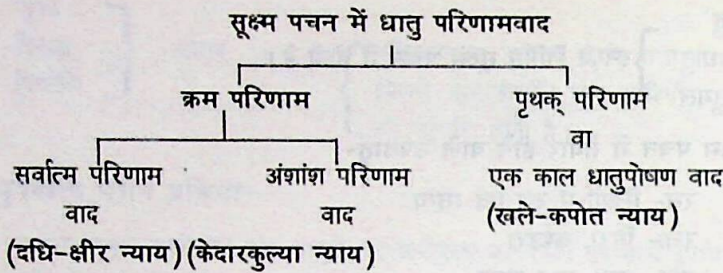
सूक्ष्म पचन में निर्मित मल–

१. रस- कफ, लसिका

२. रक्त- पित्त

३. मांस- नासा, कर्ण, नेत्र, मुख, लोम कूप तथा जननेन्द्रिय स्थानीय स्नेह

४. मेद- स्वेद

५. अस्थि- केश, लोम, नख, श्मश्रु

६. मज्जा- नेत्रों में आने वाला कीचड़, त्वक्स्थ स्निग्धता

७. शुक्र–समस्त धातुओं का यह सार स्वरूपीय द्रव्य होता है। अतः इसका मल नहीं होता। कुछ विद्वानों ने ओज को शुक्र का मल कहा है-किन्तु वह गलत है।
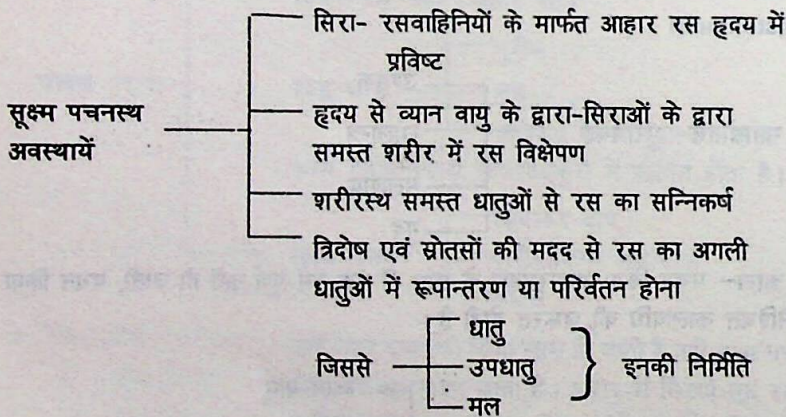
धातु उत्पत्ति काल (आचार्य सुश्रुत के अनुसार)-आहार रस से अगले धातु उत्पन्न

होने के लिये–

| | | |
|---|---|---|
| १. रस धातु | १ दिन में | आचार्य सुश्रुत के इस हिसाब से हर ५ दिनों में अगला धातु उत्पन्न होता है। तथा आहार भक्षणोत्तर ३० दिनों से शुक्र की उत्पत्ति होती है। |
| २. रक्त धातु | ५ दिन में | |
| ३. मांस धातु | १० '' | |
| ४. मेद '' | १५ '' | |
| ५. अस्थि '' | २० '' | |
| ६. मज्जा '' | २५ '' | |
| ७. शुक्र '' | ३० '' | |

पराशर के मतानुसार–

आहार से आहार रस १ दिन में तथा ९वें दिन शुक्र निर्मित हो जाता है। वृष्य द्रव्य सेवन के कारण एक दम होने वाली वीर्य वृद्धि प्रभावयोगेन संपन्न होती है।

१. पित्तस्थ उष्णता एवं रंजकत्व के कारण रस का रंजन संपन्न होकर रक्त बनता है।

२. रक्त में { वायु तथा तेजगुण } के कारण { स्थिरता उत्पन्न होकर } मांस धातु की उत्पत्ति होती है।

३. पृथ्वीव्यादि महाभूत संघात स्व उष्णता से खरत्व प्राप्त कर अस्थि- धातूत्पत्ति।

४. वात के द्वारा अस्थियों में छिद्रोत्पत्ति होकर उसमें मज्जा धातु भरा जाता है।

५. मज्जा धातु के स्निग्ध उत्तमांश से शुक्रोत्पत्ति सम्पादित होती है।

## धातु परिणाम वाद

**१. सर्वात्मपरिणाम पक्ष–**

**(अ) दधिक्षीर न्याय–** दूध से दही जमाने पर जैसे उस समस्त दूध का पूर्णांश से दही बन जाता है, उसी तरह पूर्ण रस का पूर्णांश या सर्वांश से रक्त में रूपान्तर होता रहता है।

फिर समस्त रक्त का मांस में रूपान्तरण हो जाता है-तथा इसी प्रकार अगले धातुओं की निर्मित होती है।

**(ब) केदार कुल्या न्याय–-** खेत में फसल को पानी देने के लिये एक बड़ी नाली या

पाट बनाया जाता है तथा इस बड़ी नाली या पाट में से अनेक छोटी-बड़ी नालियाँ निकाली जाती हैं। जब बड़ी नाली में पानी छोड़ा जाता है तो बड़ी-छोटी उन अनेक नालियों से सभी पौधों को पानी प्राप्त हो जाता है।

उसी तरह शरीर में पूर्ण रस का रूपांतरण अकेले रक्त में न होते हुये-रस धातु पर रक्ताग्नि की क्रिया होने पर-

**रस से** — स्थायी रक्त-(पोष्य रक्त)-यह रक्त धातु से एकरूप हो जाता है।
— अस्थायी रक्त-(पोषक रक्त)-यह अगले मांस धातु की उत्पत्ति करता है।

फिर अस्थायी वा पोषक रक्त पर } मांसग्नि की क्रिया होकर } स्थायी (पोष्य) मांस
अस्थायी(पोषक) मांस निर्मित होता है।

इसी तरह से अगले धातुओं की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार आहार रस से धातूत्पत्ति कार्य होता रहता है।

२. **पृथक् परिणाम पक्ष– खले कपोत न्याय–**

खलिहान जहाँ पर फसल आने पर अनाज के दाने तथा छिलके (कचरा) अलग अलग किया जाता है वहाँ जैसे भिन्न-भिन्न दिशाओं से कबूतर दाना चुगने आकर बैठते हैं तथा अपने अपने दाने चुगकर उड़ जाते हैं, उसी तरह धातुओं का पोषण भिन्न-भिन्न मार्गों से स्वतंत्र रूप से होता रहता है तथा रस को अन्तिम धातु शुक्र के पोषण के लिये रक्तादि धातुओं की अवस्थाओं से गुजरना नहीं पड़ता।

## आक्षेप

**सर्वात्मपरिणाम पक्ष के विषय में–**

१) रस धातु की दुष्टि हो जाने पर इस सर्वात्म परिणाम पक्ष के अनुसार तो उससे समस्त धातुओं की भी दुष्टि हो जानी चाहिये किन्तु ऐसा होता हुआ दिखायी नहीं देता।

२) ३-४ दिनों के अनाहार (उपवास) के कारण प्रीणन कार्य करने वाले शरीर धातु इस सर्वात्वपरिणाम पक्ष के अनुसार तो शरीर में से खत्म हो जाने चाहिये। किन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं होता।

३) सद्यः शुक्रकर द्रव्य सेवन से शुक्रवृद्धि अल्प काल में संपादित हो जाती है, लेकिन इस सर्वात्मपरिणाम पक्ष के अनुसार यदि घटित हुआ तो शुक्रोत्पत्ति होने के लिये बहुत समय लग जायेगा।

४) इस पक्ष के सिद्धान्तानुसार मेदोवृद्धि युक्त मोटे आदमी में अस्थिवृद्धि भी इसी अनुपात में हो जानी चाहिये। किन्तु ऐसा होते हुए दिखाई नहीं देता।

| | |
|---|---|
| किन्तु अंशांश परिणाम पक्ष<br>(केदार कुल्या न्याय)<br>तथा<br>पृथक् परिणाम पक्ष<br>(खले कपोत न्याय) | में सर्वात्म परिणाम पक्ष की तरह दोष दिखायी नहीं देते अतः ये दोनों ग्राह्य माने जाते हैं। |

## आक्षेप

खले कपोत न्याय--

१. प्रत्यक्ष अनुभव में ऐसा दिखायी देता है कि रस-रक्त धातु अन्य समस्त धातुओं का एक ही समय पोषण करते रहते हैं।

   लेकिन इस न्याय के अनुसार तो शुक्र धातु का पोषण ३० दिन के बाद होता है।

२. रस धातु से रक्त, रक्त धातु से मांस--इस तरह इस न्याय से धातूत्पत्ति का कार्य होता है।

   किन्तु 'रसाद्रक्तं ततो मांसम्' - यह धातुनिर्मिति का जो सूत्र कहा गया है उससे इसकी संगति नहीं बैठती।

अतः विशेष विचार के उपरान्त अंशांश परिणाम पक्ष (केदार कुल्यान्याय) यही धातु निर्मितिप्रक्रिया बाबत योग्य-व्यावहररिक तथा दोष रहित ऐसा सिद्धान्त लगता है।

टीकाकार-- शिवदास-चक्रदत्त-हारित-डल्हण इन सभी को भी यही पक्ष मान्य है।

विविधपूर्वक आहार सेवन से --
- प्रणियों का प्राणरक्षण होता है।
- शरीर का पोषण होता है।
- मन क्रियाकारी रहता है।
- देह धातुओं का पोषण होता है।
- बल-कांतिवर्धन संपन्न होता है।
- इन्द्रिय प्रसन्नता-ओजोवृद्धि संपादित होती है।

आहार यह पंचभूतात्मक होने के कारण महाभूत अग्नि के कारण उस महाभूत की शक्ति में वृद्धि करता है।

पंचभूतात्मके देहेह्याहारः पांच भौतिकः
विपक्वः पंचधा सम्यक् गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।

-सु०सं०सू० ४६

स्थूल पाचन-यह आहार का होता है।

आहार प्रकार —
- स्वभावतः —
  - स्थावर (वनस्पति, धान्य इ.)
  - जंगम (मछली-मांस-दूध इ.)
- आरोग्यतः —
  - हिताहार-आरोग्यकर, धातुसात्म्यकर.
  - अहिताहार —
    - अनारोग्यकर
    - दोष प्रकोपक
    - धातुदुष्टिकर
- उपयोगतः —
  - खाद्य (चबाकर खाने योग्य),
  - पेय-गन्ने का रस, मट्ठा दूध इ.
  - चोष्य-चूँसने योग्य (गन्ना)
  - लेह्य- चाटने योग्य (शहद-मध)
- रसतः —
  - मधुर
  - अम्ल
  - लवण
  - तिक्त (कड़वा)
  - उषण (तीखा)
  - कषाय (कसैला)
- गुणतः-२० प्रकार का।
- कर्मतः-अनेक प्रकार का।
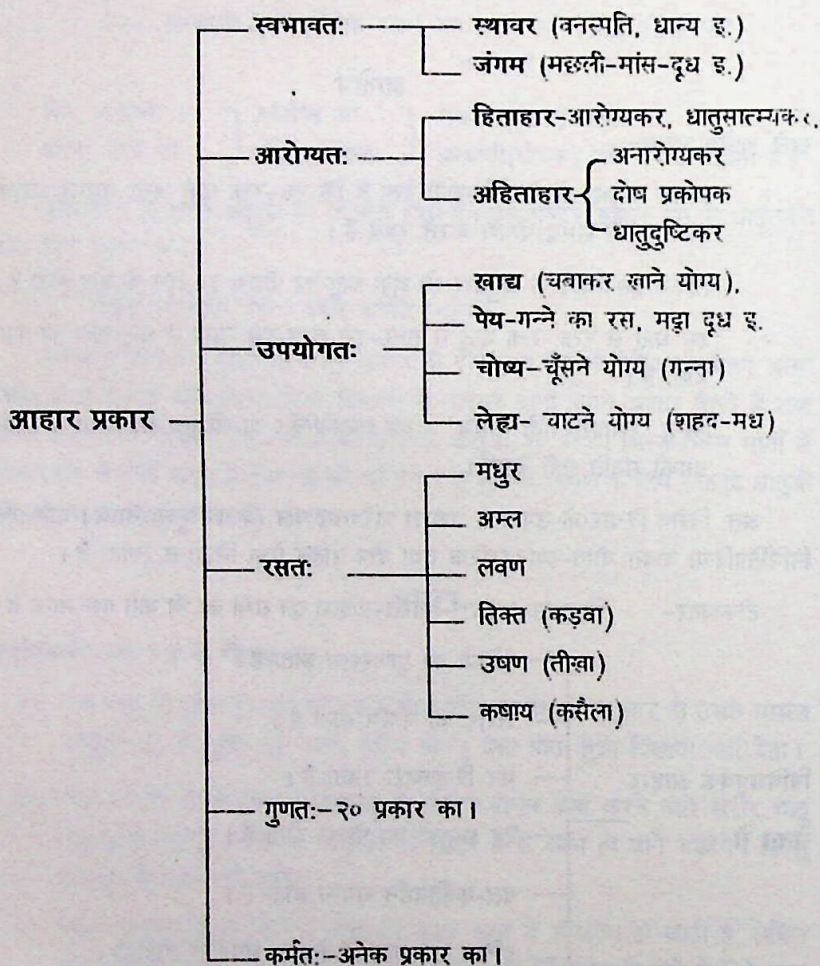
**महास्रोतस में पचन क्रिया में**

क्रियाकर दोष–

१. मुख से अन्नाशय के निम्न छोर तक–

१. प्राणवायु
२. उदान वायु
३. बोधक कफ
४. क्लेदक कफ
५. जाठराग्नि

} क्रियाकारी रहते हैं।

२. ग्रहणी प्रदेश में–

१. समान वायु
२. पावक पित्त
३. जाठराग्नि

} कार्यकारी होते हैं।

३. पक्वाशय में–

१. वायु
२. शरीरस्थ अग्नि

} क्रियाकारी रहते हैं।

जो-जो खाया जाता है (सेवन किया जाता है) वह अन्न की श्रेणी में आ जाता है।

अद्यते इति अन्नम्।

पुरुष अन्नमय है, अर्थात् उसका जीवन अन्न पर ही निर्भर करता है।

'अन्नात् पुरूषः'।

'आहारात् देहसंभवः'।

प्राण रक्षा करने का कार्य प्रमुखतः अन्न के ही द्वारा संपादित किया जाता रहता है।

स्त्री-पुरुष संयोग से (शुक्रार्तव संयोग,-पुंबीज-स्त्रीबीज) 'चिकीत्स्य पुरुष' निर्मित होता है। उसे भी कारणीभूत आहार ही होता है। क्योंकि आहार से शुक्र-आर्तव, बल, वर्ण ओजादि की निर्मिति एवं वृद्धि संपन्न हो जाती है।

प्रज्ञापराधज आहार से विभिन्न व्याधियों की उत्पत्ति तथा कभी-कभी मृत्यु का भी ग्रास बन जाना पड़ता है।

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च।

-सु०सं०सू० १

शारीव्याधयस्त्वन्न पानमूला:-वात पित्त कफ

शोणित सन्निपात वैषम्य निर्मित्ता:।

## पित्तधरा कला-

आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य स्थित रहती हुयी चतुर्विध अन्नपान को पचनार्थ पच्चमानाशय में रोककर रखती है। तत्स्थानीय पचन हुआ अन्न (आहार रस) इसी पित्तधारा कला के द्वारा शोषित किया जाता है।

यह पित्तधरा कला अन्न पचन कार्यार्थ (कुछ कालावधि के लिये) ग्रहण करके रखती है। इसीलिये उसे ग्रहणी (Dudenum) यह नाम प्रदान किया गया दिखायी देता है।

१. षष्ठि पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता

पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी या परिकीर्तिता।

२. षष्ठि पित्तधरा, या चतुर्विधमन्न पानं आमाशयात्

प्रच्युतं पक्वाशय स्थितं धारयति।

-सु०सं०शा० ४

३. ग्रहण्याबलमग्निं हि सचापि ग्रहणीश्रित:

तस्मात् संदुष्यते वह्निं ग्रहणीस प्रदुष्यति।

-सु०सं०उ ४०-अ०हृ०शा० ३

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मत:।

नाभेरूर्ध्वंह्यग्नि बलेनो पष्टबधोप बृंहिता।

अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वत:।

दुर्बलाग्निबलादुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति।

-च०सं०चि० १५

इस जाठराग्नि वा धात्वग्नि का धातुओं में स्थित अंश धात्वग्नि कहलाता है।

जाठराग्नि के द्वारा आहार पचन होने पर प्रसाद भाग अथवा सार भाग से धात्वग्नियों धातुओं की उत्पत्ति और किट्ट भाग से कफादि मलों का पोषण किया जाता है।

तत्र आहार प्रसादाख्यो रस: किट्टं च मलाख्यमाभि
निवर्तते किट्टान् स्वेद मूत्र पुरीष वात पित्ता श्लेष्माण:
कर्णाक्षि नासिकास्य लोमकूप-प्रजनन मला: केश श्मश्रु
लोम नंखादय श्चावयवा: पुष्यन्ति।
पुष्यतित्वाहाररसाद् रुधिरं मासं मेदोऽस्थिमज्जा-
शुक्रौजांसि पंचेन्द्रिय द्रव्याणि धातु प्रसाद
संज्ञकानि शरीर सन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवा:।

–च० सं० सू० २८
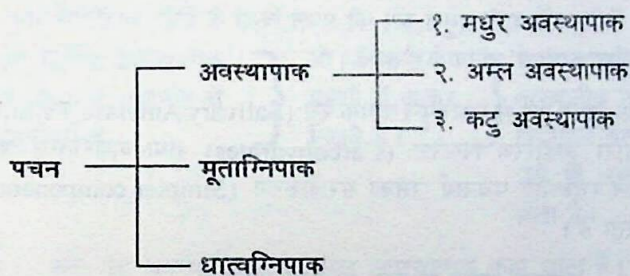
अवस्थापाक– महास्रोतस में (Alimentary canal) विभिन्न पाचक रसों के कारण आहार के संपन्न होने वाले पाक को अवस्थापाक कहते हैं।
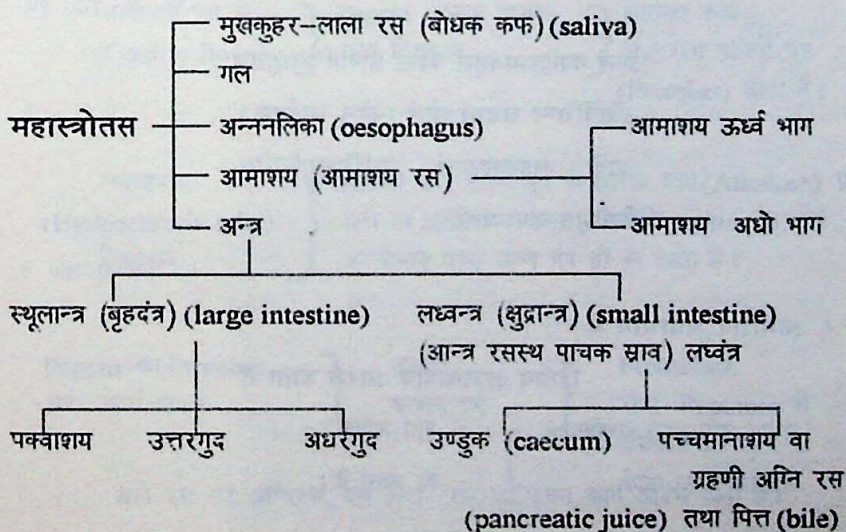
१. मुख कुहर में–

बोधक कफ (Saliva) कार्यरत रहता है। यहाँ से आमाशय ऊर्ध्व भाग तक यह कार्यरत रहता है। (The digestive enzymes in saliva) इससे अन्न का मधुरीभवन संपन्न होता है।

इस स्थान में होने वाले आहार के पाक को मधुर अवस्थापाक (salivary digestion) कहा जाता है।

अन्न मुँह में दाँतों से चबाते समय उसमें बोधक कफ (Saliva) {जो चबाते समय लालाग्रंथियों द्वारा (Salivary glands) विशेष रूप से स्त्रावित किया जाता है।} आकर मिलता रहता है, जिससे मुँह में चबाया गया हर कौर स्निग्ध-श्लक्ष्ण बन जाता है।

आगे संपादित किये जाने वाली प्रमुख रूप की पचन क्रिया के लिये चबाये गये कौर का इस तरह मुलायम-स्निग्ध होना अनिवार्य होता है।

इस बोधक कफ-लाला रस में महत्वपूर्ण पाचक रस (Salivary Amylase, Ptyalin) होता है, जिसके द्वारा आहारस्थ पिष्टांश (Carbohydrates) तथा शर्कराजन्य अंश (Starch) के जटिल स्वरूपीय पचनार्थ उसका सरलीकरण (Simpler components) करने का कार्य करता है।

**अन्नस्य भुक्त मात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकत:**
**मधुराद्यात् कफोभावात् फेनभूतं उदीर्यते।**

-च० सं० चि० १५

**अन्नं कालेऽभ्यवहृतं कोष्ठं प्राणानिलाहृतम्**
**द्रवैर्विभिन्न संधातं नीतं स्नेहेन मार्दवम्।**
**आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत्**
**फेनीभूत कफं यातं . . . . . . . . . . .।**

**-अ०हृ०शा० ३**

**२. आमाशय अधोभाग से–**

**द्वितीय अवस्थापाक आरंभ होता है**

समान वायु द्वारा संधुक्षित जाठराग्नि का कार्य } यहां आरंभ हो जाता है।

इससे–

आमाशय रस (Gastric Juice)
अग्निरस (Pancreatic Juice)
वा अग्न्याशयरस
याकृत पित्त (Bile)
} स्त्रवित होने का कार्य होकर

| | | |
|---|---|---|
| अग्निरस (Pancreatic juice) एवं याकृत पित्त (Bile) | समवाहिनी के द्वारा (Common Bil Duct) | ग्रहणी में (Duodenum) पचनक्रियार्थ लाकर छोड़े जाते हैं। तथा उनका कार्य तत्स्थानीय सेवित अन्न पर आरंभ होता है। |
| इस द्वितीय अवस्थापाक में आमाशय अधोभाग से ग्रहणीपर्यन्त | जो पाचक रस ग्रहणी में आकर मिलते हैं। | वे अम्लगुणीय होते हैं, जिससे तत्स्थानीय उस अन्न को विदग्धता प्राप्त होती है तथा उसे भी अम्लीभाव प्राप्त होता है। |

अत: इस अवस्था पाक को अम्ल अवस्थापाक कहा जाता है।

## आधुनिक शारीरक्रिया विज्ञान के अनुसार–

| | | |
|---|---|---|
| आमाशय रस में (Gastric Juice) | Pepsin नामक पाचक तत्व विद्यमान | जिसका कार्य आहारस्थ प्रथिनों पर (Proteins) होता है। |
| लवणाम्ल (Hydrochloric acid) विद्यमान | जिसका कार्य इसके पूर्व के क्षारीय भाव (Alkaline) प्राप्त अन्न का अम्लीभवन करना है क्योंकि pepsin का कार्य अम्लीभाव प्राप्त अन्न पर ही हो जाता है। | |
| Pepsin का Proteins पर कार्य होकर | उनका रूपान्तरण | Proteolase तथा Peptones में होता है। |

आगे इस पर अग्निरस, एवं पित्त रस का पचन कार्य आरंभ होता है।

| लाला ग्रंथि (Salivary glands ये लसिका स्रावी(Serous) ग्रथियां) | कर्णमूलीय ग्रंथि (Parotid glands) | सबसे बड़ी वाम एवं दक्षिण कर्ण के सामने के भाग में स्थित |
|---|---|---|
| | जिव्हाधरीय ग्रंथि (Sublingual glands) (कफप्रधान स्राव) | बदाम से छोटी आकारवाली नीचे के जबड़ें में जिव्हा के नीचे जिव्हा सिवनी के दोनों तरफ एक-एक |
| | हन्वधरीय लालाग्रंथि (submaxillary glands) एक-एक | छोटे अखरोट के आकार के बराबर अधोहनु के नीचे दोनों तरफ |

लालास्राव अभोजन काल में भी सदा नियमित शुरू रहता है।

| | |
|---|---|
| भोजन करते समय<br>प्रिय भोजन के दर्शन मात्र से<br>प्रिय भोजन की गंध मात्र से<br>प्रिय भोजन के स्मरण मात्र से<br>भोजन के नियत काल में<br>(भोजन प्रत्यक्ष शुरू न करते हुये भी) | लालास्राव (salivary secretion) विशेष प्रमाण में शुरू से जाता है। |

**सांकेतिक लालास्राव (Conditional Reflex)** --नियमित समय न चूकते हुये भोजन करने वाले प्राणी में भोजन की वह विशिष्ट बेला आने पर (भोजन प्रत्यक्ष रूप में शुरू न करते हुये भी) प्रभूत प्रमाण में स्रावित होना शुरू हो जाती है।

लालास्रावस्थ **Ptyalin** का **carbohydrates** पर कार्य

{लालाग्रंथि स्राव के द्वारा होने वाला पचन = $\frac{\text{Dextrin}}{\text{Maltose}}$

आमाशय ऊर्ध्व भाग में भी [क्षारीय माध्यम में **(Alkaline media)**] शुरू रहता है।}

(धान्यशर्करा) **dextrin** का भी फिर **Maltose** में रूपान्तरण हो जाता है।

## आमाशयस्य अन्नपचन–

आमाशय का प्रधान कार्य-- अन्न का पोषण वा मर्दन, जिससे अन्न मुलायम श्लक्षण बन जाने के कारण उस पर पाचक रसों का कार्य उत्तमता से हो सकता है।

प्रोटिनों का पचन→ आमाशयस्थ प्रमुख पचन

↓

लवणाम्ल पेप्सिन (Hydrochloric acid/pepsin) } इन पाचक रसों के द्वारा संपादित किया जाता है।

Pepsin → Proteins = Peptone

renin→ दूध से दही बनाने की प्रक्रिया

दुग्धस्थ विलेय (Soluble) caesinogen

→ का रूपान्तर→ Caesin

अविलेय (insoluble) में होता है।

caesin+calcium दही calcaeinate का पचन

→ Hcl + pepsin के द्वारा किया जाता है।

आमाशयस्थ लायपेज के द्वारा→ अल्प प्रमाण में स्नेह पचन क्रिया।

अमाशय की प्रक्रिया पिष्ठ सारों पर संपन्न नहीं होती।

आमाशयस्थ→ Pepsin Renin } अम्लत्वयुक्त द्रव्यों पर ही पाचन प्रक्रिया कर पाते हैं।

आमाशय में समस्त खाद्य पदार्थों पर पचन क्रिया संपन्न नहीं हो पाती।

आमाशय में जो पचन क्रिया संपन्न होती है, वह भी अपूर्ण होती है।

{और इसीलिये आमाशय इन्द्रिय की रुग्णता की गंभीर स्थिति में समस्त आमाशय शस्त्र चिकीत्सक शस्त्र क्रिया से निकाल बाहर कर अन्ननलिका को सीधी ग्रहणी से जोड़ देने की शस्त्र क्रिया कर देते हैं। इसके उपरान्त भी वह व्यक्ति जीवित रहकर दैनंदिन जीवन व्यतीत कर सकते हैं। (अर्थात्, इस से होने वाली कुछ हानियों को भी उस व्यक्ति को शेष जीवन में भुगतते रहना पड़ता है।)}

आमाशय में सम्पादित किया जाने वाला } अवस्थापाक अम्ल अवस्थापाक कहा जाता है।

प्रमुख तथा महत्वपूर्ण पचन प्रक्रिया } ग्रहणी में (Duedenem) (जहाँ अग्नि का निवास होता है) सम्पादित होती है।

ग्रहणी (Duodenum) — द्वादशांगुल प्रमाण। आमाशयस्थ, मुद्रिका द्वार से इसका आरंभ। अँग्रेजी 'C' के आकार युक्त ग्रहणी का आकार। ग्रहणी यह लघ्वंत्र (small intestine) का आरंभ भाग होता है।

इस ग्रहणी में आमाशय से अन्न (जो बिल्कुल मुलायम-श्लक्ष्ण बना हुआ होता है) आना शुरू होने पर

अग्निरस (Pancreatic Juice तथा याकृत पित्त (Bile) } सामान्य पित्त निलिका (Common Bile duct) द्वारा यहाँ लाकर छोड़े जाते हैं।

लघ्वन्त्रगत महत्वपूर्ण पचन — अग्निरस (Pancreatic Juice), याकृत पित्त (Bile), आंत्ररस (Succus entericcus) — का कार्य अन्न पर होने से संपन्न होता है।

अग्न्याशय (Pancreas) → उभयस्रावी ग्रंथि

- बाह्य स्राव → पाचक रस (Digestive enzymes)
- अन्तः स्राव → इन्सुलिन
  'Istets of langerhans' नामक अग्न्याशयस्थ कोषपुञ्जों में यह उत्पन्न।
  - कार्बोहैड्रेटस् के साक्षात धातुपाक एवं उसके पाक द्वारा स्नेह पाक। अतः यह इन्सुलीन शरीर में क्षीण हो जाने पर (in the absence of insulin) शर्करा (glucose) उपयोजन क्रिया धातु कर नहीं पाते। और इसीलिये अनुपयोजित शर्करा मूत्र द्वारा विसर्जित=इक्षु मेह।

## अग्न्याशय--

यथा नाम यह अग्नि का स्थान होता है। इस ग्रंथि के बाह्य स्रावस्थ पाचक रस शरीर में अति महत्वपूर्ण पचन क्रिया के कारक होते हैं, अत: ही इन रसों को 'अग्नि' कहा गया है।

यह इन्द्रिय(Organ) शरीर में अति महत्वपूर्ण, क्योंकि यह अग्निस्थान होता है। इसके बड़े वाले भाग को 'शिर' (Head of Pancreas) कहा जाता है। यह भाग ग्रहणी के दोनों छोरों के बीच स्थित होता है।

इस के बारीक या पतले हिस्से को पुच्छ (Tail of pancreas) कहा जाता है। यह पुच्छभाग प्लीहा (spleen) एवं वामपर्शुका स्थान पर्यंत गया हुआ होता है।

असंख्य खंडों से (lobules) इस इन्द्रिय की रचना हुयी रहती है। इसमें अनेक नलिका ग्रंथियाँ स्थित→ उनसे स्राव होता है। इसे ही **'अग्निप्रसेक'** कहा जाता है।

पुच्छ भाग से शिर भागपर्यन्त स्राव वाहक नलिकायें (Pancreatic ducts) । गूँथे हुये आटे के पिण्ड की तरह यह इन्द्रिय दिखायी देता है।

इस इन्द्रिय के बाह्य स्राव एवं अन्तर्स्राव दोनों सर्वोपरि शरीरोपकारक होते हैं, जिनके बिना जीवन स्थिति ही संभव नहीं रह पाती।

'अन्नमय पुरुष' का अस्तित्व उसके सेवित अन्न के शरीर सात्म्य होने पर ही संभव हो सकता है (पचन-Digestion ) और प्रधान रूप से यह कार्य अग्न्याशय स्राव (बाह्य स्राव-पाचक रस युक्त) करते हैं।

पाचित किया गया अन्न शरीर में उपयोजित करने का कार्य 'इन्सुलीन' नामक इसी इन्द्रिय के अन्त:स्राव द्वारा संपन्न होता है, जिसकी अनुपस्थिति में (Dibetes) शरीर की अति दयनिय स्थिति हो जाती है।

इन दोनों ही दृष्टियों से { १. सेवित अन्न का पचन होना तथा, २. पाचित अन्न का धातुओं में योग्य उपयोजन होकर बल-वर्ण-ओज-उत्साहादि उत्पन्न हो पाना} इनका अग्न्याशय स्राव ही महत्वपूर्ण कारक होता है।

अत: ही उन प्राचीन आयुर्वेद मनीषियों ने इसे प्रदान किया हुआ 'अग्न्याशय' यह नाम कितना सार्थ एवं वैज्ञानिक है- इस सत्य की प्रतीति हो जाती है।

## याकृत पित्त-

**यकृत अधोभाग में स्थित डेढ़ इंच लम्बी अधोमुख स्थिति में स्थित पित्ताशय वा पित्तकोष (Gall Bladder) ।**

यकृत के द्वारा निर्मित पित्त इस पित्त कोष में आकर संचित होता रहता है।

अन्नपचन क्रिया की संपन्नता के समय यहाँ से यह पित्त सामान्य नलिका (Common bile duct) के द्वारा अग्न्याशय रस के साथ ग्रहणी में आकर अन्न में मिलता रहता है तथा अन्न पचन कार्य में सहभागी होता रहता है।

**अग्नि रस--**

पारदर्शक (Transparant) वर्णहीन, जलवत्।

आमाशय से अम्लता प्राप्त अन्न ग्रहणी में पहुँचना आरंभ हो जाने पर यह स्राव प्रेरित होकर ग्रहणी में पहुँचने लगता है।

इस अग्नि रस का ९७.६ . भाग जल
१.८ : भाग घन-सेंद्रिय युक्त
तथा ०.६ : भाग घन निरिन्द्रिय युक्त।
इस भाग में ६ पाचक रस (Enzymes)
अन्न पचन कार्य के कारक

I Tripsin→ लालास्रावसस्थ पाचक रस
↓ ↓Pepsin के समान कार्य

अम्ल माध्यम में कार्य संपन्न कर पाता है

का कार्य क्षारीय माध्यम में (Alkaline media) उदासीन वा अतिमंदाम्ल माध्यम में ही संभव।

Trypsionogen यह मूलरूप- आन्त्ररस Enterokynase की प्रेरणा से
→ trypsin में रूपान्तरण

Trypsin का प्रमुख कार्य-proteins पर क्रिया करके उनका पचन करना।

दूसरा प्रोटिन पाचक-Chymotry psin

तीसरा प्रोटिन पाचक-Carboxy peptidase

लायपेज + याकृत पित = स्नेह विघटन

= Emulcification

= Saponification

(साबूनीकरण)

लायेपेज के कारण–स्नेहसमस्त { glycerin तथा Fatty acid } रूप में विच्छिन्न

इस रूप में यह स्नेह रसांकुरिकाओं की पयस्विनियों (Lacteales) द्वारा उसका परिशोषण शरीर में हो जाता है।

याकृत पित्त की उपस्थिति के बिना– लायपेज द्वारा होने वाला यह समस्त कार्य संपन्न नहीं हो पाता अथवा सदोष स्वरूपीय अथवा अति बिलम्ब से संपन्न हो पाता है।

अग्निरसस्थ (pancreatic Juice) Amylase –मुख तथा आमाशय स्थानों में पाचित हुये पिष्ठसारों का विघटन करता है।
=धान्यशर्करा (Maltose) एवं (Achrodexin) रूप में रूपान्तरित।

फिर इस पर
आंत्ररसीय (Entero kynase) { Maltose का कार्य होकर } इसका द्राक्षाशर्करा Glucose में रूपांतरण हो जाता है। आंत्रस्थ रसांकुरिकाओं में (Villi) यह Glucose शोषित हो जाता है।

**समानेनावधूतोऽग्निरूदर्य:.................. । परंतु पच्चमानस्य विदग्धास्यम्ल भावत: । आशयातच्चवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ।**

**–च०सं०वि० १५**

**...................... विदाहादम्लतां तत: ।**

**पित्तमामाशयात्कुर्याच्चयवमानच्युतं पुन: ।**

**–अ०हृ०शा० ३**

## तृतीय अवस्था पाक–

**कटु अवस्था पाक–जब भुक्तान्न ग्रहणी भाग से आगे के क्षुद्रान्त्र में आता है तब आंत्रस्थ पाचक रस (succus entericcus) द्वारा समान वायु की प्रेरणा से आरंभ हो जाता है, जिसके**

द्वारा शेष {अल्प स्वरूपीय} पचन कार्य का संपादन होता है, {पचन प्रक्रिया पूर्ण होती है} तथा सार भाग वहाँ शोषित कर लिया जाता है।

इस कटु अवस्थापाक के परिणाम स्वरूप जो अन्नरस निर्मिति होती है, वह प्राय: कटुरसीय होती है-अत: ही उसे कटु अवस्थापाक कहा जाता है।

विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि इस भाग में अन्न आकर पहुँचने के बाद ही अग्न्याशय रस (Pancreatic Juice) एवं याकृत पित्त (Bile) इनका पचनकार्य फिर भी यहाँ भी शुरू ही रहता है। ये दोनों भी क्षारीय (Alkatine) होते हैं अत: उनके पचन करने के कार्य में यहाँ कोई भी बाधा नहीं आती।

आन्त्रस्थ रस (Erepsin) नामक पाचक तत्व का कार्य
अर्धपक्व प्रथिनों पर होकर Amino-Acids में उनका
रूपान्तरण हो जाता है।

आन्त्रस्थ रस (Enterokynase) –इस पाचक रस के कारण द्विशर्करा का
सुलभ शर्करा में (Glucose) रूपान्तरण
हो जाता है।

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना
परिपिण्डितं पक्वस्य वायु: स्यात् कटु भावत:।

–च०सं०चि० १५

उदा-अन्नस्थ पार्थिवांश भौम्याग्नि के द्वारा पाचित किया जाकर उस अंश से गन्धगुण का पोषण संपादित किया जाता है। इस प्रकार स्व-स्व अंशों का परिपाक सम्पादित कर भूताग्नि-

शब्द<br>
स्पर्श<br>
रूप → इन्हें बल प्रदान करती रहती हैं।<br>
रस<br>
गन्ध

जिस तरह जाठराग्नि पाक शरीर में कब, कहाँ, (कौन से भाग में), किस तरह? सम्पादित किया जाता है इसका सविस्तर वर्णन उपलब्ध होता है वैसा भूताग्निपाक के बाबत सविस्तर वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

**भौमादय: पंचोष्माण: पार्थिवादि द्रव्य व्यवस्थिता**

**जाठराग्नि संधुक्षित बला अंतरीय द्रव्यं पचन्त: स्वान् स्वान्**

**पार्थिवान् पूर्वपार्थिव गन्धत्वाद्य विलक्षणान् गुणान् निवर्तयन्ति।**

**....................जाठरेणाग्निना पूर्वकृते संघातभेदे पश्चात्**

**भूताग्नय: पञ्च स्वं स्वं द्रव्य पचन्ति।**

-च०सं०वि० १५-चक्र०

अर्वाचीन शारीर क्रिया विद्वानों ने इस बाबत वर्णन किया हुआ दिखायी देता है, कि आहारविविध घटकों का महास्रोतस में पाक सम्पादित हो जाने पर धातु द्वारा सात्म्यीकरणार्थ यकृत स्थान में पुन: पाक कार्य संपन्न होता है। यहाँ प्रोटिनादि का विलक्षण रूप में परिपाक संपन्न होता है। आवश्यकतानुसार (Starch) का वसा में तथा प्रथिनों का वसा में परिर्वतन किया जाता है तथा इस तरह ऊर्जोत्पत्ति शरीर में उत्पन्न की जाती है।

**'The ability of animal body to convert starch in to the fat is wellknown. In terms of animal economy the phenomenon is a conversion of an excess of quickly available energy reserves in to a more permanent storage from which may again be converted back in the glucose in a time need.'**

**[The Machinary of Body]**

**-काय चिकीत्सा-आचार्य रामरक्ष पाठक**

धात्वग्निपाक– सर्वप्रथम जाठराग्निपाक
→ फिर भूताग्निपाक
और अन्त में धात्वग्निपाक
} शरीर में सम्पादित होता रहता है।

सप्त धातुओं की सप्तधात्वग्नियाँ शरीर में विद्यमान होती हैं } जिनके द्वारा → { धातु उपादानों का पुनः पाक संपादित किया जाकर फिर उससे शारीर धातु में उस अंश का सात्म्यीकरण होता है।

धात्वग्नि का कार्य होकर { सार भाग, किट्ट भाग } ये दोनों ही शरीरोपकारक शरीर पोषक तैयार होते हैं।

उदा– रसाग्नि द्वारा संपादित किये गये पाक के परिणाम स्वरूप निर्मित सारभाग रस (पोषक रस) धातु का पोषण करता है तथा किट्ट भाग-(मल) कफ यह कफ का पोषण करता है।

धात्वग्नि पाक के कारण –
- पोषक धातु
- पोष्य धातु
- धातुमल

} इनकी निर्मिति होती है।

पोषक धातु अगले धातु की निर्मिति करता है।

पोष्य धातु उस अपने धातु से सात्म्य होकर उसकी पुष्टि करता है।

धातु मल यह धातु मल से सात्म्य होकर उसका पोषण करता है।

उदा– रक्त धातु तैयार होने की प्रक्रिया में तैयार हुआ रक्त का मल–पित्त यह शरीरस्थ पित्त का पोषण करता है।

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः
यथा स्वंआग्निभिः पाकं यान्ति किट्ट प्रसाद वत्।
रसात् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेद स्ततोऽस्थि च
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्रात् गर्भ प्रसादजः।

–च०सं०चि० १५

**चार प्रकार की अग्नि –**

समदोंषैः समोमध्ये देहस्योत्म्माऽग्नि संश्रिताः।।
पचत्यन्नंतदारोग्यं पुष्ट्यायुर्बल वृद्धये
दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धा वां विषमैर्जनयेद् गदान्।।

–च० सं० चि० १५

विषमोवातजान् रोगान् तीक्ष्ण: फ्तिनिमित्तजान्
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान्।

—सु० सं० उ० ३५

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचक:। स चतुर्विधो भवति दोष नभिपन्न एक:, विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति—विषमो वातेन, तीक्ष्ण: पित्तेन, मन्द: श्लेष्मणा, चतुर्थ: समा सर्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकाल मुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स सम: समर्दोषै: य: कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मान शूलोदावर्तातिसार जठर गौरवान्त्र कूजन प्रवाहणानि कृत्वा स विषम:। य: प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्ण: स एवाधिवर्धमानोऽत्यग्निरिति भाष्यते। स मुहुर्मुहु: प्रभूतमप्युपयुक्त-मन्नआशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठ शोष—दाह—सन्तापाञ्जनयति, यस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदर शिरोगौरवौरव कास श्वास प्रसेकच्छर्दि गात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्द:।

—सु०सं०सू० ३५

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्
तीक्ष्णे मन्देऽन्धनो धातून विशोषयति पाचक:।
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्
दुर्बली विदहत्यैन्नं तद्यात्यूर्ध्वमघोऽपिवा।

—च०स०वि०१५

अग्नि शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो मलभेदेन भवति। तद्यथा तीक्ष्णो—मन्द:—समो—विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्नि: सर्वापचारसह: तद्विपरीत लक्षणस्तु मन्द: समस्तु—खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारस्तु प्रकृतावतिष्ठते, समलक्षण विपरीत लक्षणस्तु विषम इति एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नय:, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठानो विषमा भवन्तयग्नय:, पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नय:, श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दाभवन्त्यग्नय:।

—च०सं०वि० ६

विषमाग्नि—

वातप्रकृति मनुष्य छोटे मोटे कारणों से उत्तेजित—क्षुब्ध होते रहते हैं। इसलिये क्षुब्धता के लिये (irritation) छोटे मोटे कारण भी उन व्यक्तियों के पचन संबद्ध नाड़ी सूत्रों को क्षुब्ध करने के लिए कारणीभूत होकर उन नाडी सूत्रों की क्रिया में बिगड़ाहट पैदा हो जाती है।

**तीक्ष्णाग्नि--**

पित्त प्रकृति व्यक्ति में पित्त गुण प्रभुतता विद्यमान होती हैं। इन पित्त प्रकृति-व्यक्तियों का अग्निस्थान भी पित्तभूयिष्ठ होता है।

पित्त एवं अग्निगुण परस्पर मिलने पर अर्थात् ही इन व्यक्तियों की अग्नि अति शक्तिशाली स्वाभाविकत: हो जाती है।

आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञानानुसार यह स्थिति आमाशयस्य लवणाम्ल नामक पाचक पित्त के प्रकोप के कारण (Hyperchlor Hydria) हो जाती है।

# अजीर्ण

शुष्कं विरूद्धं विष्टंभि वह्निव्यापदमावहेत्
आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिले स्त्रिभि: ।।
अजीर्णे केचिदिच्छन्ति चतुर्थ रसशेषत: ।

—सु० सं० सू० ४९

१. भोजन काल में भूख लगने पर भोजन न करते हुये
अत्यधिक जल प्राशन करना।

२. विषमाहार सेवन

३. स्वप्नविपर्यय (रात को जाग्रण करना तो दिनभर सोना)

४. मनोविकार - अति ईर्ष्या
शोक-क्रोध
लोभ-द्वेषादि } की वजह से → अग्निदुष्टि।

अल्पम्बुपानात् विश्माशनात् वा, सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च कालेऽपि साम्यं लघुचापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते तस्य। ईर्ष्या भय क्रोध–परिप्लुतेन–लुब्धेन रूग्दैन्य निपिडितेन।

प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिणाममेति।

–सु०सं०सू० ४६

अग्निप्रदुष्टि के कारण आम रस तैयार होता है, जो ऊर्ध्व एवं अध: शरीर मार्ग से शरीर के बाहर प्रवृत्त होने लगता है–

यही विषूचिका(cholera) कहलाती है। किन्तु यदि स्रोतसावरोध शरीर में उपस्थित रहा, जिससे ऊर्ध्व या अधोमार्ग से यह आम (विषरूप) शरीर के बाहर उत्सर्जित नहीं हो पाया। तो इस गंभीर स्थितियों में अलसक नामक गंभीर व्याधि उत्पन्न हो जाता है।

यही अलसक आगे और ज्यादा प्रमाण में हुयी दोष दृष्टि के कारण दण्डालसक तथा विलम्बिका नामक अति भयंकर व्याधियों का रूप धारण कर लेता है।

१. विष्टब्धाजीर्ण (वायु के कारण)

उदरातिशूल-मुखशोष-मूर्च्छा
भ्रम-स्तंभ-आनाह
शूल-अङ्गमर्द-सिरांकुचन

पार्श्व
पृष्ट
कटि } इनका ग्रह (भीषण जकड़ाहट)

२. विदग्धाजीर्ण (पित्तदुष्टि के कारण)

भुक्तान्न के विदग्ध (अम्लताभाव प्राप्ति) होने के कारण → ज्वर-अतिसार तृषा-अंतर्दाह
मद-दाह-भ्रम-प्रलाप
इ० लक्षणों की उत्पत्ति।

**३. आमाजीर्ण (कफ दुष्टि के कारण)**

**अरूवि–छर्दि–आलस्य–अंग गौरव–अवियाक–शीतज्वर इ रूपों की उत्पत्ति होती हैं।**

**रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि तु**

**अजीर्णान्मलीनैश्चान्ये र्जायन्ते मल संचयात्।**

**–अ० ह्० नि० १०**

**जाठराग्नि की उत्पन्न हुयी विकृति जाठर रोगों को ही नहीं अपितु समस्त शारीर रोगों के लियेभी कारणीभूत हो सकती है।**

**इसीलिये अजीर्ण को समस्त रोगों का मूल माना गया है।**

**आम विष वा अन्नविष**

- **जब पित्त से संसृष्ट हो जाता है–**
  **तब तृष्णा –अम्लपित्त मुखरोग तथा अनेक पित्तरोगो की उत्पत्ति होती है**
- **जब कफ से संसृष्ट होता है–**
  **तब यक्ष्मा–पीनस प्रमेहादि व्याधि उत्पन्न।**
- **जब वायु से संसृष्ट हो जाता है–**
  **तब अनेकानेक वात रोगों की उत्पत्ति।**
- **जब रस–रक्तादि धातुओं से संसृष्ट हो जाता है–**
  **तब तत्तत् धातुजन्य विकारों की उत्पत्ति होती है।**
- **जब मूत्र से संसृष्ट हो जाता है–**
  **तो वह अनेक मूत्र रोगों के लिये कारणी भूत होता है।**
- **जब शकृत् वा पुरीष से संसृष्ट हो जाता है–**
  **तब अनेकानेक शकृद् रोग एवं कुक्षि रोगों की उत्पत्ति होती है।**

**विरूध्वाध्यशनाजीर्णानिशीलिनः पुनरामदोषमामविष**

**मित्याचक्षते भिषजः विषसदृश लिङ्गत्वात्।**

**--च०सं०वि० २**

घोरं अन्नविषं च तत्। संसृज्यमानं पित्तेन दांह तृष्णा मुखामयान् जनयति।

—च०सं०चि०१५

अम्लपित्तं च पित्तजाश्चापरान् गदान्
यक्ष्म पीनस मेहादीन कफजान् कफसंगताम्।
करोति वातसंसृष्टं वातजांश्च गदान् बहुन्
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गदम्।
रसादि भिश्च संसृष्टं कुर्याद् रोगान् रसादिजान्।

—च०सं०चि० १५

अत: स्वप्रकृति का विचार कर योग्य आहार-योग्य भोजन योग्य समय में - योग्य मात्रा में सेवन करना स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य हो जाता है।

# कोष्ठ

## कोष्ठ-महास्रोत-अन्नवहा नाड़ी

[Alimentary canal]

शरीरमध्य महानिम्न-आम-पक्वाशय

इन शब्दों में कोष्ठ का परिचय दिया हुआ दिखायी देता है।

इसे आभ्यन्तर रोगमार्ग कहा गया है। यह प्राणवह स्रोतसका मूल है।

कोष्ठ: पुनरूच्यते महास्रोत: शरीरमध्यं
महानिम्नमाम पक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तंत्रे,
स रोगमार्ग आभ्यन्तर:।

—च०सूं०सू० २१

प्राणवह स्रोतसां मूलम्।

—च०सं०वि० ५

स्वकुक्षौहृदयाद्बस्ति पर्यन्ते।

—वै०श०सिं०

**आमाग्नि मूत्ररूधिर स्थानादौ - यथा स्थानान्यामग्निपक्वानां मूत्रस्य रूधिरस्य च हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते।**

-सु०सं०चि० २

**नाभि: ! प्लीहा यकृत क्लोम हृद्वृक्कौ गुदबस्तय: क्षुद्रान्त्रमथच स्थूलान्त्रमाम पक्वाशयौ वपाकोष्ठांगानि वदन्ति।**

-का०सं०शा० ४६

रूग्ण को शोधन चिकीत्सा (वमन-विरेचनादि) देते समय उसके कोष्ठ का विचार न करते हुये यदि विरेचन दे दिया जाय तो क्रूर कोष्ठी व्यक्ति में अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो पाता तो मृदु कोष्ठी में सामान्य विरेचन से भी कष्टकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अत: चिकीत्सक को कोष्ठज्ञान होना चिकीत्सा की सफलता के लिए अनिवार्य ही समझा जाता हैं, जिससे कष्ट न होते हुये रूग्ण को चिकीत्सा द्वारा अल्प समय में अपेक्षित उपशय प्राप्त हो सके।

इसके अभाव में विरेचन का हीन योग-अतियोगादि हो जाने के कारण रूग्ण को अकारण

(चिकीत्सक के अज्ञान के फलस्वरूप) कष्टों से जूझना पड़ता है और चिकीत्सक का अपेक्षित उद्येश्य भी सफल नहीं हो पाता।

१. मृदु कोष्ठ– इस नाम पर से स्पर्श के लिये मृदु-मुलायम होना-ऐसी आरंभ में विद्यार्थियों की कल्पना हो सकती है। किन्तु दिये हुये विरेचन के परिणामों पर से ही मृदु क्रूरादि कोष्ठों का निश्चितिकरण किया जाता है-यह विशेष महत्वपूर्ण तत्व इस विषय में आयुर्वेद अभ्यासकों ने ध्यान में रखना चाहिए।

मृदु कोष्ठी व्यक्तियों में कोष्ठमार्दव का कारण उनके शरीरस्थ पित्त का प्रकर्ष होता है। पित्त के 'सर' गुण के कारण कोष्ठस्थ मल-वात का अनुलोभन उत्तम रूपेण हो जाता है।

पित्त के 'सर' गुण का विरोधक वायु एवं स्तंभक गुणीय कफ ग्रहणी में मंद वा निर्बल होने के कारण पित्त का 'सरगुणीय कार्य' प्रकर्षेण संपन्न होता रहता है।

मृदु कोष्ठी व्यक्तियों में वायु क्षीण होने के कारण मलस्थ क्लेदपचन (अग्नि) तथा शोषण (वायु) ये कार्य संपन्न नहीं हो पाते।

उदीर्ण पित्ताल्प कफा ग्रहणी मन्द मारूता
मृदु कोष्ठस्य तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः।

–च०सं०सू० १३

२. क्रूर कोष्ठ – मृदु के बिलकुल विपरीत यह क्रूर गुण। कोष्ठ वाताभिभूत होता है, जिससे बीच-बीच में आंत्रस्थ गतिस्तंभ हो जाता है। उसी तरह अग्नि एवं वायु को पुरीषस्थ स्नेह एवं क्लेद पचन तथा शोषणार्थ ज्यादा काल प्राप्त हो जाता है, जिससे स्नेह पाचन एवं

क्लेद शोषण कार्य विशेष प्रमाण में संपन्न होता है, जिससे पुरीष को शुष्कता प्राप्त हो जाती है–पुरीष ग्रंथिल–शुष्क बन जाता है, जिससे प्रतिलोम अर्थात् ऊर्ध्वगामी होकर उदावर्त नामक-कष्टकर व्याधि उत्पन्न हो जाता है। तद्वतहि अर्शादि गंभीर व्याधि भी उत्पन्न हो जाते हैं।

क्रूर कोष्ठ दुर्विरेच्य होता है अर्थात् इस प्रकार के कोष्ठ पर विरेचन विकीत्सा का अपेक्षित परिणाम दिखायी नहीं देता।

**विरेचयन्तिनैतानि क्रूरकोष्ठ कदाचन।**

–च०सं०सू० १३

क्रूर कोष्ठी व्यक्ति के लिए तिव्र विरेचक काला दाना (नीलिनी), जयपाल, स्नूही क्षीर आदि का तीक्ष्ण मात्रा में प्रयोग करने पर ही अपेक्षित परिणाम दिखायी दे पाता है।

**भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्यु ल्वणानिला।**

–च०सं०सू० १३

**३. मध्य कोष्ठ**–कफ प्रधान कोष्ठ–साधारण कोष्ठ अथवा मध्य कोष्ठ कहलाया जाता है।

| | | |
|---|---|---|
| शरीरस्थ त्रिदोष समप्रमाण में | होने की स्थिति में भी | मध्य कोष्ठ होता है। |
| जिसमें | वातकृत क्रूरता अथवा पित्तकृत मृदुता | दोनों का अभाव होता है। |
| | वह साधारण वा मृदुकोष्ठ। | |

दोष संसर्ग से कफ का योगवाही कार्य संपन्न होता है।

**योगवाही तयो: कफ:।**

–अ०हृ०सू० १

| | | |
|---|---|---|
| कफ एवं वात | के कारण | क्रूरकोष्ठ |
| कफ-पित्त, वात-पित्त, एवं सन्निपात से | मृदु कोष्ठ | ऐसी व्यक्ति को साधारण विरेचन साधारण मात्रा में दे देने से अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो जाता है। |

| | | | |
|---|---|---|---|
| पित्त की स्निग्धता के कारण | मृदुकोष्ठीय व्यक्ति | तीन दिनों में ही स्निग्ध हो जाता है। | |
| वात की रूक्षता खरता के कारण | क्रूरकोष्ठीय व्यक्तिको- | स्निग्ध होने के लिये | सात दिन लगजाते हैं |

मृदु कोष्ठस्त्रि रात्रेण स्निहयत्यच्छोप सेवय।
स्निहयति क्रूरकोष्ठस्तु सप्त रात्रेण मानवः।

-च० सू० १२

# निद्रा

निद्रा —
- स्वाभाविकी- रात को स्वभावधर्मतः आनेवाली। भूतधात्री-क्योंकि इस निद्रा से आरोग्य एवं योग्य शरीरपोषण।
- आगन्तुकी- सन्निपातज ज्वर इ. असाध्य रोगों में अरिष्ट लक्षण रूप यह निद्रा आती है।
- तमोगुणाधि क्योत्पन्न- मानसिक एवं शारीरिक श्रमाधिक्य के कारण अति थकान से आनेवाली। तथा कफरोगों में आनेवाली।

कफ एव तम के आधिक्य के कारण- } निद्रा।

| | | | |
|---|---|---|---|
| वात / कफ | एवं / तम | के आधिक्य / के कारण | तन्द्रा |
| वात / पित्त | एवं / रज | के अधिक्य / के कारण | भ्रम (चक्कर– Vertigo ) |

पित्त एवं
तम के } मूर्च्छा
कारण

चेतना स्थान जो हृदय, वह तमावृत्त हो जाने के कारण निद्रा उत्पन्न।

**हृदयं विशेषेण चेतनास्थान मतस्तभिं स्तमसाऽऽवृते सर्व प्राणिनां स्वपन्ति।**

सुषुप्ति/निद्रा – में बाह्येन्द्रियाँ मन स्थान में पूर्णत: लीन हो जाती हैं।

**अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्ति निद्रा।**

-पतञ्जलि

किन्तु मन के कुछ महत्वपूर्ण कार्य इस स्थिति में भी शुरू ही रहते हैं, किन्तु वे अनैच्छिक स्वरूपीय (Involuntary ) होते हैं।

## मन तथा स्वप्न–

मन के अंतर्भाग में वा चोरकप्पे में अथवा अंतर्मन में अनेकानेक अतृप्त इच्छायें दबी पड़ी रहती हैं, जो पूरी नहीं हो सकती।

मनुष्य की निद्रामग्नता की स्थिति में मन स्वप्नों के माध्यम से उन इच्छाओं की पूर्ति कराने का प्रयत्न करता है।

निद्रित व्यक्ति का मन रजोगुणयुक्त होने पर शरीर का स्वामी, जो जीवात्मा, वह पूर्वजन्म तथा इस जन्म में अनुभव किये हुये शुभाशुभ विषयों का अनुभव उस रजोगुण युक्त मन के द्वारा निद्रास्थिति में पुन: प्राप्त करता है-इसे ही स्वप्न कहा जाता है।

**मनोवह स्त्रोतसि दोषपूर्णे अथवा नातिप्रसुप्त: पुरुष: स्वप्नं पश्यति।**
**पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपत: प्रभु:**
**रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यथान शुभाशुभान्।**

-सु०सं०शा० ४

तीनों दोष प्रकुपित होकर मनोवह स्रोतसों को बधिर कर देते है, अथवा अर्ध निद्रावस्था में मन इन्द्रियों के विषयों का पूर्णत: ग्रहण न कर पाने के कारण स्वप्न आते हैं, जिन के द्वारा मन पूर्वानुभूत उन बातों का घटनाओं का पुन: प्रत्यय प्राप्त करता है।

**मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलै स्त्रिभि:**
**स्त्रोतसां दारूणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारूणान्।**

नाति प्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा।
-च०सं०इं० ५

आयुर्वेद के अनुसार मन यह स्वतंत्र द्रव्य है। अणुत्व यह मन का गुण।

चिन्तन यह मन का प्रधान कार्य।

मन एक ही है। अणुत्व कारणेन प्रत्येक इंद्रिय से मन अविलंब सन्निकर्ष कर पाता हैं।

जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या — ये मन की चार स्थितियाँ।
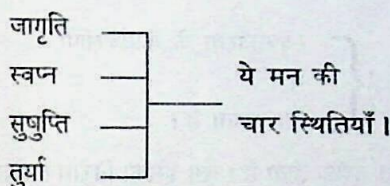
जागृति–मन पूर्णतः बहिर्मुख।

इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियार्थों का स्वीकार किया जाता है।

कर्मेन्द्रियों की विभिन्न क्रियायें (Voluntary activities) संपन्न की जाती रहती हैं।

सुषुप्ति–शरीरेन्द्रियाँ एवं मन – विश्राम की स्थिति में

इन्द्रियों का विषयग्रहण तथा कर्मेन्द्रियों की क्रियायें (Voluntary activities) – बन्द हुयी रहती हैं।
मन अंतर्मुख होता है। –

स्वप्न–मन थोड़ा सा बहिर्मुख तथा बहुतांश में अन्तर्मुख होता है।

इन्द्रियार्थों का सम्यक् ग्रहण नहीं होता। जागृता वस्था में अनुभव किये इन्द्रियार्थो का परिणाम थोड़ा-थोड़ा होता रहता है, जिससे प्रत्यक्ष अनुभव लेते रहने के अनुसार ही स्वप्न में विभिन्न अनुभूतियों को मन प्राप्त करता हैं।

मन बहुतांश अंतर्मुख तथा इन्द्रियाँ सुप्त होती हैं। इन्द्रियार्थो के संस्कारहि सिर्फ मन पर रहते हैं। उनमें से अति परिणामकारी संस्कारों की मन पर गहरी छाप पड़ जाती है, जिससे वे विशिष्ट इन्द्रियार्थ ही पुनः-पुनः मन के सामने नाचते रहते हैं, जिनका आधा-अधूरा अविष्कार स्वप्न के माध्यम से कुछ काल पर्यन्त होता रहता हैं। इन्द्रियाँ सुप्तावस्था में रहने की स्थिति में आधा अधूरा इन्द्रियार्थ ग्रहण करने का मन का प्रयत्न ही स्वप्न होता है।

आत्मा तैजस अहंकार से युक्त होता है =

ऐसे समय मनोवह स्त्रोतस } त्रिदोष अथवा किसी एक दोष से } आक्रान्त हो जाने पर भयानक सपने आते हैं।

अर्थात् जब तक मनोवह स्त्रोतस दोषों से आपूर्त नहीं होता } तब तक { दारूणस्वप्न दर्शन हो नहीं पाता।

इसी का यह अर्थ है कि मनोवह स्त्रोतस दोषावृत्त न होने की स्थिति में दारूण स्वप्न नहीं आ पाते तो सौम्य स्वप्नदर्शन होता है।

तैजस वा राजस अहंकार } मन को { स्वप्नावस्था के कार्यकलापों में रत रखता है।

राजस अहंकार यह तमोगुण के विपरीत गुणीय होता है। तम इसका निरोधक होता है।

अत: सुप्तावस्था में मन कार्यप्रवण नहीं हो पाता।

(रात्री के प्रथम प्रहर में देखा हुआ)

} इनका कोई भी फल नहीं होता क्योंकि मन पर गहरा असर डालने वाले दृश्य-कल्पनायें-भाव इ. का इस तरह का स्वप्न एक प्रकटिकरण मात्र होता है।

**स्वप्नभेद**
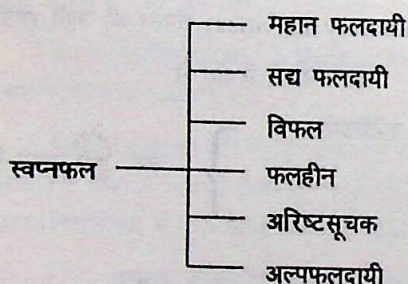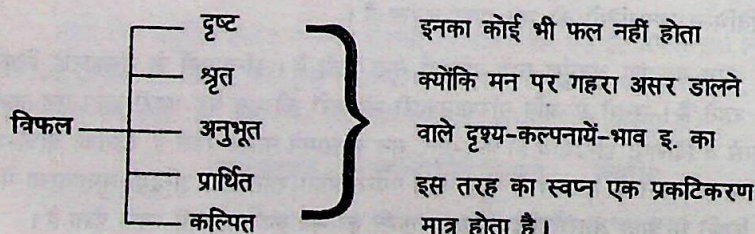
- **दृष्ट–** जो नेत्रों से देखे जाते हैं ऐसे मन पर गंभीर परिणाम करने वाले दृश्य-घटना इ. स्वप्न में दृश्यमान हो जाते हैं।
- **श्रुत–** सुनी हुयी ऐसी बातें, जिनका मन पर गहरा असर हो जाता है (दोस्ता में की गयी भूतों की बातें इ.) वे स्वप्न में दृश्यमान हो जाती हैं।
- **अनुभूत–** शृंगारिक-भयप्रद-भयंकर अपमानकारक-अतिसन्मानकारक इ. प्रसंग जो दिल ने गहराई से अनुभव किये है, अथवा जिन के विषय में मन में सतत चिन्तन शुरू रहता है, वे स्वप्न में दृश्यमान हो जाते हैं।

  उदा-लाटरी लगने की मीठी कल्पना में खोये लोगों के स्वप्न म सात लाख की लाटरी लग जाती है।
- **प्रार्थित–** मन जिस बात की तीव्रता से इच्छा करता है।

  उदा-किसी को अपना प्रेमी मन ही मन मान ले कर मन के मन उसके प्रेम रंग में रंग जाने वाले व्यक्ति को स्वप्न में वही सब साकार हआ दिखायी देता हैं।

  विशाल बंगला-कार इ. के विषय में मन ही मन तड़पते हुये के स्वप्न में वे सब इच्छायें पूर्ण हो जाने के मन भावन दृश्य साकार हो उठते हैं।
- **कल्पित–** बार-बार मन में इच्छा आती है कश्मीर की वादियों में खो जाने की या ताजमहल देखने की। किन्तु प्रत्यक्ष में तो वह साध्य नहीं हो पाता। स्वप्नसृष्टि में उस इच्छापूर्ति का भरपूर संतोष प्राप्त होता हैं।
- **भाविक–** शुभ वा अशुभ फल प्रदान करने वाले स्वप्न भावि घटनाओं के सूचक।
- **दोषज–** कफ प्रकृति व्यक्ति को जलाशय, चन्द्र इ. का दर्शन, पित्त पकृति व्यक्ति को भीषण तपते सूरज में या आग में झूलसने के भयंकर स्वप्न आना।

तीन दिनों में उस स्वप्न के शुभाशुभ फल का सत्यसृष्टि में (जागृतावस्था में) प्रत्यय आ जाना=सद्यफलदायी।

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा
भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः।

-च०सं०इं० ५

दृष्टा प्रथम रात्रे च स्वप्न: सोऽल्प फलो भवेत्
न स्वपेद्यं पुनर्दृष्ट्वा स सद्य: स्थान महाफल:।

-च०स०इं० ५

मन यह समस्त इन्द्रियों का नियन्ता प्रणेता होता है। समस्त विषय-सुखदु:खादि भोग मन के ही आधीन। उसी तरह अशुभकर (हानिकर) विषयों की इच्छाओं पर संयम वा अंकुश रखना यह मन का महत्वपूर्ण कार्य। ऐसी अनेकानेक अशुभ इच्छायें मन के गहन चोरकप्पे में दबी पड़ी रहती है और उनमें से ही कुछ दमित अतृप्त इच्छायें, जो सत्यसृष्टि में पूरी नहीं हो पायी, वे ही स्वप्न में अवतरित होकर मन को उसके द्‌वारा सुख-दु:खादि की अनुभूति प्रदान करती हैं।

१. शरीर यह रथ

२. इन्द्रियाँ ये उस रथ के अश्व

३. मन-यह उस रथ को योग्य गन्तव्य पर बिना हानि पहुँचाने वाला सारथि

४. आत्मा-यह उस शरीररूपी रथ में बैठा हुआ रथी। ऐसी सरल-सुंदर आलंकारिक भाषा में यह गहन विषय बड़ी चतुरायी से समझाया गया दिखायी देता है।

मनरूपी सारथी का विषय रूपी (इन्द्रिय रूपी) अश्वों पर यदि योग्य नियंत्रण न रह पाया तो वे इन्द्रिय रूपी अश्व बेकाबू होकर रथ को चाहे जिधर ले जाकर उस रथ का सर्वनाश कर सकते हैं, जिसकी वजह से रथ में बैठा रथी जो आत्मा वह दुखी हो सकता है।

प्राक्तन भोगों के अनुसार (जन्मजन्मांतर कृत शुभाशुभ कर्मो का कर्मफल भोगने के खातिर मनयुक्त सूक्ष्म शरीरस्थ आत्मा अनेकानेक योनियों में भटकता रहता है तथा उन कर्मो के अनुसार-शुभाशुभ कर्मफल भोगता रहता है।) मन शुभाशुभ इच्छाएं प्रदर्शित कर उसके अनुसार शुभाशुभ कर्म कर शुभाशुभ परिणामों को भोगता है।

मन के भीतर गहराई वाले चोर कप्पे में अनेकानेक इच्छायें, जिनकी पूर्ति न हो पायी है और न कभी होने की संभावना ही रहती है-दबी पड़ी रहती हैं। मनुष्य की सभी इच्छाओं की तृप्ति नहीं हो पाती। ऐसी अतृप्त इच्छायें, जिनकी पूर्ति की खातिर मन सदा आतुर रहता है, मनुष्य निद्रामग्न होने की स्थिति में स्वप्नावस्था की उस अवस्था में जागृतावस्था की तरह अनोखा संसार रचकर उन दमित-अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति करता रहता है।

निद्रा जीवन के 'त्रय उपस्तंभ' में से एक।

त्रयो उपस्तंभः —
- आहारः,
- स्वप्न (निद्रा),
- ब्रह्मचर्य

आचार्य सुश्रुलने निद्रा को 'वैष्णवी' नाम से संबोधित किया हैं। त्रिदेवों में जैसे विष्णु सृष्टि का आधार एवं पोषक है-उसी तरह 'प्राकृतनिद्रा' प्राणियों का धारण-पोषण करने वाली होती है। यह निद्रा स्वभाव से ही समस्त प्राणियों को वश में कर लेती हैं।

**सा स्वभावत एव सर्व प्राणिनोऽभिस्पृशति।**

**-सु०सं०शा ४**

निद्रा यह तमोगुणोत्पन्न और इसीलिये उसे 'पाप्मा' कहा गया है। वह शरीरधारक होकर भी 'पापमूलक' कही जाती हैं। क्योंकि इस निद्राकाल में समस्त शुभाशुभ व्यापार बंद हो जाते हैं।

आधुनिकों के अनुसार-Third ventricle के तलभागीय धूसर(Gray matter) भाग में तथा Hypothalamus भाग में निद्रा संबद्ध कुछ भाग होता हैं, जिसमें विकार के आ जाने पर निद्रा तथा तन्द्रा उत्पन्न।

अमेरिकन वैज्ञानिक हॉविल के अनुसार मस्तिष्क में रक्तप्रदाय का कम हो जाना तथा शरीर के अन्य भागों में रक्तप्रदाय ज्यादा प्रमाण में होना--

इस स्थिति में निद्रा आती है। भोजनोत्तर पचन संस्था में रक्त संचार की वृद्धि होती रहती है तथा मस्तिष्क में रक्तप्रदाय ओछा पड़ जाता है और इसी कारण से भोजनोत्तर तन्द्रालुता-निद्रा आदि की उत्पत्ति हो जाती हैं।

शीत के दिनों में योग्य-शीत निवारक ओढ़ने के लिये (कम्बल इ.) न रहने पर त्वक्स्थ रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने के कारण मस्तिष्क की तरफ उस कारण से रक्त का प्रदाय बढ़ जाने से नींद नहीं आ पाती।

निद्रा से शान्त इन्द्रियों को पुनः स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता } प्राप्त हो जाती है।

अतः देह धारण कार्यों में } आहार की तरह ही } निद्रा { अति अनिवार्य मानी जाती है।

**देहं विश्रमते यस्मात् तस्मान्निद्रा प्रकीर्तिता**

**देहवृत्तौ यथाहारस्तथा निद्रा समासतः।**

निद्रा लाभ तथा अनिद्रा से हानियाँ-

सुखपूर्वक, प्राकृत निद्रा के कारण } पोषण, बलवृद्धि शुक्रवृद्धि, आयु, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ } इनकी कार्यवृद्धि होती है।

| | |
|---|---|
| अनिद्रा के कारण | कृशता, बलहानि-(वातवृद्धि एवं कफक्षय के कारण)<br>क्लैब्य (नपुंसकता-impotency)<br>ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियों का-क्षमता-ह्रास। |

तथा अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति

**निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टि कार्श्य बलाबलम्**

**वृषता क्लीबता ज्ञानं अज्ञानं जीवितं न च।**

-च०सं०सू० २१

योग्य समय में सेवित निद्रा ही सुख एवं आयुकारक होती है।

**सैवयुक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा।**

-च०सं०सू० २१

| | |
|---|---|
| योग्य निद्रा के कारण | धातुसाम्य, बलवृद्धि, शरीरस्थ श्लेष्मा<br>द्वारा योग्य धातुपुष्टि का कार्य<br>संपादित होना, आयुस्थैर्य। |

**तथा साम्यं तथा ह्येषां वलं चाप्युपजायते**

**श्लेष्मा पुष्णाति चाङ्गानि स्थैर्य भवाति चायुषः।**

-च०सं०सू० २१

| | |
|---|---|
| दिवाशयन (दिन में निद्रा लेना) अयोग्य | स्थूल, कफ रोगी, दूषि विष<br>पीड़ित, घृत-दुग्धादि श्लेष्मकर<br>आहार नित्य सेवी।<br>श्लेष्म प्रकृति |

**मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेष्मलाः श्लेष्मरोगिणाः**

**दूषी विषार्तस्य दिवा न शयीरन् कदाचन।**

-च०सं०सू० २१

| | |
|---|---|
| ग्रीष्म ऋतु | ग्रीष्म यह आदान काल, अतः शरीर में रूक्षता उत्पन्न हो जाती है। शरीर में वातवृद्धि हो जाती है। रातें छोटी हित कारक होती हैं। अतः ग्रीष्म ऋतु में योग्य प्रमाण में दिवाशयन हानिकारक नहीं होता। |

| | |
|---|---|
| दिवाशयन योग्य (जिन के लिये दिवाशयन योग्य रहता है | गीतगायन-अध्ययन-मार्गातिचलन-मदिरापान-मैथुन (Sexual-intercourse) भारवहन इ. से क्लान्त बने हुये, वृद्ध-बाल- स्त्री-तृषापीड़ित-अतिसार पीड़ित-श्वास-हिक्का-कार्श्य रोगी-मनोरोगी (पागल),<br>दीर्घ काल घोड़ा-ऊँट-आदि की सवारी किये हुये (प्रदीर्घ काल यानादि में बैठ सफर से थके हुये), रात्रौ जाग्रण के कारण क्लान्त, भय-शोक-क्रोध पीड़ित, दिवाशयनाभ्यासी। |

-च०सं०सू० २१

| | | |
|---|---|---|
| अनुचित रूपीय रात्रौ जाग्रण से | } | वात वृद्धि एवं देह रौक्ष्य - |
| दिवाशयन के कारण | - | श्लेष्मवृद्धि। |

रात्रौ जाग्रणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा
अरूक्षमनभिष्यन्दीत्वासीन् प्रचलायितम्।

-च०सं०सू० २१

निद्राभेद —

- तमोभवा- तमोगुणाधिक्यता से उत्पन्न, अरिष्टसूचक। सुश्रुत के अनुसार यह तामसी निद्रा।
- श्लेष्मसमुद्भवा- शरीर में श्लेष्मवृद्धि हो जाने के कारण से उत्पन्न।
- मनःशरीर श्रमसंभवा-मन एवं शरीर थक जाने के कारण।

  यदातु मनसि क्लान्ते कर्मात्मनः क्लमान्वितः
  विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः।
- आगन्तुकी- तमोगुण के कारण स्त्रोतसों के अवरूद्ध हो जाने से उत्पन्न। अरिष्टसूचक रूप।
- व्याध्यनुवर्तिनी- कफज व्याधियों में निद्राप्रवृत्ति अधिक प्रमाण में
- रात्रि स्वभाव प्रभवा- (स्वाभाविकी) (वैष्णवी) रात में प्रकृततिः प्राणियों को नींद आ जाती है, जिससे शरीर-मन की थकान दूर हो सके।

❖

# दश प्राणायतन

वास्तविक रूप से देखा जाय तो शरीरस्थ प्राण यह सूक्ष्म स्वरूपीय होता है। प्राण शरीरस्थ अणुरेणुओं में व्याप्त होता है।

फिर भी शरीर के प्राण के विशेष स्थान आयुर्वेद ने निर्दिष्ट किये दिखायी देते हैं।

प्राणों के इन विशेष स्थानों का ज्ञान चिकीत्सक को सम्यक् रूपेण होना अनिवार्य ही माना जाता है। क्योंकि इन स्थानों में आघात से गंभीर स्थिति पैदा हो सकती है या प्राणोत्क्रमण भी हो सकता है।

उसी प्रकार इन प्राण स्थानों में हुये व्याधि अति कष्टकर होते हैं। इन व्याधियों से प्राणों को ही भय रहता है, अत: इनकी सद्य एवं परिणाम कारक चिकीत्सा आवश्यक हो जाती है।

वैसे ही प्राणस्थानीय व्याधियों की चिकीत्सा चिकीत्सक को खूब सँभालपूर्वक करनी होती है, क्योंकि चिकीत्सा में हुयी थोड़ी सी भी विपरीतता प्राणघातक साबित हो सकती है।

आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान भी इन स्थानों के महत्व के विषय में ( vital points) के नाम से इनका निर्देश करता हुआ दिखायी देता हैं।

१. दश प्राणायतनानि।

तद्यथा मूर्धः-कण्ठः-हृदयं-नाभिः-गुंद-बस्तिः

ओजः-शुक्रं-शोणितं-मांस मिति।

तेषु षट्पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि।

-च०सं०शा० ७

२. दशैवायतनान्याहु: प्राणा येषु प्रतिष्ठिता:
शंखौ मर्मत्रयं कंठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्।

-च०सं०सू० २९

मर्मत्रयमिति हृदय बस्ति शिरासि।

-चक्र

३. शृंगाटकान्य धिपतिः शंखौ कंठ सिरा गुदम्
हृदयं बस्ति नाभ्यौ च घ्नन्ति सद्यो हतानितु।

-सु०सं०शा० ६

४. सोमं मारूत तेजांसि रजः सत्व तमांसि च
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते
मर्म स्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः।।

-सु०सं०शा० ६

इदानिं मर्मणां शरीर मनोदोष निवास भूतानां शरीरम नोदोषैरेव
मर्मविद्ध कुपितैः मनशरीरं च नश्यति।
तयोराधारभूत योर्नारिाधेय भूतो भूतात्मापि
नश्यतीति दर्शयितुमाह सोमेत्यादि।

-डल्हण

५. हृदये मूर्ध्नि बस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
तस्मात्तेषां सदायत्नं कुर्वित परिपालने।
आबाधवर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानु वर्तनम्।
उत्पन्नार्ति विघातश्च मर्मणां परिपालनम्।

-च०सं०सि० ९
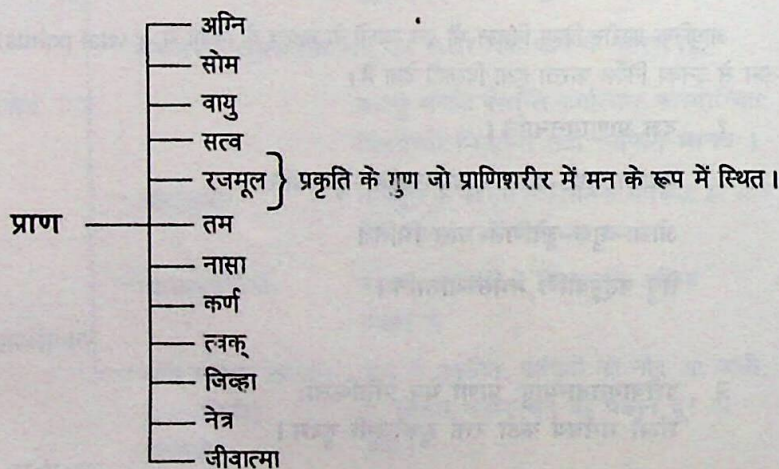
अग्नि– साधकादि पंच पित्तों को शक्ति प्रदायिनी, वाणी की अधिष्ठात्री

सोम– कफ, रस, शुक्र इ. को बल प्रदायक जलतत्व

वायु– अपानादि वायु
शरीरस्थ चलनवलनादि समस्त अंतर्बाह्य क्रियाओं के लिये जिम्मेदार

ये बारह तत्व शरीर को धारण किये रहते हैं, विच्छिन्न नहीं होने देते। इन प्राणों से युक्त जो होता है, उसे 'प्राणी' कहा जाता है।

अग्नि सोमो वायु: सत्वं रजस्तम: पंचेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राण:।

–सु०सं०शा० ४

अग्निस्त्र पाचक भ्राजकालोचक रंजक साधकानां पांच भौतिकानां सर्व धात्वनुगानां चोष्मणा शक्तिरूप तथाऽवस्थितो वाच्योऽधि दैवत मापन्नो बोद्धव्य:। श्लेष्म रस शुक्रादिनां तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य च शक्तिरूपतमाऽवस्थितो मनसोऽधि दैवत्वमापन्न: सोम: इति।

वायु: पंचात्मका: प्राणदि भेदेन।

सत्वरजस्तमांसि तु प्रकृतेरष्टरूपाया गुणा:।

........भूतात्मा शुभाशुभ कर्मभि: परगृहित: कर्मपुरुष:। एतेचाग्निसोमादय: प्राणयन्ति जीवयन्नीति प्राणा:। तत्राग्नि स्तावदाहार पाकादि कर्मणा प्राणयति, सोमश्च सौम्य धातोरोज: प्रभृते: पोषणेन, वायुश्च दोष धातु मलादीनां संचारणे नोच्छ्वासति: श्वासाभ्यां च, सत्वरज स्तमश्च, मनोरूप तया परिणतं भूतात्मन: शरीरान्त ग्रहण मोक्षणे हेतुरिति तदपि प्राणयति, पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादिनि रूपादि ग्रहण कर्मणा प्राणयन्ति, एवं भूतात्मा कर्मपुरुषोऽप्य शेषस्यैव कर्मराशेश्चेतनो हेतुरिति प्राणयति।

–डल्हण

❖

# आयु वा जीवन

| | | | |
|---|---|---|---|
| धारि<br>नित्यग<br>अनुबन्ध | शरीर<br>शरीरस्थ इन्द्रियाँ<br>मन, आत्मा | इनका संयोग<br>ही आयु वा जीवन<br>है। | इस संयोग के<br>कारण प्राणों का<br>धारण कार्य संपन्न<br>होता हैं। |

प्राण शरीर को धारण किये रहते हैं उसमें कोथ (सड़न) आदि उत्पन्न होने नहीं देते। } अत: 'धारि'-यह नाम।

प्रवाह से नित्य होने के कारण——— नित्यग कहा गया है।

शुक्र शोणित संयोग से गर्भोत्पत्ति होने के समय से मृत्युपर्यन्त जब तक यह संयोग शुरू रहता है } अत: 'आयु' यह नाम।

शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगोधारि जीवितम्
नित्यगश्चानु बन्धश्च पर्यायैरायु रूच्यते।

-च०सं०सू० १

शरीरं पंचमहाभूत विकारात्मकमात्मनो भोगायतनम्।
...यद्यपि शरीरग्रहणे नैवं इन्द्रियाण्यपि लभ्यन्ते
तथापि प्राधान्यात् तानि पुन: पृथगुवतानि।
...धारयति शरीरं पूतितां गन्तु न ददातीति धारि।
जीवयति प्राणान् धारयति इति जीवितम्।
नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति नित्यग:।

-चक्र०

सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्
लोकस्तिष्टति संयोगात् तत्र सर्व प्रतिष्ठितम्।
स पुमांश्चेतनं तच्च।

-च०सं०सू० १

अत्र कर्मफलं चात्रज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्
अत्र मोह: सुखं दु:खं जीवितं मरणं स्वत:।

❖

-च०सं०शा० १ -चक्र०

# प्रकृति परीक्षण
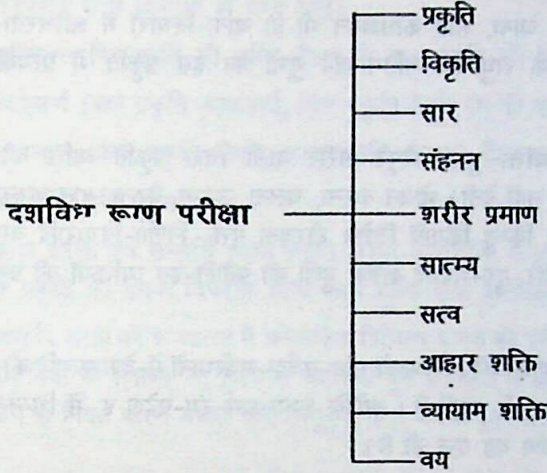
-च०सं०वि० ८

आयुर्वेद की समस्त विशाल इमारत ही त्रिदोष रूपी त्रिस्तंभों पर आधारित है।

बाह्य सृष्टि में-सोम-सूर्य-अनिल-जिस तरह सृष्टिस्थ समस्त क्रियाकलापों के लिये जिम्मेदार होते हैं, तद्वत ही प्राणि शरीर में उन्हीं के प्रतिरूप वायु-पित्त-श्लेष्मा-ये त्रिदोष शरीर धारण तथा शरीरस्थ समस्त क्रियाकलापों को मूलतः कारणीभूत होते हैं।

गर्भसंभव (शुक्रार्तव संयोग) के समय जो दोष प्रभूत या बलवान रहता है उसी दोष से युक्त गर्भ की शरीर प्रकृति बन जाती है। उसकी यह मूल प्रकृति उसकी आयु वा जीवन पर्यन्त उसी रूप में कायम रहती है। मूल प्रकृति नें आगे कभी भी कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

शुक्र-शोणित संयोगे यो भवेद्दोष उत्कट:

प्रकृति र्जायते तेन तस्या में लक्षणं श्रुणुं।

-सु०सं०सू०

आयुर्वेदीय प्रकृति विज्ञान की वैज्ञानिकता आज भी विद्वानों को आश्चर्य चकित कर देती है।

वातप्रकृति– दुबला-पतला-उठते, बैठते, चलते समय उसकी सन्धियों में होने वाले खट्खट् की आवाज, चलना-बोलना-भोजन-करना इ. सभी उसकी क्रियाओं में गतिमानता दिखायी देती है।

शीघ्र कोपाविष्ट हो जाना, शीघ्र क्रोधशमन भी हो जाना-विचारों में अस्थिरता-त्वचा की रूक्षता-आदि वात के लघु-रूक्ष-गतिमानादि गुणों का इस प्रकृति में प्रत्यक्षीकरण होता है।

तो कफ प्रकृति व्यक्ति–पुष्ट-भरेपूरे शरीर वाली (वात प्रकृति व्यक्ति की तरह जिसकी हड्ड़ियाँ दिखायी नहीं देती) भोजन करना, चलना, उठना, बैठना, बात करना आदि सभी क्रियाओं में मन्दता किन्तु क्रियायें विशेष गौरवता युक्त, निर्णय-विचारादि बार-बार न बदलने वाले-आदि स्थिर-गुरु-मंदादि श्लेष्म गुणों की प्रतीति इन व्यक्तियों की प्रकृति में होती है।

व्यक्ति की इस मूलप्रकृति की विशेषतायें सदा-सर्वदा-सर्वस्थानों में-देशकालादि की अपेक्षा न करते हुये-अपरिर्वतनिय ही रहती हैं। क्योंकि भाषा-धर्म-रंग-प्रदेश इ. में भिन्नता हुयी तो भी सर्वदूर मनुष्य प्राणि यह एक ही है।

शरीर रचना-आहार-क्रियाकलाप-स्वभाव विशेष इ. में जिस दोष के प्रभूत लक्षण दिखायी देते हैं वह उसी दोष से युक्त उस पुरुष की शरीरप्रकृति मानी जाती हैं।

स्त्री-पुरुष व्यवाय(Sexual intercourse) काल में शुक्र-शोणित संयोग तथा उसमें जीव (प्राण) प्रवेश के समय ही शुक्र-शोणित गत दोषाधिक्य के अनुसार गर्भ प्रकृति का निर्माण हो जाता है।

प्रसवोत्तर जन्मे हुये अर्भक की प्रकृति–

देश<br>
काल<br>
जाति<br>
कुल<br>
वय (उम्र)<br>
एवं आत्मा

{ इनके अनुसार अर्थात् प्राक्तन भोगों के अनुरूप बनी हुयी होती है।

इस मूल प्रकृति पर ही– देहपुष्टि,

स्वभाव (Nature)

आरोग्य (बार-बार बीमार पड़ना, कभी कभार ही बीमार पड़ना और जल्दी स्वस्थ भी हो जाना)

**आहार-विहार** (वात प्रकृति व्यक्ति दिन में कई बार खानेवाला अल्पाहारी, पित्त प्रकृति की भूख तीक्ष्ण इ.)

**गति** (वात प्रकृति भोजन, आहारभक्षण मार्गचलन इ. में गति तो कफ प्रकृति व्यक्ति की इसके विपरीत सभी क्रियाओं में मन्द गति)

**अग्निबल** पित्तप्रकृति की अग्नि तीक्ष्ण तो वात प्रकृति की विषम

**त्वक्वर्ण** (वात प्रकृति कृष्णवर्णी, पित्त प्रकृति गेहुये रंग की कफ प्रकृति गौर वर्णीय इ)

**वयोमान** (कफ प्रकृति दीर्घायु, वात प्रकृति अल्पायु, पित्त प्रकृति मध्यायु इ.)

**अन्यों के प्रति व्यवहार**

**काम शक्ति एवं सन्तति** (कफ प्रकृति उत्तम कामशक्ति से युक्त तथा प्रभूत संतनियुक्त तो वात प्रकृति की इसके विपरीत अल्प काम शक्ति तथा अल्पसंतति।)

आयुर्वेद छात्रों को रूग्णालय में अनेकानेक विभिन्न रूग्णों की परीक्षा कर-शास्त्रोक्त भिन्न दोषीयप्रकृतियों के लक्षणों का विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृतियों से मिलान कर शरीर प्रकृति योग्य रूप से नियत करने बाबत परिश्रमपूर्वक यत्न करना (अभ्यास करना) आवश्यक होता है।

**वात प्रकृति व्यक्ति** अपने जीवन में विभिन्न वात रोगों से ही विशेषत: पीड़ित दिखायी देती है।

विभिन्न पित्तजन्य विकारों से ही जीवन में विशेषत: पीडित होना पित्त प्रकृति व्यक्तियों के बारे में देखा जाता है।

**कफ प्रकृति व्यक्ति** को विशेषेण श्लेष्मादुष्टि से संबंधित बीमारियाँ जीवन में होती रहती हैं।

इस प्रकार चिकीत्सक को यदि प्रकृति ज्ञान अचूक रूपेण हो सका तो उससे उसे उसकी-मूलप्रकृति के अनुसार होने वाली विशेष बीमारियों का निदान भी आसानी से हो जाता हैं। उसका स्वभाव-सहनशक्ति आदि के बारे में योग्य अनुमान हो जाता है।

| प्रकृत्यारंभक दोष के अनुसार | } सात प्रकार की देह प्रकृतियाँ | } तथा | { सात प्रकार की मानस प्रकृति |
|---|---|---|---|

{ इनका विशेष सविस्तर वर्णन आयुर्वेद में उपलब्ध होता है।
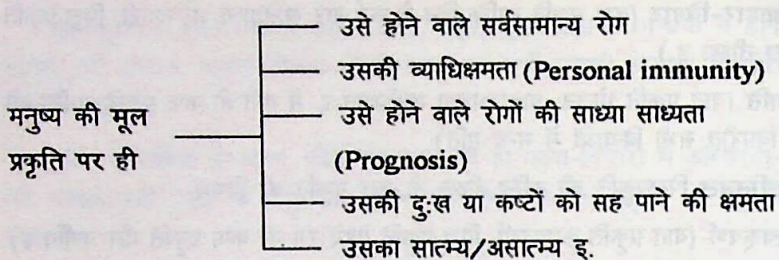
इ. अनेकानेक बातें मूल रूपेण अबलंवित रहती हैं, तथा योग्य प्रकृति परीक्षक चिकीत्सक इन सब बातों से रूग्ण की मूल प्रकृति का ज्ञान होते ही परिचित हो जाता है।

इस तरह का चिकीत्सक ही अचूक रोग निदान (Correct Diagnosis) तथा उत्तम एवं परिणाम कारक चिकीत्सोपाय-इन दोनों में सफलता प्राप्न कर लोकप्रिय बन सकता है।

मूल प्रकृति का कारणीभूत बना जो आरंभक दोष होता है, उसी दोष के गुणयुक्त आहार विहार के सेवन से उस दोष का प्रकोप शीघ्र संपन्न हो जाता है ('वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्'-इस नियम के अनुसार) किन्तु अन्य दोषों के गुण युक्त आहार-विहार का सेवन यदि उस व्यक्ति ने उसी प्रमाण में किया तो (उदा-कफ प्रकृति व्यक्ति ने यदि वात गुण युक्त आहार विहार का विशेष प्रमाण में सेवन किया फिर भी उसमें वात प्रकोप संपन्न नहीं होगा।)

प्रकृति आरंभक मूल दोष के प्रकोप के कारण उत्पन्न व्याधियाँ अपेक्षाकृत अधिक रूप से कष्टप्रद साबित होती हैं। (उदा-वात प्रकृति व्यक्ति ने वात रोग से पीड़ित हो जाना।)

इसके विपरीत प्रकृति आरंभक मूल दोष को छोड़ अन्य दोष प्रकोपोत्पन्न व्याधि (उदा-वातज प्रकृति व्यक्ति को कफज व्याधि उत्पन्न हो जाना या पित्तज प्रकृति व्यक्ति को कफ प्रकोत्पन्न व्याधि का हो जाना) उस व्यक्ति के लिये उतना कष्टप्रद साबित नहीं होता।

प्रकृत्या रंभक मूलदोष प्रकोपोत्पन्न व्याधि अति कष्टकर वा कृच्छ्र साध्य साबित होती है।

उदा-पित्त प्रकृति व्यक्ति के लिये पित्तजन्य व्याधि अति कष्टप्रद-कृच्छ साध्य तो उसके लिये वात प्रकोपज, कफप्रकोपज-(व्याधियाँ) सामान्य कष्टकर तथा सुखसाध्य स्वरूप की साबित होती हैं। (वात प्रकृति व्यक्ति के लिये पित्तजन्य तथा कफ जन्य व्याधियाँ सुखसाध्य साबित होती है)

इस प्रकार { योग्य व्याधि निदान (Correct Diagnosis) तथा सुयोग्य एवं परिणाम कारक चिकीत्सा (Proper and effective T/T) के लिये } प्रकृति ज्ञान अति महत्वपूर्ण साबित होता हैं।

प्रत्येक नागरिक के लिये निरन्तर स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की क्षमता के खातिर उसे अपनी स्वयं की प्रकृति का (वात-पित्तजादि प्रकृति) ज्ञान होना इस तरह अनिवार्य ही हो जाता हैं।

यदि अपनी स्वयं की मूल प्रकृति का योग्य ज्ञान व्यक्ति को रहा तो–

१. दिनचर्या
२. निशाचर्या
३. ऋतुचर्या
४. खुद को क्या सात्म्य है और क्या असात्म्य ?
५. क्या लाभकर है और क्या हानिकारक है ? (आहार विहारादि में)

} इ. का योग्य विचार कर ऐसा आहार विहारादि कर पाने में वह क्षम हो पायेगा, जिससे उसका प्रकृत्यारंभक दोष प्रकुपित न होने पाये।

सिर्फ इतना ही नहीं तो अपनी मूल प्रकृति के अनुसार सुयोग्य वाजीकरण का अवलंबन कर अपनी संभोग शक्ति को(Ability of sexual intercourse) प्रदीर्घ काल वह अबाधित रख सकता है।

दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृति रूच्यते।

–च०सं०सू० ७

प्रकृतिः जन्मप्रभृति वृद्धो वातापि।

–व०सं०सू १७

समदोष प्रकृति व्यक्ति दुर्लभ ही होती है। एक दोषज प्रकृति भी बहुत कम देखने में आती हैं। सामान्यतः मिश्र प्रकृति व्यक्ति ही देखने में आते हैं।

उदा- पित्त-वात प्रकृति
वात-पित्त प्रकृति
कफ-पित्त प्रकृति
पित्त-कफ प्रकृति इ.

न समवात पित्त श्लेष्माणो जन्तवः सन्ति।

-च०स०वि० ६

प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभि वर्धते

कृत्स्नमौत्पातिकं घोरमरिष्टमुपलक्ष्यते।

-च०सं०इं० १२

प्रकोपोऽन्यथा भावः क्षयो वा नोपजायते

प्रकृतिनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः।

-सू०सं०शा० ४

गुणदोषमयी यस्य स्वस्थस्य व्याधितस्य वा

यात्यन्यथात्वं प्रकृतिः प्रण्मासन्न सजीवति।

-वाग्भट

वात प्रकृति को } समस्त प्रकृतियों में { हीन वा कनिष्ट माना गया है

वात प्रकृति व्यक्ति— अल्प बल युक्त

अल्प सहनशक्ति युक्त (दुख न सह पाने वाला)

अल्प प्रतिकार शक्ति (Immunity) से युक्त

अल्प संतति

अल्प व्यवाय शक्ति (Ability of sexual inter course)

बुद्धि-निर्णयशक्ति अल्प। हरदम किसी न किसी प्रकार की प्रकृति की शिकायत होने वाले।

श्लेष्म प्रकृति को समस्त प्रकृतियों में सर्वोत्तम वा सर्वश्रेष्ठ माना गया हैं। क्योंकि कफ (श्लेष्मा) एवं शरीरस्थ ओज समान गुणीय होते हैं।

श्लेष्म प्रकृति व्यक्ति—बलवान, उत्तम संहनन युक्त, प्रभूत सहनशक्ति वाली, श्रेष्ठ रोग प्रतिकारक शक्ति से युक्त, प्रभूत सन्तति, उत्तम व्यवाय शक्ति संपन्न, बुद्धि एवं निर्णय शक्ति श्रेष्ठ स्वरूपीय।

प्रायः बीमार न पड़ने वाली और बीमार पड़ जाने पर अल्प काल में स्वस्थ हो जाने वाली।

पित्त प्रकृति को मध्यम माना गया है।

तैश्च तिस्रः प्रकृतयः हीन मध्योत्तमा पृथक्।

समधातु समस्तासु श्रेष्ठा निंद्यां द्विदोषजाः।

-अ०हृ०सू० १

किन्तु पित्त प्रकृति व्यक्ति ने इस तरह अम्ल रस का अतियोग किया तो पित्त प्रकोप का वह शीघ्र कारण बन जाता है।

| | |
|---|---|
| कफ प्रकृति व्यक्ति ने<br>अम्लरस सेवनाति<br>योग करने के कारण | उसके शरीर में श्लेष्म प्रकोप हो जाता है। |

नाटक में जिस तरह शृंगार-हास्य-करुणा आदि नौ रसों के अपने-अपने भिन्न स्थायीभाव होते हैं तथा अन्य भाव संचारी भाव होते हैं, उसी तरह शरीर में प्रकृत्यारंभक दोष-यह स्थायीभाव होता है

जो उस व्यक्ति की पुष्टि-

स्वभाव<br>आरोग्य<br>अनारोग्य } इ० समस्त बातों के लिये कारणीभूत होता हैं।

तथा शरीरस्थ अन्य दोष–ये संचारी भाव स्वरूपीय होते हैं।

आयुर्वेद में प्रकृति यह शब्द विकृति विरोधी भाव धातुसाम्य वा आरोग्य के लिये प्रसिद्ध है, किन्तु वह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता।

यहाँ गर्भसंभव काल में शुक्र-शोणित में (स्त्री-बीज-पुंबीज) जो दोष बलवान होता है, उसके द्वारा देहघटनादि (The formation of body with its pecualirities) संपन्न होकर, उसके लक्षण उस शरीर में विशेष रूपेण लक्षित होते रहते हैं और इसे ही प्रकृति कहा जाता है।

द्विदोषज प्रकृति निदंनीय क्यों मानी जाती हैं ?

गर्भसंभव काल में शुक्र-शोणित में जब प्रकृत्यारंभक स्वरूपीय दो दोष बलवान होते हैं तब उस प्रकृति को द्विदोषज प्रकृति कहा जाता हैं।

ऐसी स्थिति में रोग उत्पन्न हि न हों, इसलिये एक दोषानुसारी उपायों का अवलंब करने पर उससे प्रकृत्यारंभक उस दूसरे दोष की वृद्धि हो जाती है।

और यदि उस दूसरे दोष को समावस्था में रखने के लिये उसके अनुसार आहार-विहारादि का अवलंबन किया तो प्रकृत्यारंभक उस पहले दोष का प्रकोपण उससे संपादित हो जाता है।

उदा-वात-कफ प्रकृति व्यक्ति ने वातशमनार्थ यदि स्नेहनादि का अवलंब किया तो उससे कफ के स्नेह गुण की वृद्धि होकर श्लेष्मवृद्धि हो जाती है।

यदि श्लेष्मा के लिये लंघनादि उपायों का अवलंबन किया जाय तो उससे वातप्रकोपण हो जाता है।

इस प्रकार द्विदोषज प्रकृति व्यक्ति के दोनों प्रकृत्यारंभक दोषों को समस्थिति में रख रोगोत्पति न हो पाये इसलिये कोई उपाय करना एक कठिन कार्य बन जाता है। किसी प्रकार से प्रयत्न किये जाने पर (ऊपर वर्णन किये अनुसार) भी वह सब कष्टकर ही साबित होता है।

शुक्र-शोणित<br>प्रभावकारक } प्रकृति निर्माण में →
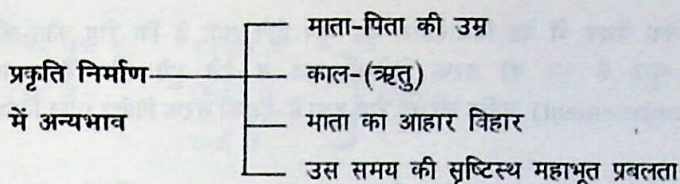
इसके अनुसार माता-पिता का स्वभाव-प्रकृति वा गुणविशेषतायें जिस तरह की होती हैं उसके अनुसार शुक्र-शोणित गत दोष प्रबलता निश्चित होती है तथा उसके अनुसार गर्भ प्रकृति बन जाती है।

-च०सं०वि० ८-९५, च०सं०वि० १७-६२-चक्र०

प्रकृति उत्पादक इन भावों में एक -एक दोष का तो दूसरा-दूसरे दोष का वर्धक होता है।

इन सबका संयोग होकर-जोड़-घट आदि करने के उपरान्त अन्त में जो एक वा दो दोष उत्कट स्वरूपीय रह जाते हैं उनसे युक्त प्रकृति बन जाती है।

**प्रकृति विज्ञान के विषय में आधुनिक क्रिया शारीर का अभिमत–**

माता-पिता के बीजों में (स्त्रीबीज-पुं-बीज)-वंशसूत्र (Chromosomes) विद्यमान होते हैं। माता-पिता इ. की एक-एक विशेषता वहन करने वाला-गुणवाहक (Gens) इनमें उपस्थित होता है। सृष्टि आरंभ समय में बीज में जो वंशसूत्र तथा गुण सूत्र (Chromosomes and Gens) विद्यमान थे वे ही वंशसूत्र एवं गुणसूत्र आजमिति तक सन्तान परम्परा में चलते आ रहे हैं।

इसी विचारधारा के अनुसार गोरी जात वह शासक तथा रंगयुक्त (काले-रेड इन्डियन्स आदि) जात यह शासित रूप में ही जन्म लेती है-ऐसी विचारधारा सैकड़ों वर्षो से जनमन में पक्की की गयी है।

कुछ विद्वोनों के अनुसार प्रकृति निर्माण के लिये परिस्थिति(Environment) कारणीभूत होती है। मूल प्रकृति में परिर्वतन भी इस परिस्थिति के कारण ही संपादित हो सकता है। (आयुर्वेद के अनुसार मूल प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है।)

आयुर्वेद ने -प्रकृति के निर्माण में } बीज तथा परिस्थिति } दोनों का ही स्वीकार किया हुआ दिखायी देता है।

इतना ही नहीं तो जन्मजन्मान्तरों के संस्कार लेकर आया हुआ पुरुष (आत्मा); एव सूक्ष्म देह भी प्रकृति निर्माण के लिये विशेष स्थान रखते हैं-यह धारणा भी आयुर्वेद ने विशद की हुयी दिखायी देती है।

—

आधुनिक वैद्यक में यह विचारधारा दृढ़ मूल होने लगी है कि रोग कौन-कौन से लक्षणों से युक्त है इस की तरफ विशेष ध्यान न देते हुये कौन से लक्षणयुक्त प्रकृति-(Temperament) व्यक्ति को वह रोग हुआ है-इसकी तरफ विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

इस विचारधारा के कारण आधुनिक वैद्यक अब योगशास्त्र एवं आयुर्वेद के अधिक निकट आ गया है-ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कही जानी चाहिये।

श्लेष्म प्रकृति–

श्लेष्मा शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णः मृत्स्नः स्थिरः कफः।

१. शीत गुण के कारण–

क्षुधा
तृषा
शरीरताप
स्वेद } इनमें अल्पता।

२. मृदु गुण के कारण–

सुन्दर
सुकुमारत्व
उत्तम वर्ण (गौर वर्ण)

३. गुरु गुण की वजह से–

ऊँचा, हृष्टपुष्ट, शरीर भार अच्छा होना (Body weight) (समस्त धातु पुष्ट होने के कारण) समाज में वजनदार (प्रतिष्ठित) (धीर-गंभीर-दृढ़निश्चय इ. गुणों के कारण)

४. मन्द गुण के कारण–

आहार
विहार
चेष्टा } आदि में मन्दता।

जल्दी क्रोधित न होना

क्रोधित होने पर जल्दी शान्त न होना।

वात प्र कृति व्यक्ति की तरह कोई भी बात चट से ध्यान में नहीं बैठती किन्तु एक बार जानी-समझी बात प्रदीर्घ काल तक बिसरायी नहीं जाती।

कोई भी काम करने के लिये यह व्यक्ति एकदम-अचानक सामने नहीं आती किंतु विशेष विचारपूर्वक एक बार निर्णय पूर्वक आगे बढ़ाये हुये कदम फिर सहज में नहीं रुक पाते।

| | | |
|---|---|---|
| ५. स्थिर गुण की वजह से– | स्वभाव में<br>निर्णय में<br>कार्य में | } स्थिरता। |

( वात प्रकृति व्यक्ति की तरह अस्थिरचित नहीं होती।)

आरोग्य भी स्थिर होता है। बार-बार बीमार नहीं पड़ती। निर्णय बार-बार बदले नहीं जाते। (चंचलता नहीं होती)

शरीर कठिन, दृढ़ मांसपेशियों से युक्त, स्थिर एवं मजबूत होता है।

(क्योंकि पृथ्वी-अप् महाभूतों की भूयिष्टता से ही शरीर पुष्टिकार्य संपन्न होता है। आकार यह पृथ्वी का गुण धर्म है। श्लेष्मा यह पृथ्वी-अप् भूयिष्ट होता है।)

| | |
|---|---|
| ६. मधुर गुण | प्रभूतवीर्यता |
| के कारण– | उत्तम मैथुनशक्ति |
| | प्रभूत सन्तति से युक्त |
| | मधुर वाणी-मधुर आचरण से समाज में प्रिय एवं प्रतिष्ठित। |
| ७. सार-गुण | अस्थियाँ मजबूत-कठिन, आघात क्षम, |
| के कारण– | शरीर पुष्ट-धातुपुष्ट, विचार सार युक्त (गंभीर) |
| ८. पिच्छिल गुण | सन्धियाँ उत्तम क्रियाकारी, सुदृढ़ एवं भारक्षम। |
| की वजह से | सन्धिस्थानीय श्लेषक कफ (Synovial membrane) उत्तम रूप से कार्य कारी स्थिति में। |

मुखवर्ण-स्वर-उत्तमता युक्त, दीर्घायुषी, धनवान, ऐश्वर्यवान, ओजस्वी, विद्वान, क्रोध शोकादि मनोविकारों से शीघ्र आक्रान्त न होने वाला, क्षमावान, सहनशील, परिश्रमी, धैर्यवान।

कफ प्रकृति व्यक्ति उनकी बाल्यावस्था में अल्प चपलता युक्त तथा ज्यादा न रोने वाली होती हैं।

धर्मात्मा-सरल स्वभाव (छक्के-पंजे-कपट आदि से अलिप्त) इसके विपरीत वात प्रकृति व्यक्ति चंचलतायुक्त-अस्थिर चित्त तथा कृतघ्न होते हैं।)

निर्लोभी–गंभीर (अचंचल), सात्विक–ईर्ष्यारहित–विनयपूर्ण, बड़ो को उचित सम्मान प्रदान करने वाले, श्रद्धालु–सत्यप्रतिज्ञ–उदार एवं उत्तमनिद्रा भोगी होते हैं।

गंभीर बुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशों बलः
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्म प्रकृतिकी नरः।

–शां० सं० पू० ६

स्निग्ध छबिः सत्वगुणोंपपन्नः क्लेशक्षमों मानयिता गुरूणाम्
ज्ञेयो बलासं प्रकृतिर्मनुष्यः दृढ़शास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः।

–सु० सं० शा० ४

प्रलंब बाहुः पृथुपीन वक्षा
महाललाटो धननील केशः
मृद्ङ्गः सम सुविभक्त चारूदेहो
बहोजोरतिरस शुक्र पुत्र भृत्यः।
ब्रह्म रूद्रेन्द्र वरुण तार्क्ष्य हंस गजाधिपैः
श्लेष्म प्रकृतयस्तुल्या स्तथा सिंहाश्व गोवृषैः।

–अ० हृ० शा० ३

श्लेष्म प्रकृति व्यक्ति को } पुष्करिणी-मनोरम सरिता, सुन्दर पर्वतराजीयुक्त मनोरमनिसर्ग, भोग-ऐश्वर्य इ० से युक्त वातावरण के स्वप्न आते हैं।

ब्रह्मा-रुद्र
इन्द्र- वरुण
हंस-गंज
पुष्टअश्व-पुष्टसांड
हाथी
} से श्लेष्म प्रकृति व्यक्ति का साम्य दर्शाया हुआ दिखायी देता है।

च० सं० विमान स्थान-अ० ६/८६
सु० सं० शारीर स्थान-अ० ४/७२ से ७६
अष्टांग हृदय शारीर स्थान अ० ३/७८ से १०३
} इन स्थानों में श्लेष्म प्रकृति वर्णन पर्याप्त रूपेण प्राप्त होता है।

पित्त प्रकृति-

पित्तं सस्नेह तीक्षणोष्णं लघु विस्त्रं सरद्रवम्।

अग्नि महाभूतोत्पन्न शरीरस्थ पित्त स्वयं अग्निगुणयुक्त होता है।

| | |
|---|---|
| स्नेह गुण के कारण | त्वचा-नेत्र स्निग्ध-सुन्दर सुकुमार। मुख-जिव्हा-संधि इ० उत्तम स्निग्धतायुक्त |
| उष्ण गुण की वजह से | जाठराग्नि उत्तम। क्षुधा-तृषा की अधिकता। उष्णता सह न पाने वाला। शरीर तिल-व्यंग-मस्से-रक्तवर्णीय पिटिकायें इनसे युक्त। त्वचा में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। खालित्य-पालित्य असमय में बाल सफेद हो जाना, असमय मे बाल झड़कर टक्कल (खल्वाट) पड़ जाना। |
| | केश, लोम, श्मश्रु स्निग्ध किन्तु गहरे काले नहीं होते। |
| | बीच बीच में मुखपाक, नेत्रारक्तता (की शिकायत त्वक् स्पर्श उष्ण। शीत प्रेमी। |

पित्त एवं रक्त समगुणीय होने के कारण पित्त प्रकृति व्यक्ति पित्त दुष्टि जन्य रोग एंव रक्तदुष्टिजन्य रोगों से पीड़ित होती रहती हैं।

| | |
|---|---|
| तीक्ष्ण गुण के कारण | आहार एवं पचन शक्ति उत्तम। स्वभाव तीक्ष्ण-क्रोधी रणबांकुरापन-सभा जीत लेने की उत्तम क्षमता, उत्तम वक्ता-तेजस्वी-मेधावी निर्भय, किसी से भी न दबने वाला, शरण आये जानी दुश्मन से भी स्निग्ध व्यवहार किन्तु शत्रुत्व करने वाले से तलवार की धार की तरह तीखा व्यवहार। अभिमानी-साहसी, क्षुधा-तृष्णा सह न पाने वाला। |
| द्रव गुण की वजह से | स्वेदाधिक्य मूत्राधिक्य, मांस धातु में भी द्रवाधिक्य के कारण मांस पेशीशिथिलता, संधिशिथिलता, श्रम असहिष्णु (विशेष देहपरिश्रम सह न पाने वाला) इसी द्रवगुणाधिक्य के कारण, स्नायु एवं कंडरायें भी शिथिलता युक्त। मल शिथिल एवं बहुल। |
| | मलप्रवृत्ति (अन्यों की तुलना में) ज्यादा बार होना। |
| विस्र गुण के कारण | अङ्ग दौर्गन्ध्य-मुख दौर्गन्ध्य, कक्षा एवं शिर दौर्गन्ध्य। पित्त यह कोथ-स्वभावी (सड़न की प्रवृत्ति वाला)। |
| | अत: दुर्गन्ध का आविर्भाव होता है। |
| | अत: स्राव भी दुर्गंध युक्त, पसीने की विशेष प्रकार की दुर्गन्ध। |

अम्ल एवं कटु

| गुणों के कारण | वीर्य<br>मैथुन<br>सन्तति | अल्पता |
|---|---|---|

(किन्तु वातप्रकृति की इस बाबत की अल्पता सबसे ज्यादा होती है)
स्वभाव तीक्ष्ण
अपमान कदापि न सहने वाला।

| मध्यमायु<br>मध्यमबल<br>मध्यज्ञान<br>मध्यधन<br>क्लेश भीरू<br>मध्य सन्तति | पित्त प्रकृति की प्रधान विशेपतायें। |
|---|---|

अकाले पलितै व्याप्तौ धीमान स्वेदी च रोषण:
स्वप्नेपु ज्योतिपां द्रष्टा पित्त प्रकृतिको नर:।

शां० सं० पू० ६

मध्यायुषो मध्यबला: पण्डिता: क्लेशभीरव:
व्याघ्रयक्ष कपि मार्जार: यक्ष्यानूकाश्च पैत्तिका:।

अ० हृ० शा० ३

| व्याघ्र<br>मार्जार (बिल्ली)<br>कपि (बन्दर)<br>यक्ष | इनसे पित्त व्यक्ति का साम्य (स्वभाव साम्य) बताया गया है। |
|---|---|

| च० सं० विमान स्थान अ० ६/७८<br>सु० सं० शारीर स्थान अ० ४-६७ से ७९<br>अ० हृ० शारीर स्थान अ० ३-९० से ९५ | इन स्थानों में पित्त प्रकृति वर्णन सविस्तरवर्णित किया हुआ प्राप्त होता है। |
|---|---|

## वात प्रकृति–

**तत्र रूक्षो लघु शीतः खरः सूक्ष्म श्चलोऽनिलः।**

वायु विभु-शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहने वाला।

शरीरस्थ दोष<br>धातु<br>मलादिकी } गति वायु के ही आधीन होती है।

सूक्ष्म–आशुकारित्व के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान में अविलम्ब पहुँच जाता है।

अति बलवान एवं गतिमान होने के कारण वायु प्रकुपित हो जाने पर शरीरस्थ अन्य दोषादि को भी प्रकुपित कर देता है।

वात प्रकृति व्यक्ति रूक्ष (स्नेहहीन), कृश, मेदहीन, दीर्घ (लम्बी वा ऊंची) आकृति वाली, जंधादि अवयव निर्मांस-निर्मेद, हाथ पैरों पर सिराओंका स्पष्ट दर्शन, उठते-बैठते चलते समय सन्धियाँ खट्खट् बजना इ० विशेषताओं से युक्त होती है।

१. शीत गुण के कारण — त्वचा-नेत्र रूक्ष-खरखरीत, आवाजरूक्ष भिन्न स्वर, कर्कश स्वर।

मल-मूत्र-पुरीष की अल्प प्रवृत्ति (अन्यों की तुलना में) हर दम मलबद्धता स्निग्धता प्रिय। उष्णता प्रिय। औरों की तुलना में शीत की विशेष तकलीफ होती है। शीत पदार्थ-शीतता सह न पाने वाले।

अन्यों की तुलना में शरीर शीत।

कंप, स्तंभ इ० की शीघ्र प्रवृत्ति।

वर्षा, शीत ऋतु द्वेष्टा।

२.बहु-गुण के कारण स्नायु-सिरायें फूली हुयी, समस्त क्रियाओं में शीघ्रता (चलना-उठना-बैठना-बोलना निर्णय लेना इ०) बकबक करने वाला (वाचाल)

३. शीघ्र-गुण की वजह से शीघ्र कोपी। क्रोध शीघ्र शमन हो जाना, कच्चे कानों का अर्थात् स्वयं जाँच पड़ताल न करते हुये किसी की कही बात पर किसी के विषय में दुर्भावना बना लेनेवाला।

किसी भी काम का-योजना का-निर्णय का शीघ्र स्वीकार कर लेना। कुछ कालोपरान्त वह छोड़ भी देना। दोस्ती तथा शत्रुता शीघ्र कर लेने वाला, मनोवृत्ति में शीघ्रता से परिवर्तन।

४. विशद गुण के कारण। पैरों में दरारें पड़ना
शीत ऋतु में त्वचा फटना (त्वक विदार) उठते-बैठते-चलते समय संधियाँ खट-खट आवाज़ करना।

अल्पबल
अल्पसन्तान
अल्पव्यवायशाली
अल्पशुक्र
अल्पायु
अल्पमित्र
अल्पसुख
— आदि विशेषताओं से युक्त

५. परुष गुण के कारण
दन्त
मुख
ओष्ठ
पाद
नाखून
त्वक्
रोम
— इ० असुन्दर रूक्ष खर गुण युक्त

६. चल गुण की वजह से
कभी भी शान्त बैठा रह नहीं पाता, बैठे होते हुये भी हाथ-पैर चलते ही रहते हैं (तबला बजाने की तरह उँगलिया हिलाते रहना, पैर हिलाते रहना इ०)

एक ही जगह ज्यादा देर शांति से न बैठ पाना। नेत्र स्थिर नहीं रह पाते (नेत्रचांचल्य) (नजर यहां-वहां सतत घूमती रहती है) ओठों की कुछ न कुछ हलचल चलती रहती है।

विचार
निर्णय
मनोवृत्ति
क्रियायें
} सभी बातों में चल गुण के (अस्थिरता-सतत परिवर्तन इ०) दर्शन हो जाते हैं।

कोई भी बात जल्दी समझ में आ जाना और उतनी ही जल्दी विस्मृत भी हो जाना।

७. लघु गुण के कारण—
चलना
बोलना
भोजन करना
} इ० क्रियाओं में वेग।

मांस-मेद हीनता के कारण तथा अस्थिरूक्षता की वजह से आकार लघु (दुबला-पतला) तथा हीन वजन से युक्त।

८. चंचल गुण की वजह से — मन, भावना, वृत्ति, क्रियायें — सबमें चंचलता वा अस्थिरता। किसी भी बात में स्थिरता के दर्शन न हो पाना।

अल्प निद्रा युक्त, नींद में नेत्र अधखुले (अर्धोन्मिलित) तथा थोड़ी सी भी आवाज इ० से शीघ्र निद्राभंग हो जाना। नींद में दांत किटकिटाने वाला, असुखी, दरिद्री, अल्पायु, अल्पमित्र, समाज में विशेष मानमान्यता इ० न होने वाला।

**अल्पकेशः कृशो रूक्षों वाचालश्चल मानसः**

**आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः।**

-शां० सं० पू० ६

सियार, ऊट, गिद्ध, कौआ, चूहा — इ० से वातप्रकृति व्यक्ति के स्वभाव-बर्ताव इ० का साम्य दर्शाया गया है।

तीनों प्रकृतियों में — वात प्रकृति सबसे हीन वा कनिष्ट मानी जाती है।

आकाश में उड़ना, तूफानी वातावरण-तूफानी हवाओं के थपेड़ों से उखड़कर गिर पड़ने वाले वृक्ष घरों के उड़ते हुये छप्पर . . . .

खुप शीत वातावरण में वह पहुँच गया है–ठंड से बेहद परेशान है-गला बिलकुल सूख गया है– इ० स्वप्नदर्शन वात प्रकृति व्यक्ति को होता रहता है।

च० सं० विमान स्थान- अ० ८/९८<br>
सु० सं० शारीर स्थान- अ० ४/ ६४ से ६८<br>
अष्टांग हृदय शारीरस्थान अ० ३/८५ से ८९<br>
— इन स्थानों में वात प्रकृति का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

**मधुराम्लपटूष्ण सात्म्याकांक्षः**

**कृश दीर्घाकृतयः सशब्द याताः**

न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या
न च कान्तादयिता बहुप्रजावा।
नेत्राणि चैषां खर-धूसराणि
वृतान्न चारुणि मृतोपमानि
उन्मिलितानिव भवन्ति सुप्ते
शैल द्रुमास्ते गगनं च यान्ति।
अधन्यामत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोदबद्ध पिण्डिका।
श्वश्रृगालोष्ट्र गृध्राखु काकानुकोश्च वातिकाः।

- अ० हृ० शा० ३

## महाभूत भेदेन पंचविध प्रकृति–

समस्त सृष्टि ही पंचभूतात्मक हैं। प्राणि यह सृष्टि का एक घटक होने के कारण वह भी पंचमहाभूतात्मक ही होता है। लेकिन फिर भी सभी प्राणिं-इनके शरीराकार स्वभाव गुण इ० में भिन्नता लिये हुये दिखायी देते हैं। कुछ में प्रार्थिव गुणाधिक्य दिखायी देता है तो कुछ तेजोगुणविशिष्ट परिलक्षित होते हैं। अर्थात् सभी प्राणी पंचभूतात्मक होते हुये भी किसी में पार्थिवाधिक्य तो किसी में तेजाधिक्य दिखायी देता है।इसके अनुसार ही जिस महाभूत की विशेषता प्रकृति में दिखायी देती है, उसी महाभूत से युक्त इस प्राणी की प्रकृति मानी जाती है।आयुर्वेदोक्त त्रिदोष सिद्धान्त अर्थात् ही महाभूतों से अछूता नहीं है। क्योंकि शरीरस्थ वातादि त्रिदोष ये सृष्टिस्थ पंचमहाभूतों के ही प्रतिनिधि रूप होते हैं। त्रिदोष प्रकृति विवेचन में वायु, अग्नि (तिज), अप् प्रकृतियों का विवेचन ऊपर किया ही जा चुका है।
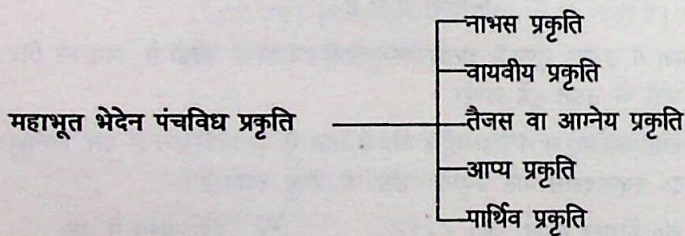
### पार्थिव प्रकृति–

विशाल-दृढ़-वजनदार शरीर वाली
अस्थियाँ मजबूत-सन्धिबन्धन (liqaments) मजबूत
मांसपेशियाँ पुष्ट-आघात क्षम (बाह्याघात-प्रहार इ० को सह पाने वाली)
दृढ़निश्चयी–साहसी–पराक्रमी

ये सब लक्षण कफ प्रकृति व्यक्ति में भी दिखायी देते हैं। क्योंकि शरीरस्थ कफ वाश्लेष्मा यह पृथ्वी-अप् बहुल होता है।

{शरीरस्थ श्लेष्मा पृथ्वी-अप् महाभूतों का प्रतिनिधि होता है।}

नाभस प्रकृति

मुख-नासा-कर्ण विवर विशालता

दीर्घायु-सत्वर कार्यशील

सत्वर-निर्णय ले लेने वाला

विशाल हृदयी { आकाश जिस तरह से विशाल होता है उसी तरह इस व्यक्ति का हृदय वा अन्त:करण विशालता युक्त होता है-अर्थात् संकुचित प्रवृतियों वाला नहीं होता।}

एकभूत प्रधान<br>
द्विभूत प्रधान } → इ० के अनुसार महाभूत प्रकृति के कुल २९ प्रभेद किये हुये दिखायी देते हैं।

सुश्रुत संहिता- शारीरस्थान अध्याय ४-८० } → में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

महाप्रकृति(७)-

सत्व<br>
रज<br>
तम } से बनने वाली सात प्रकार की प्रकृतियों को **महाप्रकृति** कहा गया है।

गुरू-लघु-शीत इ० गुणों से पृथकता दर्शाने के लिये इन्हे महाप्रकृति यह विशेष नामाभिधान दिया हुआ दिखायी देता है। क्योंकि

सत्व<br>
रज<br>
तम } को **महागुण** कहा जाता है।

क्योंकि- सत्व, रज, तम } ये गुरू लघु इ० गुणों के अनुसार } गुण न होते हुये उन्हें द्रव्य माना गया है।

- अर्वाचीन सांख्य मत

प्राचीन सांख्य में सत्वादि को भी गुर्वादि की तरह गुण ही माना हुआ दिखायी देता है।

गुणैः सत्वरजस्तमोभिरेकशो द्विशः समस्तैश्च सप्त महाप्रकृतयों भवन्ति।

सप्त दोषतः सप्त गुणतः इति नागार्जुनोक्तवात्।

-रसवैशेषिक सूत्र १

सु० सं० शारीर स्थान-अ० ४/८१ से ९९ } स्थानों में इसका सविस्तार
अष्टांग हृदय स्थान-अ० ३/१०४ } विवेचन किया हुआ दिखायी देता है।

आत्मा वा मन का } अद्भुत्त प्रभाव दोषज प्रकृति पर पड़ता रहता है।
शरीर पर नियन्त्रण रहता है।

महान पुरूष यदि सात्विक हुआ तो मन की दृढ़ता के कारण तथा राजस हुआ तो मन की प्रवृत्तिशिलता के कारण उसका शरीर दुर्बल होने पर भी असाधारण कार्य करने केलिये समर्थ होता है।

आत्मा वा मन के सत्व, रज, तम } ये तीन गुण रहने पर भी { जिस गुणवृत्ति आधिक्य का दर्शन होता है।

वही उसकी महाप्रकृति मानी जाती है।

सत्य-शौच, दया-करुणा, आस्तिक्य } इ० गुणों की अधिकता के कारण { वह व्यक्ति सात्विक कहलायी जाती है।

१) सात्विक प्रकृति– दयालु, क्षमावान, अपनी साधन सामुग्री-संपत्ति इ० परिजन-मित्र-जरूरत मन्दों को देकर उनकी जरूरतों की पूर्ति करने वाला, धर्माचिरणी-सत्यशील-आस्तिक, आत्मज्ञान, बुद्धि, मेघा, धृति } इ० से युक्त।

निष्काम कर्मवान, मनकी विशालता से युक्त। उत्तम मनोबल युक्त, उत्तम स्वास्थ्ययुक्त [ शरीर प्रकृति दुबली पतली हुयी तो भी इस का सत्व वा मन बलवान होने के कारण। मन यह शरीर का नियन्ता-प्रणेता होता है ]

रसादि धातु सम्यक् कार्यशिल, स्निग्ध शरीर एव सात्विक आहार युक्त। -श्रीमद्भगवद्गीता अ० १७

२) राजस प्रकृति– मनस्थ रजोगुण बलवान होने के कारण दुःखद बातों की उपेक्षा न कर पाने वाला, दुःखद बातों का ही हरदम विचार करने वाला, भ्रमणशील {रजोगुण यह क्रियाओं को प्रवृत्त करने वाला, अतः एक ही स्थिति में बैठा रहना इ० उसके लिये संभव नहीं हो पाता} अधीर प्रवृति, अहंकारी, निर्दय, दंभी, मिथ्यावचनी,

काम-क्रोध-हर्षादि से युक्त।

कटु-अम्ल-लवण-अति उष्ण-तीक्ष्ण रुक्ष एवं विदाही एवं दुःख-शोकादि उत्पादक, आहार प्रिय।

–श्रीमद्‌भगवद्‌गीता अ० १७

३) तामस प्रकृति– नास्तिक-अधर्माचरणी

बुद्धिहीन-अज्ञानी

मेघाहीन-स्मृतिहीन

(क्योंकि बुद्धि पर तमका आवरण पड़ा हुआ होने के कारण बुद्धि का प्रकर्ष संपादित नहीं हो पाता।)

सदा तन्द्रायुक्त-अतिनिद्राप्रिय

(निद्रा-तन्द्रा तमकेही आधीन होने की वजह से) कर्म अनुत्साही।

(कर्म प्रवणता रजोगुण के आधीन होती है तथा तम यह रज का विपरीत गुणीय होता है।)

दूषितान्न प्रिय, उच्छिष्टान्न प्रिय, अमेध्य आहार प्रिय-ताजा भोजन जिसे प्रिय नहीं होता।

(बुद्धि पर तम का गहरा आवरण होने के कारण मूढमतित्व और इसी लिये यह हो पाता है।)

–श्रीमद् भगवद्‌गीता अ० १७

मन के सात्विकादि त्रिविध भेदों में के अनुसार { हर एक के लक्षण के तर-तम भाव } परस्पर संयोग के कारण

—हर एक के उपभेद बनते हैं।

**तामस प्रकृति हीन-अति कनिष्ट मानी जाती है।** इसमें न बुद्धि की क्रिया प्रवणता होती है न मन की उदारता एवं सुंदरता। आलस्य-तंद्रा में ही जिन्दगी का विशेष हिस्सा व्यर्थ चला जाता है।

❖
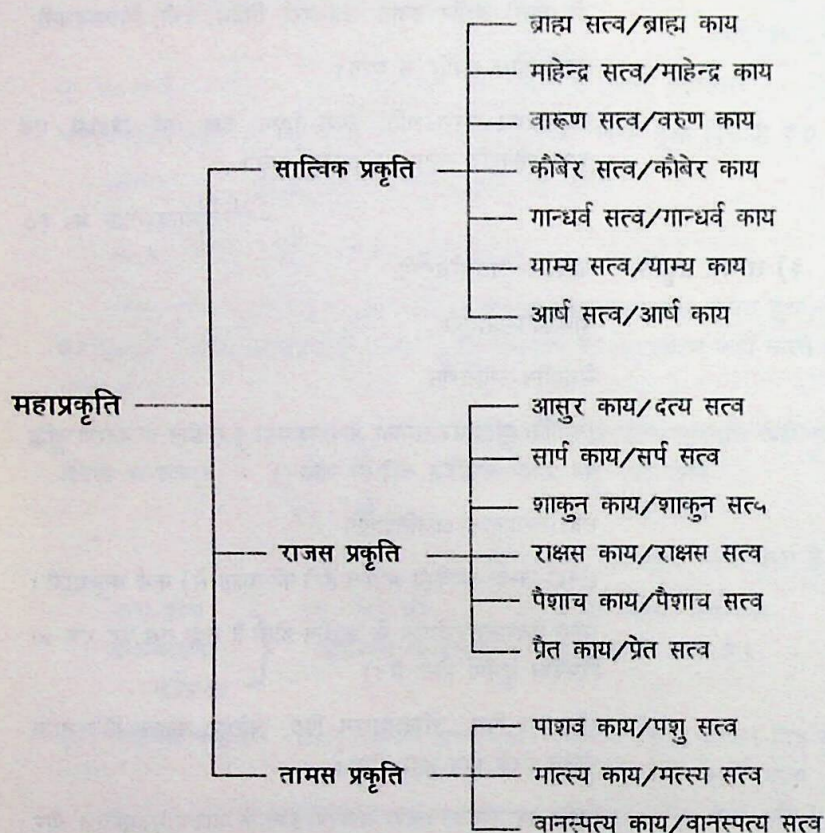
# सात्विक प्रकृति

१) ब्रह्मकाय- बाह्याभ्यान्तर शौच (पावित्र्यता) आस्तिक्य {वेद-धर्मग्रंथ-ईश्वरादि में श्रद्धा}

गुरू-आदरणीयों के प्रति श्रद्धा

आतिथ्यशील-सत्यवचनी

जितेन्द्रिय-यज्ञयाग में रत।

संविभाग प्रिय (अन्यों को मदद करने वाला। अपनी संपत्ति-अपनी वस्तुओं में से जरूरत मन्दों को देने वाला)

ज्ञान-विज्ञान संपन्न-वाचा समर्थ (वचन पालक)

स्मृति-धृति-बुद्धि युक्त।

काम क्रोधादि विकार हीन।

ब्रह्मवत् गुणसाम्य होने के कारण- 'ब्रह्मकाय'-कहा गया है।

२) माहेन्द्रकाय- इन्द्रवत् वैशिष्टयों से युक्त और इसी कारण यह नाम प्रदान किया हुआ। ऐश्वर्यवान-तेजस्वी-उच्चाकांक्षी ओजस्वी- दूरदर्शी-अनुशासन प्रिय, शौर्यवान, यज्ञयागादि धार्मिक कार्यों में रूचियुक्त। धर्म-अर्थ-काम-में संलग्न। अनिन्दित कर्मा, सतत शास्त्रसेवी-अध्ययनशील-भृत्यभरण कर्ता।

(कई नौकरों का-सेवकों का पालनहार)

३) वारुण काय-वरुण देव के समान प्रकृति गुण विशेषतायें होने के कारण यह नाम दिया गया है।

शीतसेवी-जलक्रिड़ाप्रिय-धीरवान-वीर-प्रियवादी-शौच प्रिय (पवित्रता प्रेमी) अनिन्दित कर्मा, यज्ञयागादि में रुचियुक्त। यथा समय कोप एवं कृपा से युक्त। पिंगाक्ष-कपिल केश युक्त।

४) कौबेर काय- प्रकृति गुण समानता कुबेर की तरह। धनवान-ऐश्वर्यवान-सहिष्णु उत्तम प्रजोत्पादन युक्त, क्रीड़ा कर। धर्म-अर्थ-काम में रूचियुक्त। सुख-समृद्धि से युक्त, धन संचयवान, निष्पक्ष मध्यस्थता करने वाला।

पद<br>सन्मान<br>भोग<br>ऐश्वर्य } इ० से युक्त।

५) गान्धर्वकाय- प्रकृति गुण साम्यत्व गन्धर्व से होने के कारण यह नाम।

सुगन्ध प्रिय-सुगन्धित लेप

सुगन्धित वस्त्रप्रावरणादि

सुगन्धित मालायें, पुष्प इ०

उत्तमोत्तम वस्त्र प्रियता

नृत्य-गायन<br>वाद्य-उत्तमस्त्रियाँ } में मग्न रहने वाला।<br>भोग-विलास

असूया भावी, स्नेहमय अन्तःकरण।

स्तोत्र-कथा<br>श्लोक-इतिहास } इ० का निर्माण करना। कीर्तन-प्रवचनादि<br>पुराण में रत।

भ्रमण प्रिय (सुन्दर सुन्दर प्रकृतिरम्य स्थानों की सैर कर सतत उनमें आनन्द प्राप्त करने वाला)

६) याम्य काय- प्रकृति गुणों की समानता यमदेव से।

देश<br>काल } के अनुसार कार्य करने वाला<br>स्थिति } वाणी एवं विधान जिसका सबको मान्य।<br>अजेय

दृढ़ाचरणी-दृढ़ निश्चयी

स्मृति-धृति-बुद्धि से युक्त।

निर्भय-ऐश्वर्यवान

मोह<br>राग<br>ईर्ष्या } इ० से रहित।<br>द्वेष

कर्तव्याकर्तव्य का योग्य ज्ञान होने वाला।

७) आर्ष काय- ऋषि मुनियों के स्वभाव गुणों से समानता।

राग-द्वेष<br>मद-मोह } इ० से रहित।

ब्रह्मचारी-व्रती।

ज्ञान
विज्ञान
प्रतिभा
धारणाशक्ति } से संपन्न

शब्दों में जोश एवं बल (परिणाम कारकता)

धर्माचरणी-आतिथ्यशील

व्रत-होम-जप
लेखन-मनन
पठन-पाठन } इ० में रत रहने वा ।

# राजस प्रकृति

१) आसुरकाय- अहंमन्य-आत्मपूरक

आत्मप्रशंसक-ऐश्वर्यवान,

पराक्रमी-चंडस्वभावी।

खूब खानेवाला, सब कुछ पचा जाने वाला। ईर्ष्या-द्वेषादि से युक्त। रौद्र स्वभाव युक्त, राक्षस के स्वभाव गुणों से-समानता होती है

२) सार्प योनि-- सर्प के स्वभाव गुणों से साम्य। आचार-विचारादि में अति चपल। सामान्यत: भीरु (डरपोक) किन्तु क्रोध के आवेग में अति पराक्रमी बन जाता है।

अति परिश्रमी-कपटी-तीक्ष्णतायुक्त स्वभाव,

३) शाकुन काय- शकुन अर्थात पक्षियों की तरह स्वभाव गुण विशेषतायें होने वाला। अति काम प्रवण (Sexy) अस्थिर प्रवृति। एक जगह न रहनेवाला, संचिताभाव गुणयुक्त, अविरत आहार-विहार प्रवण, असहिष्णु, परिश्रम-कार्य इ० में सतत मग्न।

४) राक्षस काय- राक्षसी प्रवृत्तियों से युक्त स्वभाव गुण।
हठीला-दुराग्रही-एकान्तप्रिय
अति क्रोधी-अति आहारशील

असूया
ईर्ष्या } इ० से युक्त।
दुष्टता

धर्म विपरीत आचरण।

दूसरे की दुर्बलताओं को ढूँढकर उनपर आघात करने वाला।

मांसाहार
मदिरा } इ० में विशेष रुचि होनेवाला
अनीति

५) पैशाच काय– पिशाच वत् गुण स्वभाव की विशेषताओं से युक्त।

साहस प्रिय-स्त्री लोलुप

निर्लज्ज-अशौच प्रिय-स्त्रैण

उच्छिष्टाहार प्रिय-अशौच प्रिय

विकृत-वीभत्स-चेष्टायुक्त

औरों को डरा-धमकाने में आनन्द प्राप्त करने वाला।

अति क्रोधी-आचार हीन।

६) प्रेत काय– प्रेत प्रवृतियों से स्वभाव गुणों की समानता।

अकर्मण्य-आलसी

दुःखी-असूया-लोलुपता-नित्य आहारशीलता

संविभाग द्वेष्टा (अपनी वस्तुयें इ० में से किसी को भी कुछ भी न देने वाला)

दान द्वेषी, अन्यों को तकलीफें-कष्टही सिर्फ पहुँचें इस प्रकार का दुष्टाचरण।

❖

# तामस प्रकृति

कुल पाँच उपभेदों में से प्रमुख तीन प्रकृतियों का यह विवेचन किया गया है।

१) पाशव काय– पशुओं की तरह आचार-विचारादि स्वभाव गुणों से युक्त।

अल्प बुद्धि-अल्प मेधा,

कुटिल-मैथुन परायण

चाहे जैसा रहना-शरीर सुशोभित श्रृंगारित करना

इ० का अभाव।

संग्रह प्रवृत्तिका अभाव- घर-सामान इ० मेरा स्वयं का हो- इस बाबत अनिच्छा।

वीभत्साचरण-निद्राशीलता

आहार प्रिय

२) मात्स्य काय-- मत्स्य से प्रकृति गुणों की समानता होना। निरंतर गमनशील, क्रियाओं में अस्थिरता, विचारों में चंचलता, जल प्रिय, आहार लोलुप। मूर्ख-भीरू (डरपोक) अन्योंसे सतत झगड़ने वाला। दूसरों की उन्नति-कार्यशीलता आदि सह न पानेवाला। काम-क्रोध से निरन्तर युक्त।

३) वानस्पत्य काय- सृष्टिस्थ वनस्पति-वृक्षादि से स्वभाव गुणादि का साम्य होना। एक ही स्थान में स्थिर बनकर रहने की वृत्ति। अति आलसी-बुद्धिशून्य। सिर्फ आहार प्रिय। धर्म-अर्थ-कामादि-भावों का पूर्णतः अभाव।

इस तरह -दोष प्रकृति

-महाभूत प्रकृति

-सत्व रज तमादि प्रकृति तथा उसके उपभेद

आदि के सूक्ष्म प्रकृति वर्णन को देखते हुये ऐसा लगता है कि आयुर्वेद ने प्रकृतियों का सूक्ष्म रूपेण वर्णन किया है, जिसमें शरीर विशेषताओं के साथ ही साथ आहार-विहारादि विशेषतायें-भिन्न मनोभाव आदि का सूक्ष्म विवेचन आयुर्वेद ने कर दिया है।

इन सबका उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उत्तम रोगनिदान-चिकीत्सा उपाय-पथ्यापथ्य निर्देश आदि सभी बातों में चिकीत्सक को महारत हासिल हो जाना-स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

❖

# अन्त:स्त्रावी ग्रंथि/नि:स्त्रोत ग्रंथि

## [ Duclless Glands/Endocrine Glands]

आयुर्वेदोक्त धात्वग्नि वर्णन तथा आधुनिक क्रियाशारीरोक्त अन्त: स्रावी ग्रंथि विवेचन इनका परस्पर योग्य समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

शरीर में विभिन्न स्थानों में ऐसी महत्वपूर्ण नि:स्त्रोत ग्रंथियाँ विद्यमान है जिनके अन्त: स्त्रावों के कारण रक्तचाप ह्रास, रक्तचाप वृद्धि, पुंबीज स्त्रीबीज (उत्पत्ति) हृदयगति नियंत्रण इ. अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित होते रहते हैं। और इस प्रकार शरीरस्थ अनेकानेक क्रियाकलापों का नियमन-संचालन इ० इन स्रावों के द्वारा संपादित होता रहता है।

नि:स्रोत ग्रंथियों के स्रावों के विशेष कार्य संपादन से शरीर में विभिन्न धातुओं की सुयोग्य उत्पत्ति धात्वादि की पुष्टि इन्द्रियों का सुयोग्य कार्य संचालन इ. संपादित होते रहते हैं।

शरीर में विभिन्न स्थानों में स्थित ये ग्रंथियाँ स्रावित होने वाली होती हैं, किन्तु इनसे स्रावित स्रावों का वहन करने के लिये इनकी अपनी नलिकायें नहीं होती और इसीलिये इन्हें नलिकाविहीन या नि:स्त्रोत कहा जाता है।

इन ग्रंथियों से विस्त्रावित स्त्राव उनके परिसरीय केशवाहिनियों के रक्त में मिल जाते हैं।

इस तरह ये स्त्राव रक्त में मिल जाने पर रक्त के द्वारा ये स्त्राव उन उन शरीरस्थ संबद्ध इन्द्रियों तक पहुँचाये जाते हैं, जिससे उन इन्द्रियों का कार्य संचालन, कार्यकुशलता संपादित हो पाती है।

| इन स्त्रावों के अभाव में | } | विभिन्न धातुपुष्टि कार्य में | } | बाधा उत्पन्न हो जाती है। |
|---|---|---|---|---|

उसी तरह हृदयादि की क्रियाओं का संतुलन संभव नहीं हो पाता।

| इन नि:स्त्रोत ग्रंथियों को | } | रस-रक्त का अबाध प्रदाय supply | } | अबाधित रूप से होता रहता है। |
|---|---|---|---|---|

जिसके द्वारा उनकी कार्यक्षमता अबाधित रखी

जाकर इन विभिन्न अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों में विभिन्न रासायनिक द्रव्य (Hormones) उत्पन्न किये जाते हैं।

अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों के स्त्रावस्थ ये रासायनिक द्रव्य ही (Hormones) शरीरस्थ महत्वपूर्ण कार्य संपादन के लिये जिम्मेदार होते हैं।
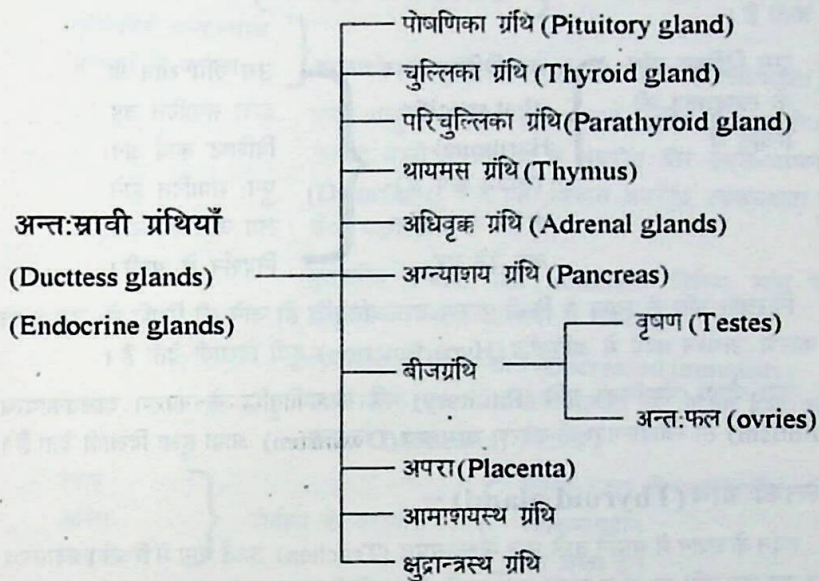
मस्तिष्क में ब्रह्मगुहा के (Third ventricle) देनों तरफ आज्ञाकन्द (Thalamus) (Optic Thalamus) नामक नाड़ीकोषिय पिण्ड होता है। इसके ऊर्ध्व एवं पुरोभाग में इन्द्रिय विस्तार (Pineal body) होती है। इस महत्वपूर्ण पिण्ड से भी कोई तो भी अन्त:स्त्राव (Harmone) स्त्रावित होता होगा (जो अज्ञात है)।

इसे एक फ्रेंच तत्ववेत्ता ने आत्मा का आश्रय स्थान यह नाम दिया हुआ दिखाई देता है।

आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान में प्रत्यक्ष एवं अचूक परीक्षणार्थ इन ग्रंथियों के स्त्रावों के शास्त्रीय कार्य परीक्षणार्थ दो प्रयोग किये गये।

| अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों के उक्त कार्य की प्रचीति के लिये | शरीर की वह ग्रंथि शस्त्र क्रिया द्वारा निकाल देने पर उक्त कार्यों का संपादन क्या बन्द पड़ जाता है? उसका परीक्षण करना। |
| --- | --- |
| | उस ग्रंथिकी उस स्त्रावहीनता की स्थिति में |

कृत्रिम रूप से वह स्त्राव शरीर में निक्षेपित कर वह उक्त कार्य क्या फिर से संपादित होने लग जाते है ? इसका परीक्षण करना।

और परीक्षणों के उपरान्त यह निदर्शन में आया कि शरीर से वह ग्रंथि निकाल देने पर उसके द्वारा संपादित वह कार्य अब पहले जैसा संपादित नहीं हो पा रहा है। वृषण ग्रंथि के निकल देने पर पौरुष नष्ट होकर षंढता(impotency) उत्पन्न होने की बात स्पष्ट: निदर्शन में आती है।

| | | |
|---|---|---|
| उस विशिष्ट ग्रंथि के स्त्रावाभाव की स्थिति में } | वह विशिष्ट स्त्राव (that specific Harmone) (कृत्रिम रूप से) शरीर में प्रक्षेपित कर देने पर | { उस ग्रंथि स्त्राव के द्वारा संपादित वह विशिष्ट कार्य अब पुन: संपादित होने लग जाने की बात निदर्शन से आयी। |

नि:स्त्रोत ग्रंथि के स्त्राव में किसी कारण वश अतिवृद्धि हो जाने की स्थिति में–उस स्त्राव के कारण उत्पन्न कार्य में अतिवृद्धि(Hyperfunction) हुयी दिखायी देती है।

उदा-पीयूष/पोषणिका ग्रंथि (Pituitory) की स्त्रावातिवृद्धि के कारण दानवकायत्व (Gaintism) तो स्त्रावाल्पता के कारण वामनत्व(Dwarfism) आया हुआ दिखायी देता है।

## चुल्लिका ग्रंथि (Thyroid gland) –

गर्दन के स्थान में सामने वाले भाग में श्वासपथ (Trachea) ऊर्ध्व भाग में स्थित। श्वासपथ स्थान यह इस ग्रंथि का मध्य स्थान तथा बायीं और दाहिनी तरफ इसका एक एक खंड (lobe) होता है।

इस ग्रंथि को रस-रक्त का प्रभूत प्रदाय लगातार शुरू रहता है।

इस ग्रंथि के स्त्राव को चुल्लिका रस वा चुल्लिका अन्त:स्त्राव(Thyroxin) कहा जाता है।

कार्य–

१. देह-मन पुष्टि।

२. देहस्थ धातुपाक क्रिया का नियमन।

परीक्षणों के उपरान्त यह देखने में आया है कि मेंढ़क की शरीर निर्मिति अवस्था में उसके शरीर से यह ग्रंथि निकाल देने पर उसके पैरों की तरफ का निर्माण कार्य रूक जाता है।

मेंढ़क शिशु में यह अन्त:स्त्राव यदि प्रक्षेपित किया गया तो उससे मेंढक शिशु को अल्पावधि में ही प्रौढ़ मेंढक का आकार प्राप्त हो जाता है।

चुल्लिका ग्रंथिस्राव शरीरस्थ प्रत्येक कोष के धातुपाक की नियामक होती है।

और इसीलिये { शरीरस्थ अन्य ग्रंथियों के स्त्राव पर प्रभावकारी } इसे कहा जाता है।

चुल्लिका अन्त:स्त्राव अल्पता के कारण } बालकों में—वृद्धि अवरुद्ध हो जाना (Cretinism)

इससे धातु पाक क्रिया-ह्रास संपन्न। अस्थि वृद्धि अवरोध के कारण बच्चे की ऊँचाई में अवरोध और इससे-वामनत्व (Dwarfism) बीज ग्रंथि विकास अवरोध, त्वक्रूक्षता एवं केश पतनारंभ।

हृत्शक्ति मन्दता, पेशी (muscles) दौर्बल्य, मांस पेशी दौर्बल्य के कारण अस्थियों में वक्रता।

रोगप्रतिकार क्षमता-ह्रास (Decreased immunity) इसके लिये कारण ग्रंथिस्त्रावाल्पता के कारण होने वाला रक्तक्षय (Anaemia) होता है।

त्वक्<br>अस्थि<br>मांसादि में } दौर्बल्य के कारण { मनुष्य रूग्ण, क्रियाक्षमताहीन, रोगक्षमताहीन बन जाता है।

शरीर की ही तरह इस { स्त्रावाल्पता का परिणाम } विपरीत रूपेण मन पर भी पड़ता है, बुद्धि हीनता (idiot)

जीभ बाहर निकली हुयी सी, नेत्र शोथ, नाक चपटी बनी हुयी, कन्धों पर बेढ़ब मांसवृद्धि-उदराकार वृद्धि नाभि बाहर निकली हुयी (everted umbilicus) बालकों में ऐसे लक्षणों का दर्शन होने लगते ही उन्हें आयोडिन-चिकीत्सा-आरंभ कर देने से लक्षणों का प्रशम होने लग जाता है।

शरीर की पूर्ण वृद्धि (विकास) होने के उपरान्त किसी कारण से स्त्रावाल्पता उत्पन्न हो जाने से अथवा शस्त्र क्रिया द्वारा यह ग्रंथि निकाल दिये जाने से ]

त्वचा के नीचे<br>आँखों के नीचे<br>तथा अक्षकास्थियों<br>पर (clavicles) } बेढ़व रूप से मेद संचिति

भारवृद्धि (Increased weight), पागलों जैसी मुखाकृति (idiot look) त्वक् रौक्ष्य, —केशपतन इ. (myxoedema)

| | | |
|---|---|---|
| चुल्लिका स्त्रावातिवृद्धि के कारण (Hyper thyrodism) | मन शरीर नाड़ी संस्था (Nervous system) | पर विपरीत परिणाम |

नाड़ी संस्था प्रक्षोभ– के कारण (Irritated nervous systeem) (Hyper excitability) — प्रतिक्षिप्त क्रिया (Reflex action) में वृद्धि। हस्त (Palm) कंप (fine tremors) हृत्स्पंदवृद्धि (palpitations) (१५० प्र० मि०)

धातुपाक वृद्धि- जिससे क्षुधातिवृद्धि के कारण खूब भोजन करते रहने के उपरान्त भी शरीर क्षीण होता जाता है।

अतिस्वेद- देहोष्मावृद्धि, मन उत्तेजित तथा उसके कारण थोड़ी-थोड़ी बातों पर चिड़-चिड़ाहट, मन चंचलता वृद्धि।

नेत्रमणि बाहर उभरे हुये से अथवा गुस्से में आँखे फैली हों जैसी हो जाती है। गलगण्ड (Goitre) नामक व्याधि।

स्त्रावाधिक्य के कारण– हृत् क्रियातिवृद्धि तथा हृत्क्रियावरोध (Heart failure) और उससे मृत्यु।

चुल्लिका ग्रंथि का प्रमुख स्त्राव-(thyroxin) जिसका प्रमुख घटक Iodine अत: आहार में आयोडिन के अभाव में गलगण्ड (Goitre) व्याधि। इसमें चुल्लिका ग्रंथि की अति वृद्धि होकर कभी-कभी वह खूब बड़ी होकर छाती तक लटकने लगती है।

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एक:।

-च० सं० वि० १२

निबन्ध: श्वयथुर्यस्य मुश्कवल्लंबते गले
महान वा यदि वा-ह्स्वो गलगण्ड तमादिशेत्।

-सु०सं०नि० ११

| | |
|---|---|
| पोषणिका (Pituitory) ग्रंथिका अग्रिम खण्डीय स्त्राव | चुल्लिका क्रिया तथा उसकी पुष्टि करने वाला। |

## आयुर्वेदोक्त मेदोग्नि तथा चुल्लिका स्त्राव–इनमें समानता–

आयुर्वेद के अनुसार शरीरस्थ मेदोग्नि शरीर में रस का परिपाक संपादित कर मेद की मात्रा का संतुलन रखने वाली एवं सारभाग मेद से अस्थि धातु की पुष्टि संपादित करती है।

| | |
|---|---|
| आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञानोक्त Thyroxin के कारण भी- | मेद एवं अस्थिपोषण योग्य रूप में संपादित होता रहता है। |
| इसीलिये इस 'Thyroxin' का शरीर में ह्रास होने की स्थिति में | अस्थि अपुष्ट, अस्थि की वृद्धि अवरूद्ध बनी हुयी, जिससे वामनत्व (Dwarfism) उत्पन्न होकर शरीर में मेदोतिवृद्धि हो जाती है। |

आयुर्वेदोक्त अस्थिक्षय के कारण—केश-लोम पतन क्लम-रोक्ष्यादि विकृतियाँ उत्पन्न।

शरीर में यही कार्य Thyroxin अल्पता की स्थिति में भी दिखायी देता हैं।

## परिचुल्लिका ग्रंथि (Para-Thyroid-Gland)

**परि (परिसर) + चुल्लिका—** चुल्लिका ग्रंथि के परिसरीय प्रदेश में (चारों ओर) छोटी-छोटी (२ से ४) ग्रंथियाँ। चुल्लिका ग्रंथि के अति समीप तथा उस ग्रंथि में ये सन्निविष्ट रूप में स्थित होती हैं।

**परिचुल्लिका स्त्राव के कार्य—** रक्त तथा अन्य धातुओं के द्रवांश में सुधा (calcium) के 'आयन्स' (ions) साम्यता की स्थिति में रखना। **(To maintain the calcium ions)**

**शरीर में सुधा के कार्य— (Function of calcium)** मांस धातु एवं नाड़ी तंतु क्षोभ नियंत्रण।

क्षोभ वा धातुक्षोभ का मतलब कोष या धातुसंपर्क में आने वाले भावों के द्वारा जो प्रतिक्रिया संपन्न होती है, वह प्रतिक्रिया मांस धातु एवं नाड़ी तंतुओं में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उदा-शीत-उष्णतादि स्पर्शानुसार (वह संज्ञा नाड़ी तंतुओं को प्राप्त हो जाने पर) मांस धातु को उस शीत या उष्ण से बचाव के खातिर उस अंग को उस शीत या उष्णता से दूर कर देने बाबत प्रेरणा (हाथ या पैर तुरंत दूर कर लेना)

इस प्रकार परिचुल्लिका अन्तः स्त्राव के कारण **अस्थि-रक्तादि में-सुधा प्रमाण साम्य रखा जाता है और उसके द्वारा नाड़ी तन्तु एवं मांस धातु की कर्म प्राकृतता का नियमन किया जाता है।**

| किसी कारण वश इस स्त्राव की अल्पता हो जाना अथवा शरीर से शस्त्र क्रिया द्वारा इस ग्रंथि के निकाल दिये जाने पर | नाड़ी तंतु एवं मांस धातु क्षोभ।<br>विकृत कर्मता<br>मांसपेशियों में खिंचाव-मरोड़ पैदा होना<br>**(Convulsions)** |
|---|---|

मांसपेशियाँ कठोर होकर सिकुड़ जाती है।,यह स्थिति tetanus सदृश और इसीलिये इसे tetany कहा जाता है। यह अंतरायाम आवेग तीव्र स्वरूपीय रहा तथा ज्यादा समय तक रहा तो इच्छाधीन मांसपेसियों के(Voluntary muscles) साथ ही साथ अनिच्छावर्ति मांस पेशियों में भी [ Involuntary muscles, muscles not attached to bones, muscles of internal organs] स्तंभोत्पत्ति हो जाती है।

श्वसन पेशियों में (Respiratory muscles) ऐसे स्तंभ होने के कारण श्वासावरोध (Asphyxia) के कारण मृत्यु भी हो जाती है। [मानवों में ऐसें लक्षण अभाव रूप में ही देखे जाते हैं।] ऐसी स्थिति में मुखमार्ग (orally) से सुधा (calcium) दे देने से लक्षणों में शमन हुआ दिखायी देता है।

| परिचुल्लिका ग्रंथि के स्त्राव वृद्धि के कारण- | रक्त में सुधा (calcium) प्रमाण वृद्धि।<br>और इससे (१) नाड़ी संस्था अवसाद,<br>(Depression in nervous System)<br>(२) तन्द्रा (Drowsiness)<br>(३) पेशी मार्दव (शैथिल्य)<br>(Loss of muscle tone)<br>(४) मूर्च्छा<br>(५) मृत्यु। |
|---|---|

रक्त में उत्पन्न हुयी सुधा वृद्धि यह अस्थियों में से कर्षित सुधा के द्वारा होती है, जिसके कारण अस्थिस्थ सुधाक्षय संपादित हो जाता है, जिससे अस्थिवक्रता, अस्थिभंगुरता (थोड़े से आघात से अस्थि टूट जाना) इ. उत्प

[ऐसी स्थिति में हुआ यह अस्थि भंग दीर्घ काल तक ठीक नहीं हो पाता।]
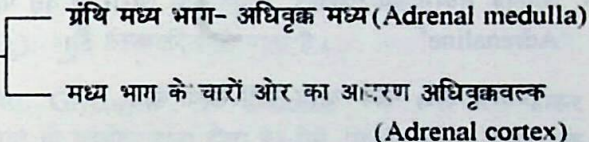
**परिचुलिका अर्बुद्ध की स्थिति में–** अस्थिभंगुरतादि लक्षणों की उत्पत्ति, मूल प्रमाण वृद्धि (ऐसी स्थिति में गविनी वृक्क-धमनियों को बाँध देने से रक्त गत सुधावृद्धि पुन: सामान्य हो जाती है।)

## अधिवृक्क ग्रंथि (Supra Renal Glands) —

प्रत्येक वृक्क के ऊपरी एवं पार्श्वस्थ हिस्से में टोपी की तरह बैठी हुयी एकेक ग्रंथि होती है। इसे ही 'अधिवृक्क ग्रंथि' कहा जाता है।

इस से दो प्रकार के भिन्न स्त्राव स्त्रावित होते हैं अर्थात् दो भिन्न स्त्रावों को स्त्रावित करने वाली दो विभिन्न ग्रंथियों का समूह अर्थात् यह ग्रंथि होती है।

इस ग्रंथि के मध्यभाग में छेद देने पर एक दूसरी से संलग्न ये दो ग्रंथियाँ एक दूसरी से अलग की जा सकती हैं।

**अधिवृक्क ग्रंथि** —
- **ग्रंथि मध्य भाग- अधिवृक्क मध्य** (Adrenal medulla)
- मध्य भाग के चारों ओर का आवरण **अधिवृक्कवल्क** (Adrenal cortex)

इन दोनों भागों के स्त्राव भिन्न-भिन्न तथा भिन्न गुणधर्मीय होते हैं।

**अधिवृक्क मध्य** (Adrenal Medulla) इसका मूल (origin) मध्यचर्म (meso-derm) होता है, जिससे वृषण ग्रंथियों की उत्पत्ति भी होती रहती है। अत: ही वृषण ग्रंथियों की पुष्टि तथा उनके कार्य (Testes) इन पर अधिवृक्क वल्क भाग का प्रभाव होता है।

मध्यस्वतंत्र (आग्नेय) (Sympathetic nervous system) नाड़ी तंत्र का मूल नाड़ी तंत्र प्रसू प्रणाली (Nural tube) होता है, जिससे मध्यस्वतंत्र नाड़ी संस्थान कन्दोंसह (Ganglions) बनती है।

**इस प्रसू प्रणाली वा नलिका के ऊर्ध्व भाग से–** मध्यस्वतंत्र नाड़ी संस्था के कन्द (Ganglions) पश्चिम नाड़ी मूल कन्द (Post-root ganglion) तथा अधिवृक्क मध्य (Adrendal cortex) इनकी उत्पत्ति होती है।

**Adrenaline**— यह अधिवृक्क मध्य भाग से (Adrenal medulla) होने वाला अन्त:स्त्राव (Hormone) है। अधिवृक्क मध्य भाग से सत्वपातन से (Extract) 'Adrenaline' प्राप्त हो सकता है, वैसे ही कृत्रिम पद्धति से भी (Synthesis) यह बनाया जा सकता है।

यह 'Adrenaline' स्त्राव शरार में उत्पन्न अकस्मात संकटकालीन स्थितियों से (Emergency) मुकाबला करने के लिये शरीरेन्द्रियों को क्षम बनाता है।

| उद्दिपित मध्य स्वतंत्र नाड़ी संस्था के कार्य (Functions of excited Sympathetic nervous system) | तथा | Adrenaline स्त्राव के कर्म | दोनों एक समान होते हैं। |
|---|---|---|---|

अतिभयार्त अवस्था में प्राण बचाने के खातिर जी-जान से दौड़ना। रणक्षेत्र पर आकस्मिक हमले के समय विशेष हिम्मत एवं बहादुरी से जूझना

इ. आकस्मिक काल में (Emergency)

| १. मध्यस्वतंत्र नाड़ी संस्था (Sympathetic nervous system) तथा २. अधिवृक्क मध्यभागीय स्त्राव 'Adrenaline' | ये दोनों ही संयुक्त रूप से विशेष क्रियाकारी बन प्रसंग के अनुरूप शरीर में वैसे परिर्वतन संपादित करते हैं। |
|---|---|

(प्रधान कर्म- मध्य स्वतंत्र नाड़ी संस्था का।

सहायक कर्म-'Adrenaline' इस अन्तःस्त्राव का। ऐसी इस समय स्थिति होती है)

१) हृद्‌गति वर्धन- इसके द्वारा शरीरेन्द्रियों को रक्त का विशेष रूपेण प्रदाय किया जाता है।

२) हृत्‌रक्त प्रदायिका धमनी विस्तार (Coronary artery)— जिससे हृदय विशेष सक्षम बन पाता है।

३) उदरधमनिका(Arterioles) संकोच- तथा अस्थिसंलग्न पेशीस्थ धमनी विस्तार। (पचन के समय उदर धमनि का विस्तार होता रहता है, जिसके द्वारा पचनार्थ इन्द्रियों को विशेष रूप से सक्षम बनाने के लिये (उस पचन संविभाग में) उस भाग में रक्त संचार विशेष रूप से आरंभ हो जाता है।

किन्तु भयादि संकट कालीन स्थिति में प्राण बचाने के खातिर प्राणों की बाजी लगाकर दौड़ना इ. विशेष क्रिया संपादनार्थ अस्थिसंलग्न मांसपेशियों को ज्यादा क्षमता प्रदान करने के लिये उदरस्थ रक्त प्रदाय (ऐसे समय उदरस्थ धमनियों का संकोच हो जाने की विशेष क्रिया के कारण) कम हो जाता है और उसके ऐवज में अस्थिसंलग्न पेशियों में स्थित धमनियों का विस्तार होकर विशेष रूप से दौड़ने के लिये अस्थि संलग्न (पैरों की) (लड़ने के लिए हाथों की) पेशियों को विशेष क्षमता प्रदान करने के लिये रक्त का प्रदाय बढ़ जाता है।

४) त्वक्‌स्थ धमनि का संकोच इ. के कारण रक्त चाप वृद्धि (Hypertension)

संपादित और उसके द्वारा अस्थि संलग्न मांस पेशियों को रक्त प्रदाय क्रिया बढ़ जाती है, जिससे मांसपेशियों में ज्यादा की ऊर्जा (energy) उत्पन्न हो जाती है।

रक्त सह पेशियों को प्राप्त होने वाला (ज्यादा का ओषजन ($O_2$) ज्वंलन के लिये (ऊर्जा-शक्ति उत्पादन के लिये) अनिवार्य रहता है (जो रक्त के माध्यम से रक्त प्रदाय का प्रमाण बढ़ जाने से ओषजन भी बढ़े हुये प्रमाण में पेशियों को प्राप्त हो जाता है)।

५) प्लीहास्थित (संचित) रक्तकण (R.B.C.) ऐसे (संकटकालीन) समय विशेष प्रमाण में प्लीहा द्वारा रक्त में छोड़े जाते हैं। (क्योंकि ओषजन शोषण का कार्य रक्तस्थ लाल कणों में स्थित हेमोग्लोबिन के द्वारा होता रहता है)

६) श्वसन प्रमाण में वृद्धि (Increased rate of respiration) हो जाती है। अपस्तंभ (Bronchioles) विकास कार्य (Dilatation) संपादित होता है,

जिससे ओषजन $O_2$<br>तथा अंगाराम्ल ($CO_2$) } का आदानप्रदान उत्तमरिति से संपादित हो पाता है।

७) यकृतस्थ संचित 'Glycogen' का 'Glucose' में रूपान्तरण होकर (ग्लायकोजेन रक्त में अद्राव्य तो ग्लुकोज द्राव्य होता है) ऐसे (संकटकालीन) समय रक्त में ज्यादा प्रमाण में द्राक्षाशर्करा (Glucose) छोड़ी जाती है।

(पेशियों में उष्णता (ऊर्जा-Energy) निर्मिति के लिये रक्तस्थ ग्लुकोज ईधन रूप कार्य करता रहता है।) जिससे पेशियों को थकान न आते हुये उस समय के (Emergency) उन विशेष परिश्रमों के लिये (जान बचाने के लिये जी-जान से दौड़ना, शत्रु से लड़ना इ. कार्य) मांसपेशियाँ क्षम हो जाती हैं।

८) रक्त स्कंदन (Coagulation of Blood) गति में वृद्धि :- क्योंकि भयादि आकस्मिक स्थितियों में शत्रु अथवा शेर-चीतादि के आक्रमण के कारण जख्मी होकर ज्यादा रक्तस्त्राव हो जाने की (Excess of Haemorrhage) नाजुक स्थिति पैदा हो सकती है।

ऐसे समय शरीर में जीवन रूप रक्त (Blood is life) जख्मों के द्वारा बह जाता है, जिससे मृत्यु होना यह परिणाम देखने में आता है। भीषंण रक्त स्राव से अचानक ऐसी मृत्यु न हो पाये इसके लिये यह विशेष योजना ऐसे संकट काल में शरीर में क्रियान्वित हो जाती है। ('Adrenaline' -इस अंत: स्राव के द्वारा यह कार्य संपादित होता है।)

९) भय इ. संकटकालीन विशेष स्थिति में पाचन प्रणाली क्रिया कुछ काल के लिये

अवरूद्ध हो जाती है। (आन्त्रस्थ पेशी संकोच-उदर धमनि का संकोच इ. के द्वारा) तथा इस प्रदेश में होने वाला यह रक्त प्रदाय अस्थिसंलग्न पेशीस्थ रक्तनलिकाओं में शरीरस्थ अंतर्गत विशेष क्रिया द्वारा मोड़ दिया जाता है; जिससे ऊर्जोत्पत्ति के लिये मांसपेशियों को विशेष रक्त प्रदाय प्राप्त हो पाता है।

१०) कनीनिका विस्तार (Dilatation of Pupils) रोमांच (रोंगटे खड़े हो जाना)

नेत्रमणि बड़ा हो जाना (आश्चर्य-भयादि के कारण) प्रस्वेद (Sweating) - इ. विशेष परिवर्तन भय वा संकट की स्थिति में शरीरेन्द्रियों 'Adrenaline' में अन्त:स्राव (Hormones) के कारण संपादित किये जाते है।

११) शीत से रक्षा

१२) 'हिस्टॅमिन' इ. विषारी परिणामों का प्रतिरोधक (Antilistamine) उत्पन्न करना।

## आयुर्वेदोक्त साधक पित्त ही आधुनिक शारीर क्रियोक्त 'अॅड्रेनलीन' है।

आयुर्वेद के अनुसार, साधक पित्त यह हृत् स्थान में रहकर (साधकं हृदगतं पित्तम्।)

भय<br>क्रोध<br>हर्ष<br>शौर्य } इ. को संपादित करता रहता है।

आधुनिक क्रियाशारीरोक्त 'अॅड्रेनलीन' के भी ये ही कार्य बताये गये हैं, किन्तु अॅड्रेनलीन का स्थान हृदय न होकर वह अधिवृक्क ग्रंथि मध्य से उत्पन्न होता रहता है।

किन्तु दोनों की इस इतनी सी भिन्नता से गड़बड़ा जाने का कोई कारण नहीं है। हर समय यह अॅड्रेनलीन हृदय के मार्फत रक्त के माध्यम से समस्त शरीर में प्रक्षेपित किया जाता रहता है।

हृत्पेशियों पर भी (Cardiac muscles) } इसका 'Adrenaline' परिणाम दिखाई देता है।

और इस दृष्टि से उसका हृदय से संबंध अति निकट एवं अति नित्य स्वरूप का सिद्ध हो जाता है। अत: उसका स्थान हृदय है ऐसा कहने से कुछ नहीं बिगड़ता।

आयुर्वेद ने रस का स्थान हृदय बताया है। इसका वास्तविक स्थान तो ग्रहणी (Duodenum) होता है। किन्तु हर समय हृदय के मार्फत यह रस समस्त शरीराङ्गों को

प्रक्षेपित किया जाता रहता है। इस दृष्टि से आयुर्वेद ने रस का स्थान हृदय को कहा है। उसी तरह 'अॅड्रेनलीन' के बाबत भी कहा जा सकता है।

अधिवृक्क (Adrenal cortex)

अधिवृक्क मध्य के चारों ओर तथा ऊपर वृक्कशीर्ष पर तथा पिछले हिस्से में टोपी की तरह फैला हुयी अधिवृक्क ग्रंथि को अधिवृक्क वल्क कहा जाता है।

गर्भावस्था में जिस भाग से अन्तःफल तथा वृषण इन बीज ग्रंथियों का निर्माण किया जाता है उसी भाग से यह अधिवृक्क वल्क भाग भी बनता है।

अधिवृक्क ग्रंथि स्राव के अभाव में—
मांसपेशी अति शैथिल्य
अंगावसाद (बदन एकदम ढीला पड़ जाना।)
क्षुधानाश
स्फूर्ति, उत्साहातिह्रास
शरीरभार (Body weight)
उत्तरोत्तर कम होना।
मोह (coma/stuper)
१० दिन में मृत्यु।

Addison's Disease— में ये ही लक्षण होते हैं। इसमें त्वक् कार्ष्ण्यता होती है, जो अधिवृक्क स्राव के अभाव में उत्पन्न हुये लक्षणों में दिखायी नहीं देती।

इस रोग में अधिवृक्क सत्व-यह उत्तम औषधि है।

अधिवृक्क ग्रंथि स्त्रावाल्पता का— वृक्कों पर अनिष्ट परिणाम, जिससे वृक्क 'सोडियम' का अधिक मात्रा में तथा 'पोटॅशियम' का कम मात्रा में विसर्जन करने लगते है, जिससे उदक क्षय (Dehydration) यह गंभीर परिणामं संपादित हो जाता है, जिससे रक्त द्रवता-ह्रास और इससे रक्तचाप-ह्रास (Hypotension) उत्पन्न।

शरीर कोषों में (Body tissues) सोडियम का प्रमाण कम हो जाता है।

रक्तस्थ द्राक्षाशर्करा में भी अल्पता आ जाती है।

स्त्रियों में अधिवृक्क वल्क स्थान में अर्बुद (Tumour) उत्पत्ति से— स्त्रियों में पुरुषसदृश बाह्य लक्षणों की उत्पत्ति (Secondary sex characters) उदा-कामच्छत्र (Clitoris) खुप बड़ा हो जाता है। श्मश्रुस्थान में केशोत्पत्ति, स्वरमार्दव नष्ट, पुरुषों की तरह त्वचा पर रोमों का स्पष्ट (Virilism) प्रादुर्भाव।

बालकों में-अधिवृक्क वल्क स्थान में अर्बुद की उत्पत्ति हो जाने से—

उस अल्प उम्र में भी प्रौढ़ व्यक्ति की तरह लिङ्ग (Penis) बड़ा हो जाना।

जननेन्द्रिय स्थान में बाल आ जाना (Pubic Hair) इ.।

किन्तु शस्त्र कर्म द्वारा (Surgery) वह अर्बुद निकाल देने से वह बालक पूर्ववत् पुन: सामान्य लक्षणों से युक्त हो जाता है।

| | | |
|---|---|---|
| अधिवृक्क वल्क स्थानीय अन्त:स्राव | अनेक होने पर भी | उनमें दो स्राव प्रमुख माने जाते हैं। |
| | १. Proteine एवं Carbohydrates | धातुपाक से सम्बध्द्ध अन्त:स्राव |
| | २. शरीरस्थ सोडियम-पोटॅशियम से | संबद्ध अन्तस्राव |
| | | इसे लवण जल अंत: स्त्राव (Salt & water Harmone) कहा जाता है। |

**अग्न्याशय (Parncreas)**

जाठराग्नि के द्वारा पचन क्रिया में पिष्टमय पदार्थों का (Carbohydrates) परिपाक होकर अन्त में द्राक्षाशर्करादि सामान्य शर्करायें उत्पन्न होती है।

शरीर में ये शर्करायें शोषित हो जाने पर (यकृत के द्वारा) इनका भी परिर्वतन द्राक्षाशर्करा में ही हो जाता है।

शरीर में पेशियों में ज्वलन (Combustion) संपादित होता रहता है और इस कार्य के लिये द्राक्षाशर्करा (Glucose) ईंधन रूप में प्रयोजित होती रहती है। इस ज्वलन वा दहन कार्य के लिये ओषजन ($O_2$) प्रेरक रूप होता है। इस क्रिया के परिणामस्वरूप शरीर में उष्णता एवं शक्ति (Production of heat and energy) निर्माण संपादित होता है।

शरीर में ऊर्जोत्पत्ति के उपरान्त बची हुई द्राक्षाशर्करा (Glucose) यकृत् के द्वारा 'ग्लाइकोजेन' में रूपांतरित की जाकर उसी रूप में वह यकृत में संचित की जाती है।

उसी तरह यह ज्यादा की द्राक्षाशर्करा मेद (Fat) में परिवर्तित होकर शरीरस्थ मेदस्थानों में संचित की जाती है।

विशिष्ट परिस्थितियों में (प्रदीर्घ काल आहार ही ग्रहण न करना-उपवास) जब ऊर्जोत्पत्ति के लिये पेशियों में द्राक्षाशर्करा अनुपलब्ध हो जाती है तब यकृत के द्वारा संचित ग्लाइकोजेन

को पुनः ग्लुकोज में परिवर्तित किया जाकर तथा मेद स्थानों में संचित मेद का पुनः द्राक्षाशर्करा में रूपान्तरण होकर इस विशिष्ट संकट काल में (emergency) शरीर के ग्लुकोजरूपी ईंधन की पूर्ति की जाती है।

अग्न्याशय का अन्तःस्राव इन्सुलीन- इसके अभाव में शरीर में द्राक्षाशर्करा का उपयोजन (ऊर्जा-उष्णता उत्पन्न करना) संपादित नहीं हो पाता।

इन्सुलीन के साथ ही साथ } शरीर में द्राक्षाशर्करा उपयोजन कार्य में { अधिवृक्क वल्क अन्तःस्राव की तरह कुछ अन्य स्राव भी सहायक बनते हैं।

अग्न्याशय उभयतःस्त्रावी ग्रंथि—
- बाह्यस्राव — पचन क्रिया में विशेष महत्वपूर्ण सहभाग लेने वाले इन स्रावों को अग्नि कहा गया है।
- अन्तःस्राव — 'Islets of Langerhans' नामक अग्न्याशय के विशिष्ट भाग से इन्सुलीन का स्राव जो धातुनिर्माण कार्य में ग्लुकोज का उपयोजन कर उष्णता एवं शक्ति निर्मिति में महत्वपूर्ण कार्य निभाता है।

१. पचन क्रिया में उत्पन्न ग्लूकोज का } शरीर पेशियों में दहन होकर (combustion) } { ऊर्जा एवं उष्णता उत्पन्न

२. शरीर को ऊर्जा एवं उष्णता निर्मित्युत्तर } बची हुयी ज्यादा की द्राक्षाशर्करा { यकृत में 'ग्लाइकोजेन' रूप में संचित, मेद स्थानों में मेद के रूप में संचित

किन्तु Insulin की अनुपस्थिति में यह कार्य कदापि संपन्न नहीं हो पाता।

जिससे (१) अनुपयोजित ग्लूकोज का रक्त में प्रमाण एकदम खूब बढ़ जाता है। (Hyperglyceacemia)

(२) अनुपयोजित द्राक्षाशर्करा मूत्र के द्वारा शरीर के बाहर हर समय उत्सर्जित कर दी जाती है।

क्षौद्रमेह (शर्करायुक्त मूत्र) (Dibetes Mellatus)

परिणाम स्वरूप- शरीर उत्तरोत्तर दुर्बल, रोगक्षमताहीन, मांसपेशिशैथिल्ययुक्त, ऊर्जा-उत्साह हीन, क्लमयुक्त (Fatigue) बन जाता है।

रक्त में द्राक्षाशर्करा अति वृद्धि से } वृक्कस्थ नलिकाओं की { पुनर्शोषण की क्षमता (Renal threshold) } नहीं रहती।

(रक्त में शर्करा प्रमाण ०.१ सं ०.२० से अधिक होने से ऐसा होता है।)

इससे -प्रभूत मूत्रता, मुहुर्मुहु मूत्रप्रवृत्ति } संपादित होती हैं।

क्योंकि शरीरस्थ अनुपयोजित शर्करा इस मूत्र में द्रावित कर शरीर के बाहर शरीर को उत्सर्जित कर देनी होती है।

बार-बार मूत्रप्रवृत्ति की इस प्रक्रिया के कारण } शरीरस्थ जल प्रमाण ओछा हो जाने से { बार-बार प्यास लगती है

—बार-बार जल प्राशन किया जाता है। उससे पुन: उदकमेह (Polyurea) यह दुष्टचक्र शुरू हा जाता है।

बार-बार भूख लगती है, क्योंकि पचन कार्य में तैयार हुई द्राक्षाशर्करा शरीर पेशियों को प्राप्त ही नहीं हो पाती -पेशियों की द्राक्षाशर्करा की जरूरत अतृप्तही रह जाती है। जिससे पुन: पुन: क्षुधानुभूति होकर बार-बार भोजन किया जाता है। (Polyphagia)

पेशियों को ग्लुकोज की जरूरत होने की उस हर स्थिति में यकृत में संचित ग्लाइकोजेन का रूपान्तरण पुन: ग्लुकोज में कर रक्त में मिल जाता है।

किन्तु वह भी इन्सुलीन के अभाव में शरीर पेशियों में उपयोजित न हो सकने के कारण मूत्र द्वारा शरीर के बाहर फेंक दी जाती है, जिससे उत्तरोत्तर दुर्बलता बढ़ती जाती है।

इसका परिणाम धातुपाक पर भी सम्पादित होता है। अपूर्ण धातुपाक के कारण रक्त में अम्लता उत्पत्ति हो जाती है, जिससे मूर्च्छा (Dibetic Coma) उत्पन्न। इससे मृत्यु भी हो सकती है।

अग्न्याशय विकृति } कुछ लोगों में जन्मजात तो कुछ में यक्ष्मा-शोथादि की जीर्णावस्था के कारण } उत्पन्न होती है।

यकृत की रूग्णता के कारण } ग्लाइकोजेन का ग्लुकोज में तथा ग्लुकोज का ग्लाइकोजेन में रूपान्तरण } के कार्य में } बाधा उत्पन्न हो जाती है। इससे रक्त में शर्करा प्रमाण बढ़कर मूत्र द्वारा शरीर से श्कर्करा निर्गमन हो जाता है।

ऐसी गंभीर स्थिति में त्वचा में इन्सुलीन सूचिवेध से प्रक्षेपित कर देने से समस्त लक्षणों की निवृत्ति होकर ग्लुकोज का उपयोजन शरीर में पुनः होने लगता है। किन्तु इस तरह का इन्सुलिन का सूचिवेध रूग्ण को हर रोज आवश्यक हो जाता है।

कभी-कभी शरीर में (गलती से) इन्सुलीन अति मात्रा में प्रविष्ट कर दिये जाने से-

शरीरस्थ रक्त शर्करा एकदम कम हो जाती है, (Hypoglycemia) जिसका केन्द्रीय नाड़ी सूत्रों पर विपरीत परिणाम होकर प्रस्वेद (Sweating) हल्लास (Nausea), प्रसेक (लाला स्राव), अश्रु, कैप, अति दौर्बल्य, क्षुधातिवृद्धि, आक्षेप (Convulsions), मूर्च्छा (Dibetic Coma).

इ. उत्पन्न हो जाते हैं।

ऐसे समय अविलम्ब सिरा द्वारा सूविवेध से ग्लुकोज प्रक्षेपित कर देने से रूग्ण के लिये वह प्राणदान ही साबित होता है।

मनुष्य जब शारीरिक-मानसिक विश्रान्ति की स्थिति में होता है तब शरीरस्थ परिस्वतंत्र नाड़ी संस्थान सक्रिय हो जाता है और उसी समय इन्सुलीन भी क्रियाकारी हो जाता है।

किन्तु आज के इस भागम भाग के जीवन में मानसिक अस्वास्थ्य रहने वाले व्यक्तियों में परिस्वतत्रंत नाड़ी संस्था की विरोधी कर्मिणि स्वतंत्र नाड़ी संस्था हर दम ही क्षुब्धावस्था (Irritated-excited) में रहती है, जिससे इन्सुलीन का कार्य योग्य रूपेण संपन्न नहीं हो पाता और उसके कारण क्षौद्रमेह यह दुःखद परिणाम सामान्यतः संपादित होता हुआ दिखायी देता है।

| | |
|---|---|
| अति सन्तर्पण के कारण- | अग्न्याशयस्थ द्विप, ('Islets of Langer hans') (जहाँ से इन्सुलीन का स्त्राव होता रहता है) तथा यकृत पर विशेष तनाव आ जाता है, जिसके कारण - |
| | अति कार्यभार के कारण उनमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। |
| व्यायाम (परिश्रम) के अभाव से | परिस्वतंत्र नाड़ी संस्थान शिथिल हो जाता है। |

| इसके विपरीत योग्य व्यायाम (परिश्रम) के कारण | परिस्वतंत्र नाड़ी संस्थान उद्यिपित होकर | स्त्रावादि करवाने का अपना काम योग्य रूपेण संपादित कर पाती है। |
|---|---|---|

आयुर्वेद ने यवादि लघुगुणीय धान्य सेवन का ऐसी स्थिति में किया हुआ निर्देश अति महत्वपूर्ण एवं आज के विज्ञान के प्रकाश में भी अति वैज्ञानिक स्वरूपीय कहलाया जाता है।

क्योंकि इससे अग्न्याशय के ऊपर का कार्यभार हलका किया जा सकता है।

तद्वत ही आयुर्वेदोक्त { मार्गचलन (दूर तक घूमने जाना)
कूपखननादि

के कारण श्रम
आयास
व्यायामादि } से परिस्वतंत्र नाड़ी संस्था उत्तेजित हो जाती है।

आयुर्वेद ने गृहत्याग का निर्देश शारिरीक-मानसिक शान्ति के लिये किया हुआ है। (घर में रहकर यह शान्ति पूर्ण रूपेण प्राप्त न होने पर स्थान परिर्वतन से प्राप्त हो सकती है।)

इस तरह दैहिक-मानसिक शान्तता के कारण

परिस्वतंत्र नाड़ी संस्था

उद्यिपित होकर इन्सुलीन को कार्यकारी बना पाती है

**आयुर्वेदोक्त अग्न्याशय यह नाम अप्रतिम रूपेण सार्थक**– इस तरह अग्न्याशय पूर्ण रूप से अग्नि का ही कार्य शरीर में करता रहता है। इसके बाह्य स्त्रावों के बिना अन्न का पचन संभव नहीं है ...

तो इसके अन्त:स्त्राव 'इन्सुलीन' के द्वारा पाचित आहारांश का–ग्लूकोज' का शरीर में उष्णता एवं ऊर्जा उत्पत्ति के लिये विनियोजन (ज्वलन **Combustion** ) करवाया जाता है। 'इन्सुलीन' के बिना यह कार्य सर्वथ असंभव ही होता है।

इस प्रकार का विवेचन विस्तृत रूपेण तथा बारिकियों सहित आधुनिक शारीरक्रिया विज्ञान के द्वारा किया हुआ दिखायी देता है।

और यह देखने पर हैरत होती है, हजारों साल पहले के उन आयुर्वेद मनीषियों के ज्ञान पर, जिन्होंने अंतबाह्य स्त्रावों के द्वारा शरीरस्थ अग्नि का कार्य करने वाले उस **Pancreas** नामक इन्द्रिय को **'अग्नि का अधिष्ठान'-'अग्न्याशय'**-यह सार्थ नाम दिया।

## वृषण ग्रंथि (Testes)

यह अग्न्याशयवत् उभयत: स्रावी ग्रंथि

| बहि:स्राव | अन्त: स्राव |
|---|---|
| पुंबीज अकेला वा अन्य ग्रंथियों के स्राव सह बहि:शुक्र | अन्त:शुक्र (Testesterone) कार्य-जननावयव पुष्टि, प्राकृत कर्म परिरक्षण श्मश्रु - जननेन्द्रिय स्थान में केशागमन, स्वर में भारीपन (स्वर की कोमलता नष्ट इ.) |
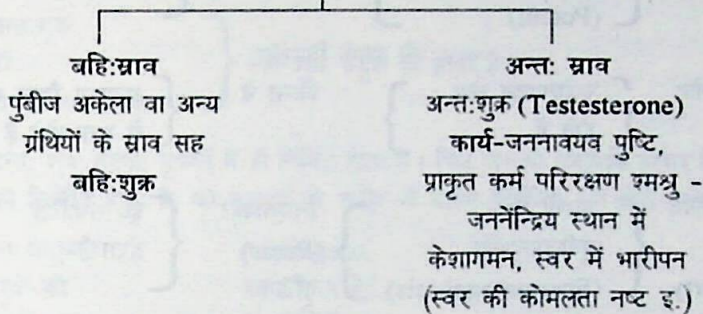
आयुर्वेद ने शुक्र का समस्त शरीर व्यापित्व तथा सर्वांग पर उसका प्रभाव विशद रूपेण वर्णित किया हुआ दिखायी देता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है। कि-उन प्राचीन द्रष्टा मनीषियों को 'अन्त: शुक्र' का ज्ञान अवश्य रूपेण था।

वृषण ग्रंथि में-अनेक स्तर युक्त - स्प्रिंग के आकार की असंख्य नलिकायें। ये असंख्य सूक्ष्म नलिकायें ही पुंबीजोत्पादक स्रोत है। (Seminiferous tubules)

इस ग्रंथिस्थ अंतरावर्ति कोष (Inter-titial cells) अन्त: शुक्रोत्पादक होते हैं।

## षंढिकरण (Castration)

(खच्ची करना-वृषण ग्रंथि शस्त्र क्रिया से निकाल देना।)

इससे पुरूषों में वन्ध्यत्व(Sterility) आ जाता है। अन्य प्राणियों के शरीर से प्राप्त कृत्रिम अन्त:शुक्र का सूचिवेध ऐसे पुरूष को दिये जाने पर -

अथवा अन्य प्राणि की वृषण ग्रंथियाँ उसके शरीर में कलम कर देने से उसके षंढत्व लक्षणों का लोप हो जाता है। बन्ध्यत्व तो कायम ही रह जाता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वृषणग्रंथियाँ पुंबीज के अतिरिक्त दूसरा अन्त: स्राव भी निश्चित रूपेण उत्पन्न करती हैं।

| | | |
|---|---|---|
| बन्ध्यत्व तथा मैथुन असमर्थता | ये दोनों बिल्कुल भिन्न बातें। | |
| मैथुन (व्यवाय) (intercouse) के समय | स्त्री की काम भावनाओं की तुष्टि कर पाना | मैथुन क्षमता (Potenc[illegible] |

कुछ लोग { उत्तम क्षमता से युक्त होते हैं। (Potent) } किन्तु वे { प्रजोत्पादन में अक्षम हो सकते हैं (Sterile)

तो इसके विपरीत

कुछ लोग { प्रजोत्पादन क्षम होते हैं } किन्त वे { अत्यल्प मैथुन क्षमता से युक्त होते हैं।

तारुण्योदय कालमें (Puberty { वृषणों में पुंबीजप्रादुर्भाव (Spermatogenesis) } लिङ्गाकार (Penis) वृद्धि { इ० संपादित होता है

उसी के साथ ही बाह्य लिङ्गद्योतक लक्षण (Secondary Sex charaters)

१. प्राणियों में सींग फूटना
मुर्गे को कलगी(तुर्रा) फूटना
२. पुरुषों में जननेंद्रिय स्थान पर बालों का उगना, शरीर का पुरुषोचित संहनन, आवाज पुरुषोचित इ. उत्पन्न।

तारुव्यावस्था के पूर्व ही यदि षंढिकरण कर दिया गया तो– शरीर का पुरुषोचित संहनन न हो पाना। आवाज बच्चों या स्त्रियों की तरह कोमल रह जाना।

श्मश्रु स्थान में तथा जननेंद्रिय स्थान में } अति कोमल स्वरूपीय तथा नाम मात्र बाल उगना।

अंड ग्रंथियाँ, शुक्रवाहिनियाँ
(Seminal vesicles)
एवं
पौरुष ग्रंथि
(Prostate gland)
] इनकी क्षीणता (छोटी हो जाना)

शिश्न अविकसित रह जाना।
शिश्न उत्तेजित न हो पाना।
धैर्य साहस–अभाव वा अत्यल्प प्रमाण।
मेदोवृद्धि, अस्थि पुष्टि ( हिजड़ों की प्राय: टाँगें बड़ी बड़ी होती है।)

इ. परिणाम दिखायी देते हैं।

शुक्रवह स्रोत(Seminal vesicles) बाँध देने से–पुंबीज (Sperms) उत्पत्ति क्षीण होकर बन्द हो जाती है।

अन्त:शुक्र की रासायनिक संरचना } स्त्री शुक्र सदृश ही होती है।

अन्त: शुक्र मूलत: वृषणों में ही निर्मित होता है। फिर उसका धातुपाक होकर विभिन्न द्रव्यों की निर्मिति होती है, जो मूत्रमार्ग से शरीर के बाहर निर्गमित कर दिये जाते हैं।

इन धातुपाक द्रव्यों को (Metabolites) Androgens कहा जाता है ये 'अँन्ड्रोजेन्स' पुरुष मूत्र की ही तरह स्त्री मूत्र में भी पाये जाते हैं।

**प्राचीनोक्त ओज एवं अन्त: शुक्र–**

ओज —— पर ओज /प्रधान ओज (शुक्रसंबद्ध)
└── अपर ओज/अप्रधान ओज। द्राक्षाशर्करा। (Glucose)

शुक्रस्य सारमोज: अत्यन्त शुद्धतयाऽस्य मलाभाव:।

–अ.सं.शा. ६

(ओज यह शुक्र का मल) कफ: पित्तं मल: खेषु प्रस्वेदो नख रोम च
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामीजो धातूनां क्रमशोमला:।

अ० हृ० शा० ३

(ओज यह शुक्र का उपधातु) .............तथैवौजश्च सप्तमम्।
इति धातुभवाज्ञेया: सप्ते उपधातव:।

–शां.सं.पू. ५

(ओज यह शुक्र का तेजोभूत सूक्ष्म-स्नेह भाग) तत: (शुक्रात्) पुन: पच्चमानात् उपमलोनोत्पद्यते
सहस्त्रोऽध्मात् सुवर्णवत् स्थूलोभाग: शुक्रमेव
सूक्ष्मस्तेजोभूतमोज:।

–सु.सं.सू १४:– डल्हण

शुक्रं तु ओजो जनकत्वाद् धात्वन्तर्गतमेव।

इन सबका ही यही अर्थ निकलता है कि ओज यह अन्त:शुक्र है।

स्त्री यौवन काल–१० से १८ वर्ष उम्र में।

व्यक्तिभिन्नत्व
शीतोष्ण प्रदेश
शीतोष्णाहार
जीवन यापन की विशेष
पद्धतियाँ

{ इ० भिन्नता के अनुसार
विभिन्न स्त्रियों में
भिन्न उम्र में तारूण्यागम।

अपरिपक्वास्था में प्रत्येक स्त्री बीज (ovum) } छोटे-छोटे कोषों से अभिव्याप्त { जिन्हें बीजपुट (Fillicle) कहा जाता है।

रजोदर्शन पूर्व (Before menstruation) आर्तव प्रवृत्ति शुरू होने पर तथा { प्रत्येक आर्तव प्रवृत्ति के पूर्व (Before every menstoual cycle)

कुछ बिजपुट विकसित वा परिपक्व (matured) होने लगते हैं।

बिजपुट विकसित होकर } अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों में परिवर्तित होता है। { तब उसे (Grafian Follicle) कहते हैं।

प्रत्येक आर्तव प्रवृत्ति } के पूर्व { बीजपुट विकसित एवं परिपक्व होने लगते हैं। इनमें पूर्ण परिपक्व एक ही होता है।

परिपक्व बीजपुट } के मध्य स्थान में { अवकाश (शून्य प्रदेश) उत्पन्न हो जाता है, जिसमें द्रव होता है।

विकास प्रारंभ होने के } दस दिनपूर्व { बीजपुट वा कवच } फटकर उसमें से (Rupture) { स्त्रीबीज (ovum) बहार छलक पड़ता है

इस प्रक्रिया को बीजोत्सर्ग (Ovulation) कहते हैं।

बीजोत्सर्ग होने के उपरान्त स्त्री बिजविरहित उस बीज पुट में कुछ परिर्वतन होकर –एक धन पीतवर्ण कोष पुञ्ज तैयार होता है, जिसे बीजपुट किण (Corpusleuteum) कहते हैं।

बीजपुट से बाहर छिटका हुआ स्त्री बीज फिर बीजवाहिनी में (Fallopian tube) पहुँचता है। संभोग समय में (at the time of sexual intercourse) इसकी पुंबीज से यदि संमूर्च्छना (शुक्र-आर्तव संयोग) हो गयी–

—तो गर्भस्थापना हो जाती है।

किन्तु पुंबीज से यदि इसका संयोग न हो पाया तो बीजपुट किण १२ से १४ दिन पुष्ट होकर तदुपरान्त क्षीण हो जाता है और यदि गर्भस्थापना हो गयी तो बीजपुटकिण संपूर्ण गर्भावस्था पर्यत यथास्थित रहता है।

बीजपुट अन्त:स्राव को } Oestrin कहा जाता है।

तथा उसके समान क्रिया एवं गुणयुक्त } द्रव्यों को { Oestrogen कहते हैं।

Oestrin तथा Oestrogen } के कारण { गर्भाशय अन्त: कला पुष्टि संपादित होती है। रक्तनलिकायें रक्तापूरित रहती है। कफ ग्रंथियों की वृद्धि, गर्भाशय चेष्टा वृद्धि

गर्भ स्थिति संपन्न हो जाने के } उपरान्त { प्रसूति पर्यन्त { गर्भाशय अन्त:कला पुष्ट रहती है।

गर्भ स्थिति न होने की स्थिति में } पुष्ट बनी हुयी गर्भाशय अन्त:कला { क्षीण होकर मृत हो जाती है, जिससे इसमें संचित रक्त बाहर आने लगता है। यही मासिक स्राव या आर्तव है। (Menstrul discharge) है।

Oesterogen के प्रभाव के कारण } रजोदर्शन काल में (During Menstruation) { स्त्रियों के स्तन पुष्ट एवं तने हुये बन जाते हैं। (यह प्रक्रिया हर आर्तव काल में) (During every menstrual cycle

बीजपुटकिण से होने वाला स्त्राव { Projesteron (Luteal Hormone) L.H./Projestin } कहलाता है

इसी के कारण गर्भाशय पुष्टि एवं कफग्रंथि स्राव } अव्याहत रूपेण होता है। } जिससे गर्भपोषण कार्य संपन्न होता है।

वृषण ग्रंथि अन्त:स्त्राव की तरह ही अन्त:फल स्रावों का प्रर्वतन पोषणिका ग्रंथि अग्रिमखंडीय (Ant. Lobe of pituitory gland) दो स्त्रावों के कारण संपादित होता है।

**बीजग्रंथि {अन्त:फल (Ovaries) }**

अग्न्याशयवत् उभयत: स्रावी ग्रंथि —
- बहि:स्राव — स्त्री बीज (Ovum)
- अन्त:स्राव — अन्त:शुक्र

स्त्री बीजावरण से तथा गर्भिणि में अपरा (Placenta) से स्रावित।

स्त्री बिज (Ovum) यह सावरण होता है।
अन्त:फल (ovaries) यह इसका आश्रय स्थान।
" " शस्त्र क्रिया से अन्तफल-निकाल देने पर स्राव भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अन्त:फल सार सूचिवेध शरीर में प्रक्षेपित कर देने पर लुप्त हुये कर्म पुन: प्रकट दिखायी देते हैं।

अन्त:फल अन्त: स्राव का { गर्भधारण के लिये { गर्भाशय को तैयार करने का तथा यदि गर्भधारण संपन्न न हुयी तो पुर्ववत् आर्तव प्रवृति करवाना।

जन्म समय में { प्रत्येक स्त्री शिशु में } प्रत्येक अन्त:फल में स्त्रीबीज विद्यमान। { तकरीबन ७०,०००

अन्त:फल अन्त:स्त्राव के कारण } स्त्री में तारुण्य सुलभ परिवर्तन Secondary Sexcharacters { नेत्रों में लज्जा, स्वर में मार्दव, नितंब पुष्ट, स्तन पुष्ट, हर, माह आर्तव प्रवृत्ति होना, गर्भाशय एवं योनि की पुष्टि जननेन्द्रिय स्थान में बाल आना इ.

स्त्री पुरुषों में यौवन काल में उपास्थत होने वाला बहि: व अन्त: शुक्र प्रादुर्भाव। (लैंगिक परिपूर्णता Sexual maturity )

पोषणिका (पियूष) ग्रंथि के (Pituitory gland) अग्रीम खंडीय (Ant. Lobe) दो स्त्रावों पर अवलंबित। पोषणिका ग्रंथि का यह अग्रिम खंड शस्त्र क्रिया से निकल देने पर वृषण ग्रंथि बीजग्रंथि तथा लिङ्गद्योतक अन्य अवयवों की परिपूर्णता अवरुद्ध हो जाती है। तथा हर्ष एवं काम वासना भी नष्ट हो जाती है।

ऐसी स्थिति में पोषणिका अग्रीम खंडीय सत्व सूचिवेध से शरीर में प्रक्षेपित करने पर पुन: पूर्ववत् स्वास्थ्य स्थिति हो जाती है।

## शुक्राग्नि/आर्तवाग्नि

आयुर्वेद ने शरीरस्थ प्रत्येक धातु की उसकी अपनी-अपनी एक-एक अग्नि निर्देशित की है।

आयुर्वेदोक्त शुक्राग्रिका { पोषणिक अग्रीम खंडीय [वृषण ग्रंथि प्रवर्तक/ आर्तव ग्रंथि प्रवर्तक अन्त:स्राव से (Gonadotropic Harmone)] साम्य दिखायी देना है

आयुर्वेदोक्त आर्तवाग्निका- ''   ''   ''   ''।

पुरुष के प्रत्येक शुक्रोत्सर्ग में तकरीबन २० से ३२ करोड़ पुंबीज (Sperms) विद्यमान। इनमें से हर एक पुंबीज गर्भ स्थापना कार्य के लिए क्षम होता है। (Capable to form pregnancy)

किंतु स्त्रियों में–हर महिने { क्रमश: वाम वा दक्षिण अन्त:फल में से } केवल एक ही स्त्री बीज

प्रजोत्पादन के लिये समर्थ रहता है।

गर्भावस्था- पूर्वार्ध में Progesterin स्त्राव } अति आवश्यक

↓

इसी के कारण गर्भस्थिति धाग्य रखा जाना तथा आर्तव प्रवृत्ति रोध } यह सब संपन्न हो पाता है।

गर्भावस्था उत्तरार्ध में } -अपरा के द्वारा (placenta) } Progesteron स्राव { प्रभूत मात्रा में किया जाने लगता है तथा बिजपुटकिण क्षीण होने लगता है।

गर्भिणी के मूत्र से बीजग्रंथि प्रवर्तक दोनों अन्त:स्राव प्रवृत्त होते रहते हैं।

गर्भस्राव न हो पाये इसलिये } गर्भिणी के मूत्र में { ऐसे बीजग्रंथि प्रवर्तक अन्त:स्राव पाये जाना } यह गर्भिणी होने का प्रमाण माना जाता है (Pregnancy test)

उम्र की ३४ से ५० वर्ष की अवस्था में } आर्तव निवृत्ति हो जाती है। (Menapause)

विभिन्न स्त्रियों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में (in different ages) यह आर्तव निवृत्ति होती देखी जाती है। अन्त:फल क्षीण होकर उसके स्राव क्षीण हो जाते हैं। पोषणिका ग्रंथि के अग्रिम खंडीय (Ant. Lobe of pituitory gland) स्त्री बीज प्रवर्तक स्राव को प्राचीनोक्त आर्तवाग्नि माना जा सकता है।

❖

# थायमस ग्रंथि

उरोस्थि (Sternum) पार्श्व भाग में यह स्थित। बच्चों में यह बड़ी होकर बढ़ती हुयी उम्र के साथ-साथ यह क्षीण होती जाती है, (अथवा कुछ लोगों में यह बाद में भी अस्तित्व में रहती हुयी दिखायी देती है।)

शरीर पोषण तथा शरीर को परिपूर्णता प्रदान करना } इन कार्यों के लिये { थायमस स्राव उपयोगी

किन्तु–

स्त्री-पुरुष बीज ग्रंथि के } विकास कार्य में { थायमस के स्राव के कारण प्रतिरोध उत्पन्न।

इस ग्रंथि को शरीर से शस्त्र क्रिया द्वारा निकाल दिये जाने पर शीघ्र बीज ग्रंथि परिपूर्णता संपादन कार्य।

❖

# पोषणिका (पीयूष) ग्रंथि

## (Pituitory Gland) (Master Gland)

आज्ञा कन्द (Thalamus) के अधोभाग में तथा शंख्वास्थिके पोषिणिका खात में

(Pituitory fossa, Sella Turcica) } एक डंडे पर लटकती स्थिति में स्थित { मटर के आकार की यह छोटी सी ग्रंथि

आकार छोटा सा होते हुये भी { इसके स्राव बहुसंख्य होकर समस्त महत्वपूर्ण कार्यों का संपादन करने वाले } अति महत्वपूर्ण।

यह छोटी सी ग्रंथि वास्तवत: दो अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों का समूह होती है। एक ग्रंथि के रूप में स्थित–

इन दो ग्रंथियों की रचना
इनके स्त्राव गर्भ स्थिति में इन
दोनों ग्रंथियों का मूल
} इन सभी में विभिन्नता होती है।

इसके कुल चार भाग होते हैं।

- इनमें २ प्रमुख —
  - अग्रिम खण्ड (Anterior lobe) — मुख्यविवर का ही एक अंश होता है।
  - पश्चिम खण्ड → (Posterior Lobe) — नीचे के भाग में गया हुआ मस्तिषक का विस्तार होता है। इसमें नाड़ीकोष नहीं रहते किन्तु यह नाड़ीभूमि से ही (Neuro glia) बना हुआ।

शरीर में स्थित } अन्य समस्त ग्रंथियों के उद्दिपन का (Stimulation) } का कार्य { इसके स्राव करते रहते हैं।

तथा शरीरस्थ महत्पूर्ण कार्य इसके स्त्रावों पर ही अवलंबित।
अत: इसे सर्वश्रेष्ठ ग्रंथि (Master gland) कहा जाता है।

१. बृंहण स्राव का विशेष प्रभाव — अस्थिवृद्धि कार्य पर।
इस स्त्राव की अल्पता से– वामनत्व (Dwarfism)
इस स्त्राव के आधिक्य से– दानवकायत्व (Gaintism)

२. बीज ग्रंथि प्रवर्तक अन्त:स्राव — ये दो। क्रमश: स्त्री-पुरुष बीजग्रंथियों के अन्त:स्त्रावों के लिये उत्तेजक एवं पुष्टिकर। स्त्रीबीज एवं पुंबीजों की पुष्टि

| | |
|---|---|
| | करने वाले तथा अन्त:शुक्र का उद्दीपन करने वाले। |
| ३. दुग्ध प्रवर्तक अन्त:स्राव | अन्त:फल अन्त:स्राव क्रिया के कारण स्तन ग्रंथियों में दुग्धप्रवृत्ति। |
| | पोषणिका ग्रंथि के अन्त:स्त्राव के कारण दुग्धक्षरण कार्य संपन्न होता है। |
| ४. चुल्लिका प्रवर्तक अन्त:स्राव | इनके कारण चुल्लिका ग्रंथि पुष्टि का कार्य संपन्न होता है तथा उसकी कार्य प्रवणता को उत्तेजना प्राप्त होती है। |
| ५. परिचुल्लिका प्रवर्त्तक अन्त:स्राव | परिचुल्लिका ग्रंथि को पुष्टि प्रदान करना। |
| | परिचुल्लिका ग्रंथि को कार्य क्षमता प्रदान करना। |
| ६. धातुपाक प्रवर्तक अन्त:स्राव | प्रमुखत: कर्बोज वा पिष्टमय पदार्थ (Carbohytdrates) तथा अल्पत: स्नेह धातु पाक कार्य में इस स्त्राव का महत्वपूर्ण कार्य। यह 'इन्सुलीन' का प्रति योगी स्वरूपीय स्त्राव। |
| ७. अधिवृक्क वल्क प्रवर्तक अन्त:स्त्राव | शरीरस्थ अधिवृक्क वल्क भाग को पुष्टि प्रदान करना। अधिवृक्क वल्क स्त्राव प्रवर्तनार्थ उत्तेजना प्रदान करना। |
| ८. मूत्ररेचनीय अन्त:स्त्राव | अग्रीम खंडीय यह स्त्राव मूत्र का विरेचन कार्य कराने वाला तो इसके विपरीत पश्चिम खण्डीय स्त्राव 'मूत्र रोध' कार्य का संपादन कराने वाला। |

पोषणिका ग्रंथि (pituitory gland) } का प्रभाव { शरीर पुष्टि, प्रजनन, गर्भधारणा, गर्भ पोषण } इन अतिमहत्वपूर्ण शरीर क्रियाओं पर संपादित होता रहता है।

पोषणिका ग्रंथि अग्रिम खण्डीय स्त्राव —
- बृंहण वा पुष्टिवर्धक स्त्राव (Growth Harmone)
- बीजग्रंथि प्रवर्तक अन्तःस्त्राव (Gonadotropic Harmone)
- दुग्ध प्रवर्तक अन्तःस्त्राव (Lactogenic Harmone)
- चुल्लिका प्रवर्तक अन्तःस्त्राव (Thyrotropic Harmone)
- अधिवृक्क वल्क प्रवर्तक अन्तःस्त्राव (Adrenotropic Harmone)
- परिचुल्लिका प्रवर्तक अन्तःस्त्राव (Parathyrotropic Harmone)
- धातुपाक प्रवर्तक अन्तःस्त्राव (Metabolic Harmone)
- मूत्र विरेचनिय अन्तःस्त्राव (Diuretic Harmone)

पोषणिका नियंत्रण– प्रायः यह एक प्रतिसंक्रमित स्वरूपीय वा प्रतिक्षिप्त क्रिया (Reflex action) लगती है।

प्राणदा नाड़ी के (Vagus nerve) केन्द्रिय छोर को उद्दीपित कर (stimulation) रक्त में पोषणिका के स्त्राव प्रकट हुये दिखायी देते हैं। रतिभाव के कारण (sexual emotions) इस ग्रंथि क्रिया में वृद्धि हुयी दिखायी देती है।

अग्रिम खण्ड (Ant. lobe) } का स्त्राव क्षीण हो जाने से अथवा शस्त्र क्रिया से निकाल दिये जाने पर { अस्थि वृद्धि रोध, जिससे वामनत्व (Dwarfism) (समस्त ऊँचाई सिर्फ ३-४ फीट ही रह जाती है।)

वामन (Dwarf) —
- तेजस्वी सुंदर बालक की तरह कान्तियुक्त - बुद्धिमान } (आयुर्वेदोक्त 'वामन')
- असुंदर-आलसी निद्रालु शरीरांगों पर स्रियोचित अति मेद संचिति।

**पोषणिका ग्रन्थि पश्चिम खंडीय स्राव**

- रक्तभार वर्धक अन्तःस्राव (Pitressin) इस स्राव के कारण संभवतः Adrenaline के रक्त भार वृद्धि कार्य को उत्तेजना प्राप्त होती होगी।
  पशुओं में Pituitrin सूचिवेध से धमनी संकोच संपादित होकर रक्त चापवृद्धि किंतु मनुष्यों में ऐसा दिखायी नहीं देता।
- मूत्र संग्रहणीय अन्तःस्राव (Antidiuretic Harmone) Pituitrin सूचिवेध से मूत्र प्रमाण-ह्रास अतः ही उदकमेह विकार में (Dibetes Insipidus) इसके सूचिवेध का प्रयोग।
  पश्चिम खंडीय स्त्रावाल्पता या शस्त्र क्रिया से पश्चिमखंड निकाल दिए जाने से
  → मूत्र प्रमाण वृद्धि उदक मेह। प्राकृत स्थिति में वृक्कस्थ मूत्र विस्त्रावी स्त्रोतसों द्वारा जब पुनर्ग्रहण (Reabsorption) क्रिया का इस स्त्राव के द्वारा नियंत्रण।
- गर्भ प्रवर्तक अन्तःस्त्राव(Pitocin/Oxytocin) - गर्भाशय का संकोच संपादित कर गर्भनिष्क्रमण क्रिया करवाता है।
  अधिक मात्रा में दिये सूचिवेध से गर्भाशय विर्दीणता की आशंका।
- रेखाहीन-इच्छातीत (Involuntary/Plain/Smooth) मांस सूत्रों पर क्रिया कारक अन्तःस्त्राव अन्त्रादि रेखाहीन मांस सूत्रों पर इस स्त्राव के कारण संकोचक प्रभाव।
- उभयचर (जलचर एवं थलचर)(Amphibia) रंजक कोषों पर प्रभावकारी अन्तःस्त्राव-Pituitrin अत्यल्प सूचिवेध से त्वचा काली पड़ जाती है। (त्वक्‌रंजक कोष (Melanin) स्थूल हो जाने के कारण)। अतः ही इस स्त्राव की अल्पता में त्वचा पीली पड़ जाती है।
- कर्बोज धातु पाक प्रवर्तक अन्तःस्त्राव-इससे रक्तस्थ शर्करा प्रमाण वृद्धि।(Hyperglycaemia) अग्न्याशय के 'इन्सुलीन' इस स्त्राव के यह विपरीत गुणीय।

अस्थिवृद्धि पूर्ण रूपेण संपन्न होने की उम्र के पूर्व यदि संपादित हुआ

↓

दानवकायत्व (Gaintism)
(अस्थिवृद्धि अति शीघ्रगति से होकर)

अस्थिवृद्धि पूर्ण रूपेण संपन्न होने की उसके बाद यदि संपादित हुआ।

↓

लम्बाई नहीं बढ़ती किन्तु समग्र अस्थिवृद्धि होने लगती है नीचे का जबड़ा तथा हाथ पैरों की हड्डियों में सर्वत: वृद्धि संपादित। अत: जबड़े बड़े-बड़े नासिका स्थूल इस तरह बेढव विद्रुपाकार। (Achromegaly) चुल्लिका प्रकोपक अन्त:स्त्राव प्रकोपण से न्यूनतम धातुपाक के कारण भी इस तरह की वृद्धि संपादित।
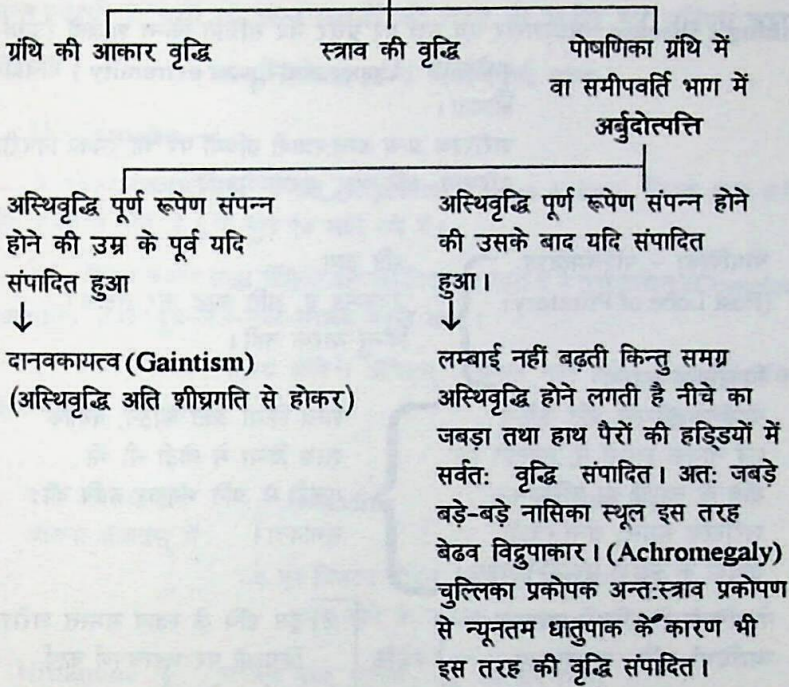
आयुवेदोक्त अस्थिसार विवेचन में– दानवकायत्व तथा अस्थिप्रान्तवृद्धि(Achromegaly) का निर्देश प्राप्त होता है।

आयुर्वेदोक्त जन्मबलप्रवृत्तव्याधि वर्णन में– वामनत्व (Dwarfism), पंगुत्व (Cretinism) - इ. का निर्देश उपलब्ध होता है।

इस ग्रंथि की विकृति के कारण } बालकों में { Progeria नामक विकार।

अकाली बुढ़ापा → त्वचा पर झुर्रियाँ अकाल में बाल पकना।
अकाल में बाल झड़कर टक्कल पड़ जाना।

पोषणिका अग्रीम खण्ड नाश वा अग्रीम खण्ड स्त्रावाल्पता के कारण } (Simmond's disease) { शरीरान्तर्बाह्य कोष ह्रास, बीजग्रंथि क्षीणता, पुंसत्व-स्त्रीत्व गुणनाश, बन्ध्यत्व(Sterility), पेशीशिथिलता, विस्मरण, अंग दौर्बल्य, सिरा शिथिलता इ०।

**Cushing's Disease** –मध्यशरीर एवं मुख पर प्रचुर मेद संचिति किन्तु शाखायें (ऊर्ध्व-अधोशाखा (Upper and lower extremity) बीजग्रंथि क्षीणता।
शरीरस्थ अन्य अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों पर भी इसका विपरीत परिणाम–अतितृष्णा, उदक-मेहादि लक्षण।

पोषणिका - पश्चिमखण्ड (Post Lobe of Pituitory) विकृति के कारण } अति तृषा, उदकमेह इ. अति कष्ट कर लक्षण। किन्तु मारक नहीं।

पोषणिका स्थिति अति कठिन एवं नाजुक स्थानों में, तद्वतही इस ग्रंथि के स्त्रावों का परिणाम शरीरस्थ समस्त अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों के स्त्रावों पर होने वाला। } शस्त्र क्रिया अति कठिन, क्योंकि शस्त्र क्रिया में थोड़ी सी भी गलती से अति भंयकर हानि की संभावना।

पोषणिका विकृति से उत्पन्न व्याधियाँ अति कृच्छ्रसाध्य } क्योंकि
१) इस ग्रंथि के स्त्राव समस्त शरीर क्रियाओं पर महत्वपूर्ण कार्य करने वाले।
२) इस ग्रंथि के स्त्राव शरीरस्थ अन्य समस्त ग्रंथियों के स्त्रावों पर प्रभाव करने वाले।
३) इस की स्थिति (situation) अति नाजुक स्थान में, अत: शस्त्र क्रिया की बारीक सी गलती से भी भयानक हानि की संभावना।

पोषणिका ग्रंथि के अन्त:स्त्रावों का परिणाम शरीरस्थ समस्त अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों पर तथा शरीरस्थ धातुपाक क्रिया पर संपादित होने वाला } और इसीलिये { 'आयुर्वेदोक्त धात्वग्नि' से इसका साम्य बैठाया जा सकता है।

## अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों के अन्तःस्त्रावों की तरह ही शरीर पर परिणा कारक

## –आधुनिकोक्त अन्य महत्वपूर्ण द्रव्य–

### Histamine—

ये अवश्य ग्राह्य ॲमिनो ॲसिडस्, (Essential Amino Acids), जिनके द्वारा शरीर पुष्टि संपादित होती है। ये कुल १० माने गये हैं।

१. जिनमें अवश्य ग्राह्य ॲमिनो ॲसिडस् विद्यमान रहते हैं वे पूर्ण प्रथिन (Complete Proteins) उदा–दूध-अंडे-मांस-मछली यकृत आदि।

२. जिनमें अवश्य ग्राहय ॲमिनो ॲसिडस् विद्यमान नहीं होते। वे अपूर्ण प्रथिन Incomplete Proteins)

दसों अवश्यग्राह्य ॲमिनो ॲसिडस् में — Histadine यह एक होता है।
→ का विघटन होकर इसमें से अंगाराम्ल ($Co_2$) पृथक् होने के बाद Hidtsmine बन जाता है।

Histamine के द्वारा { शरीस्थ बृहत् भागीय केशिकाओं का (Capillaries) { विस्तार किया जाता है।

= शरीरस्थ संचारी रक्त का बहुत बड़ा भाग केशिकाओं में आ जाता है।

इसके कारण रक्त दाब न्यूनता उत्पन्न। (Hypotension)

→ जिससे (Shock) द्वारा मृत्यु की संभावना।

दग्ध रुग्णों में - (Burn Case) { मृत्यु का कारण { दग्ध स्थानों में { Histamine एवं तत्समान द्रव्य उत्पन्न होकर उसका रक्त द्वारा शरीर में संचार हो जाना होता है।

**Histamine** का विघटन **Histaminase** नामक **Enzyme** } होता है

इनके कारण शरीरस्थ (**Histamine**) का स्वरूप नाश संपादित किया जाता है।

इस प्रकार **Histaminase** के कारण { Histamine के विपरीत कार्य संपादन से शरीर रक्षा का कार्य संपन्न होता है।

**Histaminase** नामक यह **Enzyme** } वृक्क एवं आंत्र में } विशेष रूप से होता है।

" → त्वचा स्थान में - अनुपस्थित रहता है। इसीलिये शरीर में Histamine की विपरीत क्रिया (Reaction) त्वचा पर विशेष परिलक्षित होती है।

" के कारण { आमाशय रस एवं आंत्ररस क्षरण } उद्दीपित होता है तथा रक्तचाप वृद्धि (Hypertension) -संपादित होता है।

प्राकृत मलों को आयुर्वेद ने शरीर धारक - शरीरोपकारक तथा धातुओं की तरह महत्वपूर्ण माना है।

**Histamine** – निर्मिति शरीर में व्यायाम के कारण संपादित होती है।

**Histamine** जैसे मूलभूत द्रव्यों की क्रिया-आंत्ररसक्षरण इ. के विषय में विचार करने पर नव्य मत से भी मलों की शरीरोपकारकता का एहसास हो जाता है।

इससे भी महत्वपूर्ण उदाहरण इस विषय में अंगाराम्ल ($CO_2$) का लिया जा सकता है।

अंगाराम्ल यह मलस्वरूप ही है, किन्तु उसके द्वारा श्वसन केन्द्र का उद्यिपन (**Respiratory stimulant**) ही संपादित होता रहता है।

तक्राम्लभी– मूलभूत स्वरूपीय विकारी द्रव्य ही है। किन्तु योनिमार्ग में प्राकृतिक रूपेण उसका होने वाला क्षरण बाह्य संक्रमण से(**infection**) योनिमार्ग का (**Cervix**) संरक्षण कार्य ही संपन्न करता रहता है।

आयुर्वेद ने योनिसंक्रमण की स्थिति में (infected cervix) तक्र उत्तरबस्ति का किया हुआ विधान इस विषय में प्राचीनों की सूचकता का स्पष्ट परिचय कराता है।

– –आयुर्वेदीय क्रिया शारीर-वैद्य रणजित राय देसाई–

ॲनाफायलेक्सिस (Anaphylaxis)

शरीर के लिये असात्म्य स्वरूपीय } प्रोटिन { शरीर में प्रविष्ट हो जाने से } शरीर में Histamine निर्मित

→ इसके कारण तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न (Anaphylaxis)।

१. मस्तिष्कगत केशिका विकास (Dilatation of Capillaries) के कारण उस स्थान में रक्तवृद्धि जिसमें तीव्र शिरः शूलोत्पत्ति।

२. त्वचा पर शीतपित्त उभार वा चकत्ते (Rashes)

३. हृद्रव (Palpitations)

४. मूर्च्छा (Unconsciousness)

५. मृत्यु।

आयुर्वेद ने शीतपित एवं श्वास रोग में } प्रोटीन युक्त 'शिम्बीधान्य' एवं मांसाहार } वर्ज्य कहा है।

→ यह उन प्राचीन आयुर्वेद मनीषियों का द्रष्टापन ही मानना होगा।

अधिवृक्क ग्रंथिस्त्राव Adrenaline हिस्टॅमिन क्रिया विरोधी गुणीय (Antihystaminic) } होता है।

आयुर्वेदोक्त वातिक शिरोरोग (शिरः शूल) — यह हिस्टॅमिन अथवा तत्समान द्रव्यों के कारण होने वाले मस्तिष्कगत केशिका विस्तार के कारण उत्पन्न विकार होना चाहिये-ऐसा लगता है।

अग्निविकृति इ० कारणों से अन्वर्थतः वायुरूप द्रव्यों की उत्पत्ति तथा वृद्धि होकर आध्मान-अधोवात प्रवृत्ति इ. उत्पन्न लक्षणों से हिस्टॅमिन का ज्ञान होता है।

इन वायुरूप द्रव्यों के साथ ही साथ भौतिक शास्त्र की दृष्टि से वायुरूप 'हिस्टॅमिन' आदि द्रव्यों की भी उत्पत्ति एवं प्रसर होकर शिरोरूजादि रोग उत्पन्न होते हैं।

--'आयुर्वेदीय क्रियाशरीर'–वैद्य रणजितराय देसाई--

**अैसेटिल कोलीन**

शरीरस्थ वातनाड़ियाँ (Nerves) उनके अंकित अवयवों पर प्रत्यक्ष रूपेण (Direct) कार्य न करते हुये एक रासायनिक माध्यम के द्वारा उनके अपने कर्मसम्पादनार्थ प्रेरित करती हैं। यह रासायनिक द्रव्य अॅसेटिल कोलीन ही होता है।

Choline नामक द्रव्य से { Acetylcholine द्रव्य की उत्पत्ति होती है।

Acetylcholine द्रव्य का } क्रियाविरोधी द्रव्य (Antidote) } Atropine ही होता है।

स्वतंत्र नाड़ी संस्था के कन्द (Ganglions) } सुषुम्ना के (Spinal Cord) { बायीं तथा दाहिनी तरफ } मालाकार रूप में स्थित होते हैं।

→ नाड़ीकोष सदृश पुंज होते हैं, जिनमें मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से उत्पन्न नाड़ीसूत्र } समाप्त होते हैं।

→ इनसे निकले हुये नाड़ीसूत्र इनके वशवर्ति इन्द्रियों तक पहुँचते हैं।

इच्छाधीन पेशीस्थ (Voluntary Muscles) नाड़ियाँ (Nerves) प्राणदा (VaGus Nerve) इ. नाड़ियों में जाने वाले पश्चिम कन्दीय सूत्रों में (Post-ganglionic fibres) में वेगों का वाहन

→ इस Acetylcholine से ही संपादित किया जाता है।

Acetyl choline के उत्पत्यर्थ } द्राक्षाशर्करा (Glucose) एवं सुधा calcium } -अनिवार्य स्वरूपीय होते हैं।

Choline तथा Acetyl choline } की क्रिया { परिस्वतंत्र नाड़ी संस्था की क्रिया की तरह ही होती है।

अर्थात् हृत्क्रिया मन्द करना धमनियों का विकास (Dilatation of arteries) कनीनिका संकोच(Contraction of Pupils) शरीरस्थ ग्रंथियों को स्त्राव करने के लिये उद्यिपित करना आदि।

**Acetyl Choline** की गणना कफवर्गिय द्रव्यों में।

आयुर्वेदोक्त साधक पित्त → आधुनिक क्रियाशारीरोक्त Adrenaline की क्रियाओं से साधर्म्ययुक्त।
↓
हृदयावरक कफ को दूर करने वाला।
यह ,, ,, आधुनिक शरीरक्रियोक्त Acetylcholine ही होना होना चाहिए ऐसा लगता है।

Acetyl choline की क्रिया → परिस्वतंत्र नाड़ी संस्था क्रियाओं के सदृश।

दोनों के परिणाम स्वरूप → रस धातु सम्यक् निर्माण कार्य। हृद्गति सम(Normal) रखी जाती है, जिससे रस धातु योग्य प्रमाण में हृदय में पहुँच पाकर कफस्थान कफपोषण क्रिया सुस्थिति में रखी जाती है तथा धातुपाक जन्य विषों को (त्याज्य-हानिकर पदार्थ) ग्रहण किया जाता है।

**Acetyl choline** का अन्न रस संबंद्ध संपादित किया जाने वाला यह कार्य उसका प्राचीन आयुर्वेदोक्त अवलंबक कफ से साम्य दर्शाता है।

# धातु

शरीर धारण कार्य जिनके द्वारा संपादित किया जाता है। } उन सबको → धातु कहा जाता है।

**"धारणात् धातवः" इस कथन के अनुसार आयुर्वेदोक्त रसादि सप्तधातु शरीर का**

धारण करते हैं। 'धातु' शब्द की इस परिभाषा के अनुसार प्राकृत स्थितियुक्त शरीरस्थ मल भी इस अर्थ में धातु ही कहलाते हैं।
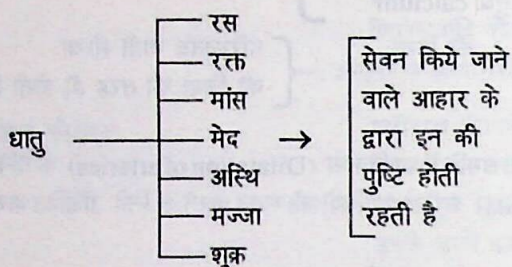
शरीर में रस का परिभ्रमण किस तरह संपादित होता रहता है—इसको समझाने के लिये सुंदर एवं समर्पक उपमा दी हुयी दिखायी देती है।

आग की ज्वाला में (लपटें)
अथवा
पानी की लहरों की तरह } शरीरस्थ रस { समस्त शरीर में भ्रमण करता रहता है।
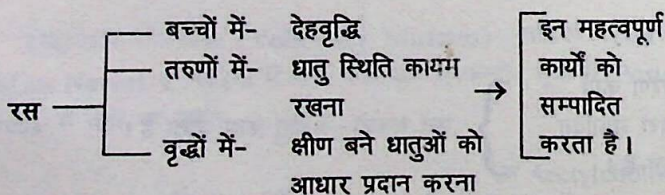
शरीरस्थ समस्त अवयव तथा

दोष<br>धातु } → के समस्त आशय इनमें रस भ्रमण शुरू रहता है।<br>मल

देह प्रीणन (तुष्टि करना)।<br>सन्धियों का स्नेहन। } रस धातु के द्वारा संपादित कर्म<br>शरीर की सामर्थ्य कायम रखना।

गर्भिणि में रस के तिन भाग होकर { एक भाग से गर्भ का पोषण।<br>दूसरे भाग से माता के स्तनों में दुग्ध पूरण।<br>तीसरे भाग से माता का पोषण। } ये कार्य संपादित किये जाते हैं।

तुष्टि<br>पुष्टि } यह प्राकृत रस धातु के द्वारा ही संभव।<br>उत्साह

कफ<br>लसिका } रस के मल।

शरीर में रस प्रमाण-९ अंजलि।

रक्त –

यह मांसपूर्व तथा रसोत्तर धातु। शरीर में इतना महत्वपूर्ण कि

'रक्तं जीव इति स्थिति'-<br>(Blood is Life) } इन शब्दों में इस की महिमा गायी गयी है।

आहार रस से तैयार हुआ रस धातु } देह प्रीणनार्थ { जब शरीर में भ्रमण करता है } तब { यकृत-प्लीहा स्थानों में जाने पर रंजक पित्त का उस पर कार्य होकर उसे रक्तत्व प्राप्त।

रस धातु पर } रक्ताग्नि की क्रिया होकर } पोष्य रक्त (स्थूलरक्त) शरीरस्थ रक्त धातु से मिल जाता है।<br>पोषक रक्त (सूक्ष्मरक्त) अगले धातु की अर्थात् मांस धातु की निर्मिति (पुष्टि)।

रक्त यह पंचभूतात्मक:–

| | | |
|---|---|---|
| विस्रागंधिता | (पृथ्वी) | |
| द्रवत्व | (अप्) | पंचमहाभूतों के पाँचों गुण रक्त में विद्यमान अत: ही रक्त को पंचभूतात्मक कहा गया है। |
| लाल रंग | (तेज) | |
| गति | (वायु) | |
| लघुता | (आकाश) | |

विस्रता द्रवता राग: स्पन्दनं लघुता तथा
भूम्यादीनां गुणाह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते।

–सु०सं०सू० ११

इन्द्रगोप कीड़े की तरह लाली युक्त रक्त का वस्त्र पर पड़ा हुआ धब्बा धोने से निकल जाता है।

रक्त न ज्यादा पतला होता है और न ज्यादा गाढ़ा।
" " उष्ण " " शीत।

इन गुणों से युक्त रक्त प्राकृत रक्त।

रक्त के गुण { शरीरस्थ पित्तदोष के समान } और इसीलिये { शरीरस्थ पित्तदृष्टि का परिणाम } { रक्त पर सर्वप्रथम होता हुआ देखा जाता है।

रक्त यह { शरीरस्थ दश प्राणायतनों में (शरीरस्थ प्राण वा जीव के दश महत्पूर्ण स्थान) } एक महत्वपूर्ण घटक माना गया है।

रक्त को शरीर का मूल माना गया है।
रक्त शरीर धारण का कार्य करता है।

किसी गंभीर आघातादि से } उत्पन्न भीषण रक्तस्त्राव की स्थिति में { रुग्ण के प्राण बचाने की खातिर { एकमात्र उपाय त्वरित रक्तदान (Immediate Blood Transfusion)

व्यान वायु के द्वारा } हृदय से { रस धातु की ही तरहरक्त धातु का भी } अव्याहत रूपेण प्रक्षेपण किया जाता रहता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| इस रक्त के माध्यम से | अन्तःस्रावी ग्रंथि, मस्तिष्क, फुफ्फुस (फेफड़े (Lungs) यकृत (Liver) तथा अन्य शरीर भागों को | आहार रस, अन्तःस्रावी ग्रथियों के रस, ओषजन ($O_2$) इ० का प्रदाय किया जाकर | शरीर को कार्यक्षम रखा जाता है |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| इस रक्त के माध्यम से ही | युरिया, युरिक एसिड, अंगाराम्ल ($Co_2$) | इ० ऊर्जा निर्मित कार्य में तैयार हुये मल | यकृत फुफ्फुस वृक्क | ई० को पहुंचा कर |

उन के उत्सर्जन (Excretion) इ. के द्वारा शरीर निर्मल-कार्यक्षम-स्वस्थ रखा जाता है।

शरीर पेशियों को (Cells) रक्त का अबाध रूपेण होने वाला प्रदाय खंडित हो जाना उन पेशियों का नाश ही साबित होता है।

| | |
|---|---|
| १) सिरा<br>२) कंडरा | **रक्त के उपधातु।** |

पित्त–यह रक्त का मल। शरीर में रक्त प्रमाण-८ अंजली।

## मांस धातु–

सप्तधातुओं में से यह तीसरा महत्पूर्ण धातु।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| पोषक रक्त पर | मांसाग्नि की क्रिया | संपादित होकर | उससे | पोष्यमांस पोषकमांस | की निर्मिति |

पोषकमांस → से अगले धातु मेद की उत्पत्ति।

**पोष्यमांस**– शरीरस्थ मांस से मिल जाता है और इस तरह मांस धातु की पुष्टि करता है।

**मांस कार्य**– मांस के कारण शरीर को विशिष्ट लुभावना आकार प्राप्त।

मांस के बिना शरीर भयानक अस्थिकंकाल मात्र। अस्थिकंकाल पर मांस धातु का लिम्पन कार्य।

**स्नायु बन्धनों के कारण** –

| | | |
|---|---|---|
| अस्थि एक दूसरे से उत्तम रूपेण संधानित होकर | आघात क्षमता, भार वहन क्षमता, विभिन्न क्रियाकरत्व | इ० संभव हो पाता है। |

हृदय, वृक्क, यकृत, गर्भाशयादि } शरीरान्तर्गत महत्वपूर्ण इन्द्रियों का { बाह्य आघात से संरक्षण } मांस के द्वारा ही संभव।

रक्त धातु पर { वात एवं अग्निकी } क्रिया संपन्न होकर { रक्तधातु को घनत्व प्राप्त होकर } मांस धातु की निर्मिति होती है।

मांस के विकार—पेशी एवं स्नायु

मांस का स्नेह - वसा

मांसाहारी व्यक्ति- उत्तम क्रियाक्षम, आघात क्षम, कष्टसाही, उत्तमरोग क्षमता युक्त (Immunity) } होते हैं।

परिश्रमशीलता, व्यायामादि से } मांस धातु को { पुष्टि एवं उत्तम क्रिया[illegible]रत्व } प्राप्त होता है।

मेद—

त्वचा, वसा } मेद के उपधातु

कर्ण, नेत्र, नासा, जननेन्द्रिय, मुख

↓

स्थानीय स्निग्धता

↓

मेद का मल होती है।
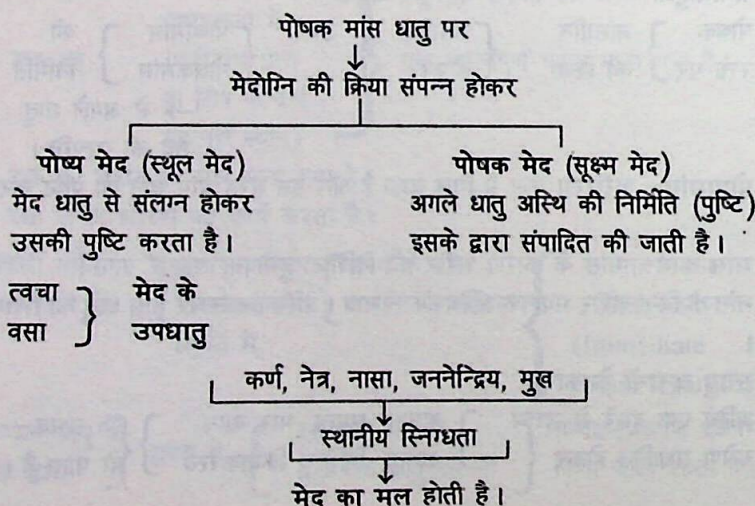
वृक्क
वपावहन
कटि
} मेदोवह स्त्रोतस मूल।

मेद यह स्निग्ध गुणीय होने के कारण } शरीरबल, मृदुता, सुकुमारता, संधि-स्निग्धता, संधियों की क्रियाक्षमता } ये क्रियाये मेद की प्राकृतता पर अवलंबित।

-अपरिश्रम
-शरीर को अवास्तव् सुख प्रदान करना।
-अतिमधुर
अति स्निग्ध } पदार्थो का अतिसेवन।
-अति सुख
-चिन्ता-शेकादिका अभाव

— मेद की अवास्तव वृद्धि {स्थौल्य (Obesity)} मेदोदुष्टि। इ० उत्पन्न।

शरीर में अवास्तव रूपेण बढ़ा हुआ मेद अप्राकृत बन जाता है।

गाल
गला
उदर
नितम्ब
छाती

— इन स्थानों पर मेदोतिवृद्धि के कारण शरीर को बेढब-असुंदर आकार प्राप्त हो जाता है।

मेद अतिवृद्धि-के कारण {
श्रमासहत्व
भीरुता
व्यवायकष्टता
रक्तचापवृद्धि (Hyper tension)
शरीर बेडौल-कुरूप
} → आदि उत्पन्न होकर शरीर अनेकानेक कष्ट एवं दुखों का स्थान बन जाता है।

## अस्थि धातु-

पोषक मेद धातु पर
↓
अस्थ्यग्नि की क्रिया संपादित होकर

पोष्य अस्थि (स्थूल अस्थि)
शरीरस्थ अस्थि धातु की पुष्टि करता है।

पोषक अस्थि (सूक्ष्म अस्थि)
अगला धातु मज्जा की निर्मिति (मज्जा पुष्टि)

पोषक मेद धातु के ऊपर } अग्नि एवं वायु की } क्रिया संपादित होकर } मेद को सच्छिद्रता एवं घनत्व प्राप्त होकर } अस्थिधातु की निर्मिति होती है।

प्राणी शरीर को उसका अपना विशिष्ट शरीराकार (शेर कुत्ता-हाथी-बिल्ली-बन्दर-आदमी इ.) प्रदान करना-अस्थि द्वारा संभव हो पाता है।

अस्थि धातु शरीरस्थ समस्त धातुओं में सबसे ज्यादा स्थायी स्वरूपीय होता है।

ऊपर के त्वचा-मासांदि के स्तर निकाल दिये जाने पर उस शरीर का अस्थिकंकाल (Skeleton) खुला पड़ जाता है।

मस्तिष्क (Brain)
मज्जारज्जु (Spinal Cord)
हृदय–फुफ्फुस } इ. महत्वपूर्ण प्राणाधार स्वरूपीय इन्द्रियों की रक्षा } अस्थियों के कारण ही संभव हो पाती है।

उठना-बैठना
दौड़ना-काम करना
चबाना-लिखना, मारना } → इ. अनेकानेक शरीर क्रियायें अस्थिसंधियों के कारण ही संभव हो पाती है।

भारवहन, आघात सहन क्षमता, शरीर को टिकाऊपन (स्थिरता) } → अस्थियों के ही कारण संभव।

अस्थियों के मध्य भागीय रिक्तस्थान में मज्जा-(Bonemarrow)नामक अति महत्वपूर्ण शरीरोपकारक पदार्थ होता है, जिसमें रक्त पेशियों की (RBC) निर्मिति होती रहती है।

लंबाकार, गोल
चपटी, छोटी
अनियमिताकार (Irregular shape) } → इ. विभिन्न आकार की अस्थियाँ शरीर में विभिन्न भागों में स्थित होती है।

अस्थि धातु { पार्थिव-नाभस भूत प्रधान होता है।

केश
लोम
नाखून
श्मश्रु } → अस्थिधातु के मल

**मज्जा धातु–**

मज्जा धातु की उत्पत्ति मज्जावह स्त्रोतसों में होती है।

अस्थि
एवं } मज्जावह स्त्रोतस का मूल
सन्धियाँ

पोषक अस्थि धातु पर
↓
मज्जाग्नि एवं वायु का कार्य होकर
↓
मज्जा धातु उत्पन्न

| | |
|---|---|
| पोष्य (स्थूल) मेद | पोषक (सूक्ष्म) मेद |
| (शरीरस्थ मज्जा धातु की पुष्टि) | शुक्र धातु की उत्पत्ति (पुष्टि) करता है। |
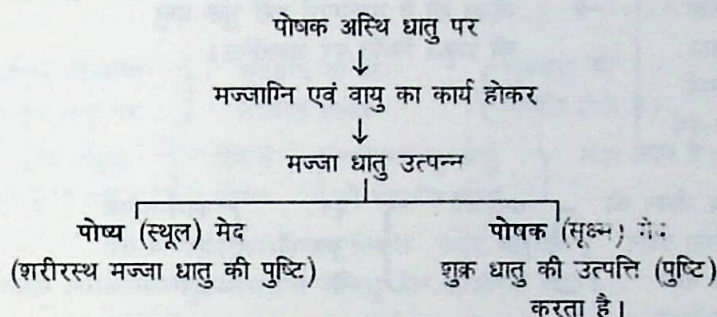
अस्थिपूरण → मज्जा का प्रधान कार्य।

अस्थिमध्य रिक्त स्थान में स्थित मज्जा
↓
अस्थियों को स्निग्धता प्रदान कर मजबूत (आघात क्षम) रखती है।
↓
स्नेहहीन अस्थियों में भंगुरता उत्पन्न हो थोड़े से आघात से
अस्थिभंग। (Fracture)

शरीर की कार्य क्षमता अर्थात् विभिन्न क्रियायें अस्थियों पर अवलंबित और अस्थियों की कार्यक्षमता मज्जाधातु की प्राकृतता पर अवलंबित रहती है।

आधुनिक शारीरक्रिया विज्ञान के अनुसार रक्तस्थ लाल पेशियों (R.B.C.) की निर्मिति इस मज्जा द्वारा ही की जाती है। मज्जाधातु से शरीरस्थ अति महत्वपूर्ण शुक्रधातु की निर्मिति की जाती है।

इस प्रकार { शरीरस्थ मज्जा धातु } रक्त एवं अस्थियों को } बल प्रदायक साबित होता है

अत: शरीर में मज्जा का क्षय गंभीर-प्राणधातक माना जाता है।

नेत्रस्थ स्निग्धता
एवं } मज्जा धातु के मल
त्वक्स्थ स्नेह

## शुक्र धातु--

सप्त धातु प्रक्रिया का आयुर्वेदोक्त अंतीम धातु शुक्र को माना गया है।

बल
तेज
उत्साह
व्यवाय
सामर्थ्य
सुख-हर्ष
→ जीवन की ये महत्वपूर्ण बातें शुक्र धातु की प्राकृत स्थिति पर अवलंबित।

मानव जीवन को सफलता प्रदान करने वाले } धर्म अर्थ एवं काम } इन पुरुषार्थो में { काम नामक पुरुषार्थ को अनन्ययसाधारण महत्व

काम-सुख हर्ष } संपादित होने के लिये { उत्तम शुक्रधातु की अनिवार्यत: जरूरत रहती है।

उत्तम स्थितियुक्त शुक्रधातु से ही } महत्वपूर्ण ओजो धातु की } निर्मिति { जो समस्त धातुओं का सार अथवा तेज होता है।

ओजस्तु तेजो धातुनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिन् तिष्ठति तिष्ठति।

-अ०हृ०सू० ११

पुनर्जनन वा पुनरूत्पत्ति } यह प्रक्रिया { प्राणियों का अस्तित्व कायम रखने के लिये { अनिवार्य होती हैं।

→ तथा पुनर्जनन क्रिया संपादित होने के लिये शुक्रधातु अनिवार्यत: जरूरी होता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार आहार रस तैयार होने के आठवें दिन→ शुक्र धातु की निर्मिति होती है।

-(पराशर)

महर्षि चरक एवं आचार्य सुश्रुत } आहार रस तैयार होने के तीस दिनों के उपरान्त { शरीर में शुक्रधातु की उत्पत्ति संपादित होती है।

जिस तरह घृत यह दूध के अणुरेण में व्याप्त होता है, उसी तरह शरीरस्थ कणकण में शुक्र की उपस्थिति होती है।

दही बिलौने की क्रिया से मथे जाने की उस प्रक्रिया में-उसके कण-कण में व्याप्त मक्खन एकत्र आ जाता है, उसी तरह संभोग-हर्षण के समय में शरीरस्थ अणुरेणुओं में व्याप्त यह शुक्र कर्षित किया जाकर जननेन्द्रिय (लिङ्ग-**Penis** ) के द्वारा निर्गमित हो जाता है।

पोषक स्वरूपीय मज्जा धातु पर } शुक्राग्नि की क्रिया संपादित होकर { शुक्रधातु की निर्मिति होती है।

समस्त धातुओं का सार रूप } होने के कारण { शरीरस्थ शुक्रधातु को साररूप धातु } कहा जाता है।

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगंधिच्
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैल क्षौद्रनिभं तथा।

-सु०सं०शा० २

किसी मिट्टी के पात्र से (मटका इ.) उसके अनगिनत सूक्ष्म छिद्रों से जैसा पानी चूता रहता है। तद्वत ही मज्जा से शुक्रवह स्त्रोतों से शुक्रधातु चूता रहता है।

वृषण एवं शेफस् (लिङ्ग) (**Penis**) } ये शुक्रवह स्त्रोतस के → **मूलस्थान**

→ किन्तु शुक्रोत्पत्ति सक्ष्म रूप में समस्त शरीर में ही सम्पादित होती रहती है।

शुक्रं शरीरे शुक्रधरां कलामाश्रित्यं स्त्रुतम्
सर्वाङ्ग व्यापितया स्थितं विशेषेण मज्ज मुष्क स्तनेषु च।

-अ०सं०शा० १

विशेषस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते
सर्वदिहस्थितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्चते।

-सु०सं०नि० १०

तदेव चेष्ट युवते दर्शनात् स्मरणादपि
शब्द संश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते।

-सु०सं०नि० १०

शुक्र-शोणित जीवसंयोगस्य गर्भ संज्ञत्वम्।

**स्त्री शुक्र–**

स्त्री शरीस्थ गर्भोत्पादक क्षमतायुक्त } आर्तवांश को { स्त्री शुक्र के नाम से संबोधित किया गया है।

मासानुमासी (हर महिने) शरीर से (योनिमार्ग से) बाहर पड़ने वाला।–आर्तव

यही बहि:पुष्प भी कहलाता है।

गर्भाशस्थ गर्भशय्या की योग्य शुद्धि करने का कार्य आर्तव द्वारा हर माह सम्पादित किया जाता रहता है।

सूक्ष्म रूप में शरीर में निर्मित होकर शरीर के बाहर निर्गमित न होते हुये शरीर में ही रहता है, · तथा जो प्रत्यक्ष में दिखायी नहीं देता किन्तु शुक्र-शोणित संयोग में सहभागी होकर गर्भोत्पत्ति का कारण बनता है, वही स्त्री शरीरस्थ अन्त:पुष्प कहलाता है।

बाह्य आर्तव की } सामान्य स्थिति अथवा दुष्टि { इसी अन्त:पुष्प पर अवलंबित रहती है।

बाह्यार्तव के दुष्टि लक्षण देखकर इस अन्त:पुष्प वा स्त्री शुक्र के दुष्टि की कल्पना आ जाती है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार स्त्री शुक्र यह गर्भोत्पत्तिका कारक नहीं होता।

संभोग समय में हर्षोद्रेक से योनिस्थान में जो स्निग्ध-श्लक्षण स्त्राव होता है वही स्त्री शुक्र होता है। गर्भोत्पत्ति के लिये कारणीभूत यह स्त्री शुक्र न होकर आर्तव होता है।

→ **इन मतावलम्बियों के अनुसार आर्तव यह सातवाँ तथा शुक्र यह आठवाँ धातु है।**

स्त्रियों में आठ आशय विद्यमान होते हैं उसी की तर्ज पर इन मतावलम्बियों ने शरीरस्थ धातु भी आठ ही मानें हैं। स्त्री शुक्र (योनि स्थानीय-संभोग हर्षस्थिति में-स्त्रावित स्निग्ध स्त्राव)

**दुष्टि के कारण–**

व्यवाय कष्टता
योनि रूक्षता
व्यवाय कार्यार्थ
उदासीनता
योनिशूल

→ इ. लक्षण (इन मतावलम्बियों के अनुसार) उत्पन्न होते हैं।

❖

# ओज

शुक्र यह शरीर में समस्त धातुओं का साररूप। सप्त धातुओं का उत्तम तेज वा सत्व रूप ओज होता है।

शरीर में ओज का मुख्य स्थान } हृदय होता है { तथा यह ओज { शरीर में समस्त अंगोपाङ्गों में व्याप्त होता है।

बल
तेज
कार्यशक्ति
देह स्थिति
—— शरीरस्थ शुक्र पर ही अवलंबित।

ओज यह जीवन धारक कहलाया गया है।

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रन्तानां परं स्मृतम्
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थिति निबन्धनम्

-अ०हृ०सू० ११

रसीदानां शुक्रान्तानां यत्परं तेजस्तत्खल्वोज:।

-सु०सं०सू० १५

सोमात्मक (चन्द्रवत् शीतल एवं उपकारक)

ओज यह
- स्वच्छ-शुद्ध — (किंचित रतिमा-पीतता युक्त वा श्वेतवर्णीय)
- मृदु-श्लक्ष्ण स्निग्ध — शरीरावयवों को स्थिरता-स्निग्धता कार्यक्षमता प्रदान करने वाला।

ओज में प्राणों का निवास।

ओजं सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्
विविक्तं मृदुं मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्।

-सु०सं०सू० १५

ओज
- पर - (अष्टबिन्दुज-स्थान-हृदय)
- अपर - (अर्धाञ्जलि प्रमाण-श्लेष्मरूप स्थान-समस्त शरीर)

(ओजक्षय के लक्षणों का वर्णन इसी अपर ओज के क्षय के विषय में होता है।)

क्योंकि

हृदयस्थ अष्टबिदुंज ओज के एकाध बिंदु मात्र के क्षय से भी केवल प्राणनाशही हो जाता है।

**यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिन् तिष्ठति तिष्ठति।**

-अ०हृ०सू० ११

कुछ विद्वानों के अनुसार - **ओज यह शुक्र का मल।**

इनके अनुसार → शुक्र धातु के दो घटक

गर्भोत्पादक (सार) | ओजोत्पादक (मल)

किन्तु वास्तव में ओज यह समस्त धातुओं का साररूप ही होता है।

→ इस पक्ष के विद्वानों के मतानुसार → शुक्र का मल ओज को मानना सर्वथा अयोग्य है।

इनके अनुसार → शुक्र यह स्वयं समस्त धातुओं का साररूप होने के कारण उसका मल कैसे बन सकता है ?
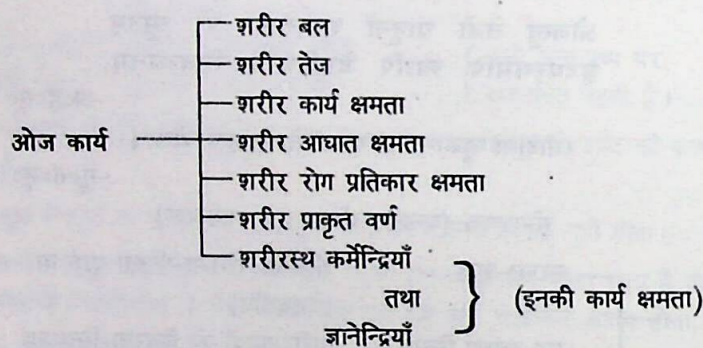
समस्त सृष्टि पंचभूतात्मक मनुष्य आहार लेता है, वह भी पंचभूतात्मक ही होता हैं।

भक्षित पंचभूतात्मक आहार का जाठराग्नि के द्वारा पचन होने के उपरान्त → शरीरस्थ उन-उन महाभूतों की अग्नियाँ स्वगुणीय आहारांशों का पचन कर उनसे स्वयं का पोषण करती हैं।

| उदा-शरीरस्थ पार्थिवाग्नि वा भौम्याग्नि | आहारस्थ पार्थिव अंश पर कार्य संपादित कर | उसका पचन कर उससे शरीरस्थ पार्थिवांशों का पोषण करती है। |
|---|---|---|

शरीर यह रस रक्तादि सप्त धातुओं से निर्मित। भक्षित आहार से इन धातुओं का अविरत रूपेण पोषण होता रहता है। जिससे- पुष्टि-शक्ति, वर्ण-सुख, आयुष्यादिकी प्राप्ति होती रहती है।

| | |
|---|---|
| उत्पत्ति<br>एवं<br>क्षय प्रक्रिया | शरीर में → अव्याहतरूपेण शुरू रहती है। |

उसके अनुसार धातुओं में भी हर समय क्षय प्रक्रिया संपादित होती रहती है तथा हर समय आहार के कारण उस क्षय की पूर्ति कर देने का कार्य संपादित होता रहता है।

धातु ही धातुओं का आहार होते हैं। जो धातु जिससे निर्मित होता है उसका वही आहार होता है।

उदा–मांस धातु का आहार रक्त

तो रक्त धातु का आहार रस होता है।

इसीलिये किसी कारण वश शरीरस्थ रक्त का क्षय हो जाने पर रस का रक्त बनने की प्रक्रिया से वह क्षतिपूर्ति कर ली जाती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| धातुनिर्मिति में<br>तैयार होने वाले | धातुमलों से | लोभ<br>केश<br>नख<br>श्मश्रु | इ० का<br>पोषण होता<br>रहता है। |

जब-जब भी किसी कारण वश किसी धातु में वृद्धि वा क्षय संपादित हो जाता है, तब-तब तद् गुणयुक्त वा तद् विपरित गुणयुक्त आहार योजना एवं अन्य उपाय योजना से धातु की उस वृद्धि वा क्षय का उपाय किया जाना अनिवार्य हो जाता है।

धातुवृद्धि अति प्रमाण में हो जाने पर (उदा-मेदोवृद्धि) तद् विपरीत गुणीय आहारादि की योजना कर उस अति वृद्ध धातु का ह्रास कर उसे साम्यावस्था में लाना जरूरी हो जाता है, अन्यथा उससे स्वास्थ्य में बिगाड़ पैदा होना या रोगोत्पत्ति हो जाती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| वातादि<br>त्रिदोष भी | उनकी प्राकृत-<br>(अविकृत) स्थिति में | देह धारण<br>करने का ही कार्य | संपन्न करते<br>रहते हैं। |

और 'धारणात् धातव:' -इस न्याय से ऐसी स्थिति में शरीरस्थ इन त्रिदोषों को भी धातु संज्ञा दी हुयी दिखायी देती है।

शारीर स्थान अ० ६ में महर्षि चरक ने धातुओं के २/२ प्रकार वर्णित किये हैं। उसके अनुसार जो प्राकृत शारीर व्यापार में अवरोध पैदा करते हैं उन्हें 'मल' कहा गया है।

| वातादि शरीरधारक दोष भी | प्रकुपित अवस्था में जब प्राकृत शरीर धारणा कार्य में | अवरोध पैदा करने वाले हो जाते हैं | तब उन्हे भी इस स्थिति में मल कहा गया है। |
|---|---|---|---|

शरीर स्वास्थ्यार्थ मलों की शुद्धि की जाना अनिवार्य हो जाने से मलस्वरूप दुष्ट दोषों के शोधनार्थ शोधन चिकीत्सा का निर्देश किया गया है।

**ओज की गणना अलग रूप से क्यों ?**

रसादि सप्त धातुओं में स्थित उनका उत्कृष्ट अंश यही ओज माना गया है, जिसका प्रधान कार्य प्राणधारण कहा गया है, और इसीलिये उसकी गणना अलग रूप से की गयी दिखायी देती है।

**यद्यप्योजः–सप्तधातु सार रूपं तेन धातु ग्रहणेनैव लभ्यते तथापि प्राणधारण कर्तृत्वेन पृथक् पठितम्।**

–च०सं०सू० २८– चक्र०

**ओज यह धातु नहीं उपधातु है।**

ओज का अंतर्भाव उपधातुओं में किया गया है। शरीर का धारण जो करता है → वह धातु।

ओज शरीर का धारण करता है किन्तु यह कार्य अल्प रूप में होता है। मांस–भेद–अस्थि इ. की तरह वह शरीर का पोषण नहीं करता।

धारण करने के कार्य में धातुओं से किंचित् साम्य होने के कारण उसे उपधातु कहा गया हैं।

**ए चौजः उपधातु रूप केचिदाहुः। धातुर्हि धारण–पोषण योगात् भवति, ओजस्तु देहधारकं तदपि न देह पोषकं तेन नाष्टमो धातुरोजः।**

–च०सं०सू० ३०–चक्र

**पर–अपर–ओज–**

**अष्ट बिन्दुज ओज → यह पर वा प्रधान ओज।**

**अर्धांजलि प्रमाण ओज→ यह अपर वा अप्रधान ओज।**

↓ ↓

यही मधुमेह (Dibetes Mellatus) में मूत्रमार्गेण उत्सर्जित होता है। शास्त्र में वर्णित ओज क्षय के वे लक्षण इसी ओज क्षय के।

आधुनिकोक्त 'Glycogen' ही प्राचीनोक्त अपर ओज।

हृदयाश्रित अष्टबिन्दुज } पर वा प्रधान ओज का { एक भी बिन्दु नष्ट हो जाना } मृत्यु ही साबित होता है।

१. प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिता।
२. प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा वैकृतो मल उच्यते। सः चैवोजः स्मृतः काये।
३. तथापीह सार्वधातुसार मोजोमभिधीयते।

-च०सं०सू० ३०- चक्र०

कुछ विद्वानों के मतानुसार शरीरस्थ रस धातु ही ओज होता है।

## आधुनिक शारीर क्रिया दृष्टि से–ओज :–

पोषणिका (पियूष-Pituitory Gland) ग्रंथि से सर्व धातुपोषक पीयूष सदृश (अमृतवत्) अन्तःस्राव स्त्रावित होते हैं। अतः

शरीरस्थ इस ग्रंथि को → योगियों ने { 'अमृतस्त्रावकर चंद्र मंडल' यह संज्ञा प्रदान की हुयी दिखायी देती है।

आयुर्वेदोक्त ओज यही होना चाहिये यह आचार्य गणनाथ सेन का विचार है।

**सम्यक् विचार्य परिक्षितं च तदभ्यन्तरं पिच्छिल वस्तुगर्भान् कोषान् प्रकटि करोति तेभ्यश्च कोषेभ्यः स्त्रवति सूक्ष्मों रसः सुधा सदृशः। तस्य सूक्ष्मैः सिरा जालकैः शोणित स्त्रोतसि प्रवेशः सर्वधातु पोषणाय। अत एवास्य 'सुधास्त्रावी सोम मण्डलम' इति योगीनां व्यपदेशः। प्राचाम् ओजः संज्ञः पदार्थश्च एव प्रतिभाति।**

-आचार्य गणनाथ सेन

किन्तु पोषणिका ग्रंथि के तो अनेक स्राव होते हैं। ये सब स्राव एक ही गुणधर्म के तो हैं ही नहीं तो उल्टे वे परस्पर विरोधी गुणधर्मिय होते हैं।

अतः आयुर्वेदोक्त ओज से इन स्त्रावों की तुलना किस हद तक योग्य हो सकेगी-यह एक प्रश्न ही है।

पोषणिका ग्रंथि के स्त्रावों की समानता आयुर्वेदोक्त धात्वग्नियों से दिखायी जा सकती है।

पोषणिका ग्रंथि के स्त्रावों की साम्यता आयुर्वेदोक्त धात्वग्नियों के साथ निश्चित रूपेण कही जा सकती है।

अपर ओज वर्णन वर्तमान क्रियाशारीरोक्त 'ग्लाइकोजेन' के समान ही दिखायी देता है।

आचार्य चक्रपाणि ने भी मधुमेह में मूत्रमार्ग से उत्सर्जित होने वाला (द्राक्षाशर्करा Glucose) पदार्थ ही अपर ओज है-ऐसा कहा है।

मधुमेह रोग के निदान वर्णन में-जिसका रस मधुर होता है; जो समस्त धातुओं के लिये प्रसादभूत होता है, वह ओज जिस विकार में मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाता है उसे मधुमेह कहते हैं–ऐसा वर्णन किया हुआ दिखायी देता है।

**ओज: पुनर्मधुर स्वभावं तद्यथा रौक्ष्याद् वायु: कषायत्वेणाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभि वहति तदा मधुमेहं करोति।**

-च०सं०नि० ४

मधुमेह में अग्न्याशय के(Pancreas) एक अंश विशेष के विकार के कारण द्राक्षाशर्करा का (Glucose) शरीर में उपयोजन करने की (Utilisation of Glucose in - Body tissues) शक्ति मन्द हो जाती है, जिससे शरीर में अनुपयोजित द्राक्षाशर्करा मूत्रमार्ग से शरीर के बाहर फेंक दी जाती है।

यही द्राक्षाशर्करा 'आयुर्वेदोक्त ओज' होनी चाहिये।

ग्लाइकोजेन { प्रधानत: पिष्टमय पदार्थों से (Carbohydrates)<br>अंशत: नाइट्रोजन विरहित प्रथिनों से (Proteins)<br>कदाचित् स्नेहों से (Fats) } उत्पन्न।

शरीरस्थ समस्त प्रकार के कार्यों में द्राक्षाशर्करा (Glucose) - ओषजन ($O_2$) से संयुक्त होकर पाक होता है।

प्राचीनों के ओजो वर्णन में →ओज के द्वारा समस्त कर्मो का एवं ज्ञान का संपादित किया जाना दिखायी देता है।

इस ओज के बिना देहस्थ अवयव स्वकर्म संपादनार्थ असमर्थ हो जाने का प्राचीनों ने वर्णित किया है।

ओज का यह वर्णन आधुनिक शारीर क्रियोक्त Gluose' वा'Glycogen से पूर्णरूप से समानता वाला है।

मधुमेह रोग में -द्राक्षाशर्करा का (Glucose) एक दम क्षय हो जाने के कारण अथवा Insulin अति मात्रा में दिये जाने से शरीर में द्राक्षाशर्करा के एकदम कम हो जाने से (Hypoglycemia) ——→ दौर्बल्य मूर्च्छा तथा मरण भी } संपादित होता है।

**प्राचीनों द्वारा वर्णित ओज क्षय के भी ये ही लक्षण हैं।**

आयुर्वेद ने ओज का गर्भ से अतिनिकट का संबंध वर्णित किया है। गर्भ पोषण कार्य के लिये द्राक्षाशर्करा अनिवार्य रहती है।

अत: आर्तव प्रवृत्ति पूर्व एवं गर्भारंभ के महिनों में गर्भाशयकला में उसका प्रमाण बढ़ा हुआ दिखायी देता है। यह वर्णन भी प्राचीनोक्त ओजो वर्णन से साम्यता वाला ही है।

आचार्य डल्हण के अनुसार – शरीरस्थ उष्मा ही ओज होता है। इस दृष्टि से भी आधुनिकोक्त द्राक्षाशर्करा के कारण शरीरोष्मा रखे जाने के वर्णन से यह अलग नहीं हैं।

## उपधातु–

उस प्रत्येक धात्वाग्नि का कार्य होकर } आहार रस से { रसादि धातुओं की उत्पत्ति संपादित होती है।

यह धातु उत्पत्ति कार्य सम्पादित होते समय –

स्तन्यादि उपधातु एवं मल (धातुमल) } इनकी भी उत्पत्ति होती रहती है।

आहार रस पर रसाग्नि का कार्य होकर

रस धातु से { स्तन्य एवं रज } इन उपधातुओ की निर्मिति होती है।

१. स्तन्य (दुग्ध) प्रमाण २ अंजलि।

गर्भधारणा होने के उपरान्त गर्भिणि के स्तनों में दुग्धग्रंथियों में दुग्धोत्पाद का कार्य आरंभ हो जाता है।

स्तन पोषण शिशु का पोषण } स्तन्य के कार्य

२.रज (आर्तव) यौवनोत्पत्ति से (साधरणतया उम्र के १० वें से १५ वें वर्ष से) ४० से ४५ वर्ष की उम्र तक रज वा आर्तव निर्मिति स्त्री शरीर में शुरू रहती है।

हर २८ दिनों के उपरान्त } यह आर्तव { स्त्री के योनिमार्ग से { तीन से पाँच दिनों तक प्रवृत्त होता रहता है।

यही आर्तवकाल (Period of Menstruation) कहलाया जाता है।

## आर्तव कार्य–

१) स्त्री-बीज (Fertilised ovum) का वहन करना।

गर्भधारण के कार्यार्थ इसी का संयोग पुंबीज से होता रहता हैं। (ovum + Sperm)

२) गर्भाशय शुद्धि - गर्भ के लिये गर्भशय्या की निर्मिति करना।

३) सिरा
४) कण्डरा } रक्त धातु के पोषक (सूक्ष्म) अंश पर { मांसाग्निकी क्रिया होकर } मांस निर्मिति के समय { सिरा तथा कण्डरा इन उप धातुओं की निर्मिति।

५) त्वचा
६) वसा } मांसधातु के पोषक अंश पर { मेदोग्नि की क्रिया संपन्न होकर } मेदोत्पत्ति के समय { त्वचा एवं वसा } इन उपधातुओं की निर्मिति।

अ) महर्षि चरक के अनुसार षट् त्वचा।

ब) आचार्य सुश्रुत के अनुसार सप्त त्वचा।

त्वचा का आवरण समस्त शरीर पर।

अंतर्गत महत्वपूर्ण इन्द्रियों की-

धूल
मल
कीटाणुसंसर्ग } इ० से इस त्वचा के आवरण के द्वारा रक्षा की जाती है।

वसा – यह मांस धातु का स्नेह।

इस उपधातु के ही कारण शरीरस्थ स्निग्धता योग्य रूप में रखी जा सकती है।

७) स्नायु { पोषक मेद धातु पर { अस्थ्यग्नि की क्रिया संपन्न होकर } अस्थिधातु तैयार होने की प्रक्रिया में { उपधातु स्नायु की भी निर्मिति संपादित की जाती है।

## स्नायु कार्य–

शरीर की छोटी-मोटी सभी क्रियायें सुचारू रूपेण संपन्न हो सके इसलिये अनेक छोटी-मोटी अस्थियाँ परस्पर से सन्धियों द्वारा जुड़ी हुयी रहती हैं।

अस्थिस्थानीय सन्धियों को परस्पर से सन्धानित करने का महत्वपूर्ण कार्य इन अति मजबूत स्नायुओं के द्वारा किया जाता है, जिससे

भारवहन, आघात क्षमता,
मेहनत के विभिन्न कार्य } इ. के लिये सन्धियाँ इन स्नायुओं के कारण ही समर्थ बनी रहती हैं।

## विभिन्न धातुओं से विभिन्न अवयवोत्पत्ति–

१) यकृत
प्लीहा } ये रक्तसंभूत अवयव।

गर्भ में { रक्त के फेन से फुफ्फुसों की निर्मिति।
रक्त के मल से उण्डुक की उत्पत्ति। }

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणित जौ
शोणित फेन प्रभवः फुफ्फुस
शोणित किट्ट प्रभव उण्डुकः।

| | | | |
|---|---|---|---|
| रक्त एवं कफ से | वायु एवं पित्त की सहायता से | आन्त्र, गुद, बस्ति, हृदय | इन इन्द्रियों की निर्मिति होती है। |

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परोमतः
तं पच्चमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनु धावति।।
नतोऽस्यन्त्राणि जायते गुदं ब्रस्तिश्च देहिनः।

-सु०सं०सू० १५

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ३) रक्त कफ मांस | से | वायु एवं पित्त की मदद से | जिव्हा इन्द्रिय की उत्पत्ति। | |
| ४) मेद धातु से | वायु एवं पित्त की सहायता से | सिरा एवं स्नायु | निर्मित होते हैं। | |
| ५) रक्त एवं मेद से | वायु एवं पित्त की सहायता से | वृक्कों की उत्पत्ति | संपन्न होती है। | |
| ६) रक्त मांस मेद एवं कफ | से | वायु एवं पित्त की सहायता से | वृषणों की निर्मिति | संपन्न होती है |

उदरे पच्चमानाना माध्माना ह्रुक्मासारवत्
कफ शोणित् मांसांनां स्मरो जिव्हा प्रजायते।

-सु०सं०सू० १५

**शरीरस्थ मल निर्मिति—**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| जाठराग्नि का | आहार पर कार्य संपन्न संपन्न होकर | पचन क्रिया में | आहार के मल स्वरूप में | पुरीष मूत्र एवं अंधोवात | की निर्मिति संपन्न होती है। |

## पुरीष–

लघ्वन्त्र में सार-किट्ट विभाजन का कार्य संपादित होता है।

| | | |
|---|---|---|
| सार भाग | लघ्वतन्त्र स्थित शोषक भागों में (Villi) | शोषित कर लिया जाता है। |
| तथा किट्ट भाग | आत्रं में आगे-आगे ढकेला जाकर | वह बृहतन्त्र में आ जाता है। |

फिर वहाँ से (अपान वायु के द्वारा) आगे-आगे खिसकता हुआ मलाशय में (Rectum) इकट्ठा होता है और वहां से गुदमार्ग द्वारा (Anus) शरीर के बाहर उत्सर्जित किया जाता रहता है।

## मूत्र–

आहारस्थ उचित से ज्यादा द्रवांश तथा शरीर के लिये हानिकारक इस तरह के युरिया-युरिक अॅसिड जैसे द्रव्य (जो पाक क्रिया में शरीर में उत्पन्न होते हैं) वृक्कों के द्वारा मूत्र के रूप में अलग कर दिये जाते हैं।

शरीर के लिये हानिकारक साबित हो सकने वाले द्रव्य हर समय रक्त से वृक्कों द्वारा छान लिये जाते हैं (अलग कर दिये जाते हैं) और इस तरह उन हानिकारक द्रव्यों के प्रभाव से शरीर को बचाये रखा जाता है।

(ये हानिकारक द्रव्य जो वृक्कों के द्वारा अलग कर लिये जाते हैं वे शरीर में पाक-क्रिया में उत्पन्न हुये रहते हैं।)

वृक्क इन द्रव्यों को रक्त से अलग कर मूत्र के रूप में शरीर के बाहर उत्सर्जित करते रहते हैं। इसीलिये मूत्र से कभी अति प्रमाण में पित्त उत्सर्जित होता है (कामला व्याधि में) तो कभी शरीर में अनुपयोजित द्राक्षाशर्करा (Glucose) मूत्र द्वारा विसर्जित कर दी जाती हैं। (मधुमेह -Dibetes Mellatus )

वृक्क में तैयार हुआ यह मूत्र बूँद-बूँद से मूत्र की थैली में (बस्ति- Urinary Bladder ) इकट्ठा होता रहता है तथा बस्ति मूत्रापूरित हो जाने पर मनुष्य को मूत्र विसर्जन की इच्छा होकर मूत्र मार्ग से (Urethra) यह मूत्र उत्सर्जित कर दिया जाता है और इस तरह शरीर स्वच्छ एवं कार्यक्षम रखा जाता है।

क्लेद वहन–यह मूत्र का प्रधान कार्य है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| शरीरस्थ मल भी | उनकी प्राकृतावस्था में | शरीर को | उपकारक ही साबित होते हैं। |

### शरीरस्थ मल भी प्राकृत स्थिति में धातुरूप–

| | | | |
|---|---|---|---|
| वैषम्यहीन<br>अदूषित<br>प्राकृत | मलों को | उनके द्वारा शरीर धारण<br>का कार्य संपादित किया<br>जाने के कारण | 'धातु' के नाम<br>से भी संबोधित<br>किया गया है। |

### शरीरस्थ प्राकृत मलों के शरीर धारक कार्य–

**कफ एवं लसिका–**

| | | | |
|---|---|---|---|
| पोषक रस<br>धातु पर | रक्ताग्नि की<br>क्रिया के कारण | रक्तधातु की<br>निर्मिति के समय | कफ एवं लसिका<br>इन मलों की<br>उत्पत्ति होती है। |

इस (मलरूप) कफ के द्वारा–मुख की स्निग्धता रखी जाती है, जिससे बोलना-चबाना इ. क्रियायें सहजरूपेण संपादित की जा सकती है।

लसिका का कार्य भी इसी प्रकार का है (विशेष वर्णन अलग अध्याय में किया गया है।)

**पित्त**–शरीर में यकृत के द्वारा उत्पन्न किया जाता हैं। पुरानी-बेकाम बनी हुयी लाल पेशियों का (RBC) यकृत में विनाश किये जाते समय उन लाल पेशियों से यकृत द्वारा पित्त की निर्मिति की जाती है।

अग्निरस के साथ (Pancreatic Juice) महास्त्रोतसस्थ (Alimentary Canal) ग्रहणी भाग में (Duodenum) में पहुँचकर यह पित्त तत् स्थानीय अन्न में मिल जाता है।

मल-मूत्रादि को विशिष्ट रंगप्राप्ति (प्राकृत वर्ण) इस पित्त से ही संपन्न होती है।

| | | |
|---|---|---|
| कर्ण<br>नेत्र<br>नासा<br>मुख<br>लोमकूप<br>जननेन्द्रिय<br>(लिङ्ग-योनि) | → इन स्थानों<br>पर स्थित<br>मल<br>( विशेष स्निग्घता ) | उन उन इन्द्रियों को (स्व इन्द्रियों)<br>को स्निग्धता प्रदान करते हैं तथा<br>उन इन्द्रियों की कार्य क्षमता<br>कायम रखने का कार्य करते हैं। |

### स्वेद–

यह मेदोधातु का मल। मेदोधातु की निर्मिति के समय स्वेद की भी उत्पत्ति शरीर में सम्पादित होती रहती है।

'स्वेदस्य क्लेदविधृतिः'- इन समर्पक शब्दों में स्वेद कार्य सूत्र रूप में वर्णित किया गया है।

ग्रीष्म ऋतु में स्वेद की प्रवृति अधिक हो जाती है तो मूत्र प्रवृत्ति कम हो जाती है।

इसके विपरीत शीत ऋतु में स्वेद की प्रवृत्ति अत्यल्प हो जाने के कारण मूत्र प्रवृत्ति प्रमाण बढ़ जाता है।

स्वेद के द्वारा शरीर को हानिकारक साबित हो सकने वाले द्रव्यों का शरीर के बाहर उत्सर्जन कर दिया जाता है।

स्वेद त्वचा को स्निग्ध रखने का महत्वपूर्ण कार्य भी सम्पादित करता है।

स्वेद यह } मेदोधातु का मल } और इसीलिये { मेदोवृधि (Obesity) की स्थिति में } मेद के साथ ही साथ स्वेद प्रवृति भी बढ़ जाती है।

केश, लोम, नख, श्मश्रु } ये अस्थि धातु के मल } और इसलिये { अस्थि की विकृति की स्थिति में } अस्थि धातु के इन मलों में भी विकृति दिखायी देती है।

## अक्षिविट्-त्वक्स्नेह-

❖

# सार परीक्षणम्

प्रमाण एवं सार इनमें फर्क होता है।

उदा०–मेद शरीर में प्रमाण से खूब ज्यादा बढ़ जाना यह प्रकृति (आरोग्य) का नहीं तो विकृति वा व्याधिस्थिति का ही सूचक होता है।

किन्तु मेद सारत्व होना–इसका अर्थ मेद शरीर में वृद्ध न होते हुये भी उसकी शरीर में विशुद्ध स्थिति के कारण →

ऊष्मा
ऊर्जा        } निर्मिति के कार्य
स्नेहनादि

वह उत्तमरूपेण संपादित कर पाता है अमुक व्यक्ति मेदसार है। यह कहने का अर्थ यह होता है कि उत्कृष्ट मेदोधातु युक्त।

**सार शब्देन विशुद्धतरो धातुरूच्यते।**

**–च०सं०वि० ८–चक्र**

प्रकृति सारपरीक्षण का अर्थ } शरीर बल तर तमभाव का ज्ञान होना } तथा { आयु का ज्ञान (सुखायु-दुःखायु अल्पायु-हितायु आदि) योग्यरूपेण होना।

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्ग प्रमाणादय सारतः
परीक्षायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु।

-सु०सं०सू० ३५

धातु सारत्व का चिकीत्सक को } योग्य ज्ञान होने का मतलब है { उस व्यक्ति के शरीर बल उस विशेष धातु की विशेष स्थिति का ज्ञान होना होता है।

साराण्यष्टौ बलवान विशेषज्ञानार्थ मुपदिश्यन्ते।

-च०सं०वि० ८

दैनंदिन जीवन में हमारे देखने में आता है कि दुबला पतला बिल्कुल ही सामान्य शरीर स्थिति का दिखायी देनेवाला आदमी ऐसे आदमी को देखते ही देखते पछाड़ देता है तथा दबोच देता है, जो काफी तगड़ा होता है और देखने वाले लोग अचंबे में पड़ जाते हैं।

अतः शरीर की बाह्य दर्शनीय स्थिति को देखकर उसकी शक्ति का अंदाज कर लेना कई बार बहुत बड़ी गलती ही साबित हो सकती है।

मेदोवृद्धि जन्य आदमी शरीर से काफी मोटा ताजा दिखायी देता है किन्तु उसका धातुसारत्व वास्तव में बहुत ही अल्प होता है और इसीलिये वह बहुत दुर्बल होता है।

इसके विपरीत शरीर से बिल्कुल ही मामूली सा दुबला पतला दिखायी देने वाला आदमी अपने से काफी तगडे दिखायी देने वाले आदमी को दबोचकर औरों को अचंबे में डाल सकता है।

इसके लिए महर्षि चरक ने चीटी का अति समर्पक उदाहरण दिया हैं। शरीर से बिल्कुल ही छोटी सी होते हुये भी वह अपने शरीर से काफी बड़ी चीज खींचती हुयी दिखायी देती हैं।

**कथं तु शरीरमात्र दर्शनादेव भिषङ्मुह्यदयमुपचितत्वाद बलवान् अयमल्पबल: कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वाद्, अयमल्पशरीरत्वादल्प बल इति। दृश्यन्ते ह्यल्प शरीर: कृशश्चिके बलवन्त:। तत्र पीपिलिका भार हरण वत् सिद्धि:। अतश्च सारत: परीक्षेतेत्युक्तम्।**

-च०सं०वि० ७

आचार्य सुश्रुतने सारों का विपरीत क्रम देकर पूर्व पूर्व सार उत्तर-उत्तर सार की अपेक्षा आयु एवं सौभाग्य की दृष्टि से प्रकृष्ट होने का विधान किया हैं।

**एषां पूर्व प्रधान मायु: सौभाग्ययोरिति।**

-सु०सं०सू० ३५.

**सौभाग्य शब्देन च कमनीयाश्चरकेविस्तर प्रतिपादिता**
**बल सौकुमार्य धनित्वादयो गुणा ग्रहितव्या:।**

-चक्रपाणी

जिस प्रकार गर्भ की वातादि दोष प्रकृति मूलत: शुक्र-शोणित संयोग के समय माता-पिता के उस समय होने वाले उस बलवान दोष के अनुसार उस व्यक्ति के संपूर्ण जीवन पर्यन्त अपरिर्वतनीय रूपीय बनती है।

उसी तरह धातुसारत्व वा सार प्रकृति यह उस-उस व्यक्ति की विशेषता होती है, जिस पर उसका शरीर-बल-रोग प्रतिकारक शक्ति-सौभाग्यादि सभी उस व्यक्ति के संपूर्ण जीवनपर्यन्त अवलंबित होते हैं।

आयु तथा सौभाग्य की दृष्टि से } रस सार से उत्तरोत्तर धातु सार वाली शरीर प्रकृति श्रेष्ठ मानी जाती है।

अर्थात् रस सार से रक्त सार श्रेष्ठ रक्तसार से मांस सार श्रेष्ठ इ०।

एक ही व्यक्ति में यदि दो या तीन धातुओं की सारयुक्तता विद्यमान है तो वह व्यक्ति-

बल
सौकुमारत्व
आरोग्य
ऐश्वर्यादि } से संपन्न होती है।

जिस व्यक्ति में } जिस धातुसार के लक्षण { अनुपस्थित हो } उसे { उस धातु की दृष्टि से असार कहा जाता है।

जिस व्यक्ति में } जिस धातु सार के लक्षण { अल्प प्रमाण में उपस्थित हों } उसे { उस धातु की दृष्टि से अल्पसार कहा जाता है।

धातुसार की दृष्टि से व्यक्ति भेद
- सारवान
- मध्यसार
- अल्पसार
- असार

शास्त्रोक्त ३ भेद किये हुये {अल्पसार/असार यह तीसरा भेद}

१) त्वक्सार {रससार}

स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मृदु-प्रसन्न (निर्दोष) त्वचा।
प्रभायुक्त त्वचा,
लोम अल्प-मृदु किंतु गंभीर मूलयुक्त एवं सुकुमार

त्वकसार–व्यक्ति
- सौभाग्यशाली
- ऐश्वर्यवान
- सुखी
- विद्वान
- रोग रहित
- आनंद से युक्त
- दीर्घायु।

-च०सं०वि० ८.

२) रक्तसार– कर्ण-नेत्र-मुख-जिव्हा-नासा-ओष्ठ-हाथ-पैरों के तलुये-नख-मस्तक-जननेन्द्रिय

→ ये सब स्निग्ध-लालिमायुक्त-सुंदर-सुशोभित।

रसक्तसार व्यक्ति →

- उत्कृष्ट मनयुक्त
- मेधावि
- सुकुमार
- अल्पबल

क्लेश सह न पाने वाली
उष्मा असाही।

{क्योंकि रक्त यह पित्त गुणयुक्त होता है तथा उष्मा यह पित्त का प्रधान गुणधर्म होता है।}

-का०सं०सू० २७.

रक्तसार परीक्षण के विषय में विशुद्ध एवं उत्तम रक्त के गुण परीक्षक (चिकीत्सक) को विदित होना अनिवार्य होता है।

**विशुद्धरक्त परीक्षा**

दो प्रकार से

- विस्त्रावण से अथवा विस्त्रुत रक्त का स्वरूप देखकर
- आरोग्य सम्बद्ध लक्षणों के आधार से

**प्रसन्न वर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्था निच्छन्तमव्याहत पंक्तिवेगम्**
**सुखान्वितं तु (पु) ष्टि बलोपपन्नं विशुद्ध रक्तं पुरुषं वदन्ति।**
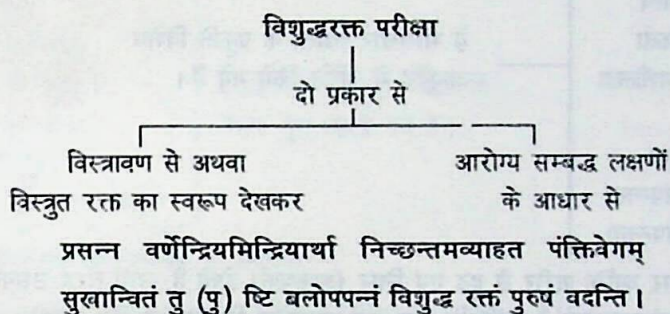
-च०सं०सू० २४.

अर्थात् वर्ण-इन्द्रिय गुण प्रसन्न (निर्मल), इन्द्रिय विषय अभिग्रहण में जिसकी अभिरूचि हो, प्राकृत अग्निबल तथा पुरीषादि मलों की प्राकृत प्रवृत्ति होती हो, जो सुख-शान्ति से युक्त हो, जिसका बल-पुष्टि {तुष्टि-संतोष} अबाध हो-

उस व्यक्ति को विशुद्ध रक्त व्यक्ति अथवा रक्तसार व्यक्ति माना जाता है।

शरीर से निसृत रक्त इन्द्रगोप कीट की तरह लाल रंग का होता है।

आधुनिकोक्त 'Plethora' तथा प्राचीनोक्त रक्तसार } में यह लक्षण दिखायी देता है। (लक्षणीय साम्य)

Plethora नामक विकृति में } रक्तकण प्रमाण (R.B.C. %) सामान्य से ज्यादा गाल इ० विशेष लाली किये हुये।

किन्तु यहाँ यह लक्षणीय है कि–आधुनिकोक्त Pethora यह विकृति है

तो प्रावीनोक्त रक्तसार–यह उत्तम प्रकृति का द्योतक कहा गया है जिसमें रक्त की उत्तमता एवं विशुद्धता होती है।

३. मांस सार- शंख-ललाट-कृकाटिका
नेत्र-गण्ड-हनु
ग्रीवा-स्कन्ध-उदर
कक्षा-वक्ष-पाणि
पाद एवं सन्धिस्थान

उत्तमरूपेण मांस से ढकी हुई तथा गुरु एवं स्थिर होती है।

क्षमाशिलता
धृतिमानता
अलोभित्व
बलयुक्तता
आरोग्यशीलता
सुख
दीर्घायुता
विद्यासंपन्नता
धन संपन्नता

ये मांससार व्यक्ति के प्रकृति विशेष आयुर्वेद में वर्णित किये गये हैं।

मांससार व्यक्ति शरीर से दृढ़ एवं स्थिर (आकषर्क) होती है, उसी तरह उसका मन भी स्थिर एवं दृढ़ होता है। {निर्णय पक्के, मन चंचल या विचलित न होने वाला}

४) मेद सार– वर्ण-स्वर-लोम-केश
दन्त-ओष्ठ-मूत्र इ० में स्निग्धता
पुरीष-स्वेद
शरीराकार बृहत् श्रमासहिष्णु,
धन-ऐश्वर्य संपन्न, सुखी
दानी-भोगशाली (विभिन्न सुखोपभोगी)
सुकुमार-सरल स्वभावी-कपटादि से रहित,

सुकुमारता के कारण कठोर उपचार सह न पानेवाला {यदि विरेचन दिया जाय तो ३-४ मल वेगों में ही वह पस्त-व्याकुल बन जाता है।}

मेदोवृद्धि (Obesity) → यह विकृति है

तो मेदोसारत्व →यह उत्तम प्रकृति का द्योतक माना जाता है। मेदसारत्व में मेद शरीर में सम प्रमाण में स्थित तथा विशुद्ध स्वरूपीय होता है।

मेदसार व्यक्ति यह मेदोवृद्धि युक्त होता है, ऐसी गलतफहमी कदापि नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मेदोवृद्धि जन्य मेद (Fat in obesity) यह दुष्ट वा अप्राकृत स्वरूपीय ही होता है।

-का०सं०सू० २८. -च०सं०वि० ८.

५) अस्थिसार–

पार्ष्णि (एडी)-गुल्फ (टखना-Ankle joint)

जानु (Knee), अरत्नी (मुट्ठी),

जत्रु (Clavicle), चिबुक (हनु), शिर,

पर्वस्थान (अंगुलियों के संधि), अस्थि, नाखून, दन्त

ये सभी स्थूलाकार एवं दृढ।

| | |
|---|---|
| उत्साह<br>क्रियाशीलता<br>क्लेश साहित्व<br>बलशालीत्व<br>दीर्घायुता<br>उत्तम आघातक्षमता | ये अस्थिसार प्रकृति व्यक्ति के विशेष गुण बताये गये हैं। |

आधुनिक क्रियाशारीर के अनुसार–

पोषाणिका {पीयूष-Pituitory} ग्रंथि के विशिष्ट स्राव(Growth Harmome) की वृद्धि के कारण

शरीरस्थ समस्त अस्थियों की अतिवृद्धि संपन्न होती है, जिसके कारण शाखास्थियों की {Bonrs of upper and lower extermities} लम्बाई बढ़ती जाती है, जिससे दानव कायत्व (Giantism) अर्थात्

सामान्य बहुत कुछ भिन्न ऊँची-ऊँची तथा अति पुष्ट शरीराकृति बन जाती है।

किन्तु दानव कायत्व यह प्रकृति नहीं बल्कि विकृति है, जो पीयूष ग्रंथि के विकृत अर्थात् अति वृद्धि Growth-Harmone के कारण उत्पन्न होती है।

तो अस्थिसार यह गुणरुप प्रकृति की विशेषता है। अतः आयुर्वेदाध्ययन करने वाले छात्रों ने यह फर्क ठीक तरह समझकर आधुनिक क्रियाशारीरोक्त वर्णन से तुलना, कर अपने ज्ञान में भ्रम का प्रवेश कदापि नहीं होने देना चाहिये।

अस्थिसार व्यक्ति दानवाकार, अति मानवी, अप्राकृत स्वरूपीय होती हैं, ऐसा वर्णन आयुर्वेद में कहीं भी-कभी भी नहीं किया गया है।

अस्थिसार व्यक्तियों की अन्यों की तुलना में ऊँचाई ज्यादा होती है (दानवाकार निश्चित ही नहीं) अन्यों की तुलना में इनकी अस्थियाँ विशेष पुष्ट होती है।

दन्त यह अस्थि का उपधातु वा उपास्थि और इसीलिये अस्थिसार व्यक्ति के दाँत (अन्यों की तुलना में) स्थूल एवं दीर्घ मूलीय होते हैं {किन्तु दानवों की तरह बहुत बड़े-बड़े बीभत्स नहीं}

६) मज्जसार– स्वर गंभीर-वर्ण स्निग्ध
स्वर स्निग्ध {रूक्ष स्वर यह कर्कश एवं फटे हुये बाँस से की जाने वाली ध्वनि के जैसा होता है}
संधि दीर्घ-स्थूल एवं वृत्त।
अंग मृदु-स्निग्ध
नेत्र विशाल
बलवान-भाग्यवान-दीर्घायु
बहुसन्तति युक्त
मान सम्मान, समृद्धि, ज्ञान विज्ञान } आदि से युक्त।

} ये मज्जसार व्यक्ति के आयुर्वेद ने विशेष दर्शाये हैं।

-च०सं०वि० ८.

| | | |
|---|---|---|
| आयुर्वेद के अनुसार | – | मज्जा यह शुक्रपूर्व धातु |
| आधुनिक क्रियाशारीरानुसार | | रक्तस्थ रक्तकणिकायें (लाल पेशियाँ- R.B.C.) तथा क्षात्र कण (WBC) इनका निर्माण इसी में होता रहता है। |

त्वचा, नेत्र, पुरीष } स्थानिय स्निग्धता यह मज्जा का मल है।

और इसीलिये मज्जसार व्यक्ति के नेत्र स्निग्ध-सुंदर होते हैं, त्वचा स्निग्ध एवं आकर्षक होती है। मल में स्निग्धता की उपस्थिति के कारण अपान प्रतिलोम नहीं हो पाता। अपान का प्रतिलोम होना-यह विकारोत्पत्तिकारक।

पक्वाशय यह वायु का उद्भव वा उप्रा प्रमुख स्थान।

अत: पक्वाशयस्थ वायु के प्राकृत रहने की स्थिति में समस्त शरीरस्थ वायु की स्थिति भी प्राकृत ही रहती है।

पक्वाशय के बाद त्वचा यह वायु का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान।

मज्जसार व्यक्ति की त्वचा में भी पर्याप्त स्निग्धता होने के कारण त्वक्स्थानीय वायु भी प्राकृत ही रहता है। {त्वक्स्थ स्नेहोत्पादक ग्रंथियाँ– (Sebaseous glands) स्रावित होती रहती हैं, जिससे त्वचा में स्निग्धता रखी जाने का कार्य संपन्न होता है।}

शिर (मस्तिष्क-मस्तक) अंतर्गत मस्तिक को भी – (Brain) प्राचीनों ने मज्जा में ही अंतर्भूत किया हुआ दिखायी देता है और इस दृष्टि से भी-

मज्जसारत्व का मतलब मस्तिष्क का उत्तम सारयुक्त होना यह भी अर्थ होता है। और इसीलिये मज्जसार व्यक्ति- विद्यवान
मेधावि
ज्ञान विज्ञान में उत्तम प्रगति से युक्त
इस तरह की होती हैं।

७) शुक्रसार

शुक्रबहुलता
स्वभाव सौम्य
विशाल-स्निग्ध-सुंदर नेत्र
काम भावना प्राबल्य
गौर वर्ण
शरीर स्निग्ध
त्वक्-नेत्र स्निग्धता
अस्थियाँ-पुष्ट-सम-दृढ़
वृत्ताकार-सुंदर
दंत दृढ़-स्थूल
नाखून सुंदर
प्रसन्न चेहरा
दूसरे पर छाप डालने वाला (Impressive)
विशाल स्फिकयुक्त
स्त्रियों को व्यववाय कर्म में तुष्टि प्रदान करने वाला
उपभोग प्रिय-बलवान-सुखी
ऐश्वर्यवान-सन्तति बहुल
आरोग्यशाली-सौभाग्य शाली

{इ० विशेषतायें शुक्रसार व्यक्ति की आयुर्वेद में प्रदर्शित की गयी हैं।}

-च०स०वि० ८.

{शुक्र को समस्त धातुओं का सार माना गया है अत: शरीरस्थ समस्त धातु प्राकृत-उत्तम स्थिति युक्त होने की स्थिति में ही शुक्र उत्तम गुण हो सकता है। अत: व्यक्ति यदि शुक्रसार है तो इसका अर्थ है उस व्यक्ति के अन्य समस्त धातु भी उत्तम स्थिति में हैं-यह मर्म समझ लेने पर ही, शुक्रसार व्यक्ति की ऊपर दर्शायी गयी विशेषताओं का मर्म समझ में आ पाता है।}

ओज–

शुक्र का उपधातु। (भिन्न मतों के अनुसार)

शुक्र का मल।

शुक्र यदि उत्तम स्थिति युक्त है तो ओज स्वरूप भी अत्युत्कृष्ट ही होगा।

इसी कारण शुक्रसार व्यक्ति में उपर्युक्त गुण परिलक्षित होते हैं।

८) सत्वसार

सत्व यह मन का गुण।
उत्तम स्मृति युक्तता
प्रज्ञाशीलता
कृतज्ञता-भाविक
पवित्रता-उत्साही
महानता (कीर्तिमान-प्रसिद्ध)
कर्तव्य दक्षता-धीर गंभीरत्व
पराक्रम-कौशल
बुद्धि की प्रखरता
कल्पनाभि निवेशित्व
उत्तम मनोबल युक्त
विषादहीनता

ये सत्वसार व्यक्ति के विशेष आयुर्वेद में दर्शाये हैं।

सत्वसार व्यक्ति प्राय: बीमार नहीं पड़ते और कभी बीमार पड़ भी जायें तो अल्पावधि में ही स्वास्थ्यलाभ कर लेती हैं।

कारण सत्व यह मन का श्रेष्ठ गुण होता है तथा मन यह शरीर का नियन्ता-प्रणेता होता है । शरीरबल इसी कारण से मनोबल पर अवलंबित रहता है।

दूसरा कारण यह है कि सत्वसार पुरुष प्रज्ञापराध नहीं करता। प्रज्ञापराधकों ही आयुर्वेद ने समस्त रोगों के लिये कारणीभूत दर्शाया है । व्याधि से शीघ्र मुक्ति न हो पाना-यह भी प्रज्ञापराध के कारण ही (अपथ्य वा कुपथ्य सेवन) संभव हो पाता है।

सत्व यह मन का प्रधान गुण/सत्व को ही मन कहा गया है। सत्वसार पुरुष अर्थात् जिसका सत्व श्रेष्ठ स्वरूपीय होता है, और इसी कारण सत्वसार पुरुष का मनोबल श्रेष्ठ होता है तथा बुद्धि अति प्रखर होने के कारण प्रज्ञापराध उसके द्वारा संपादित हो ही नहीं पाता।

मनोबल उत्तम होने के कारण अपने मामुली से दिखने वाले बाह्य आकृति से भी {Ordinary external appearance} वह ऐसे महान कार्य संपादित कर देता है कि सब आश्चर्य चकित हो जाते हैं।

सर्वसार–

सर्वसारयुक्त व्यक्ति कभी कभार अभाव से ही देखने में आ पाती है।
अति बलवान
अति क्लेशसाही
कोई भी-कैसा भी अद्‌भुत कार्य यशस्वी रूपेण कर पाने वाला।
कल्याणाभि निवेशी
स्थिर-दृढ़ शरीर तथा मन से युक्त।
गति चेष्टादि में स्थिरता।
स्निग्ध-गंभीर-विशाल हृदयी ऐसी विशेषताओं से युक्त सर्वसार व्यक्ति कहा गया है।

सर्वसार व्यक्ति–

धन-भोग-सन्मान ऐश्वर्यादि से युक्त। बुढ़ापा खूब देर से आता है तथा बुढ़ापा आने पर भी बुढ़ापे का उत्तने प्रमाण में- प्रकटिकरण (बुढ़ापे के लक्षण) न होना।

कभी बीमार नहीं पड़ता। कभी-कभार बीमार पड़ भी जाय तो बीमारी गंभीर स्वरूप धारण नहीं कर पाती तथा शीघ्र रोगमुक्त हो जाता है।

सर्वसार व्यक्ति — चिर तारूण्य, चिर स्वास्थ्य, स्थिरायु } इन विशेषताओं से युक्त।

❖

# शुक्रस्थान-समस्त शरीरः

गन्ने के अणुरेणु में मीठा रस व्याप्त रहता है-दही के अणुरेणु में मक्खन-समाया हुआ होता है-तिल के दाने के अणुरेणु में तेल व्याप्त रहता है...उसी तरह पुरुष शरीर के अणुरेणु में शुक्र व्याप्त होता है।

दही के कण-कण में व्याप्त मक्खन दिखायी नहीं देता। उसके लिये उस दही को मथने की क्रिया करनी पड़ती है, जिससे दही के कण-कण में समाया हुआ वह मक्खन बाहर निकलकर दृश्यमान होता है।

तिल के दानों में व्याप्त तेल आँखों से दिखायी नहीं देता लेकिन तिलों को घानी में पीसने के बाद वह अदृश्य तेल दृश्यमान हो जाता है।

उसी प्रकार संपूर्ण शरीर में व्याप्त तथा आँखों को दिखायी न देने वाला शुक्र

इष्ट स्त्री का दर्शन

| | |
|---|---|
| स्मरण<br>उसका स्पर्श<br>उसका चुबन-आलिङ्गन<br>संभोग इ०<br>(Sexual inter course) | इ० के समय प्रहर्षण कारणेन शरीरस्थ समस्त अङ्गपत्यङ्गों से खींचा जाकर (कर्षित होकर) मूत्र मार्ग से (Through peins) प्रवृत्त हो जाता है। |

रस ईक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा।

-च०सं०चि० ९.

यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षौ रसो यथा
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्यात् भिषग्वरः।

-सु०सं०शा० ४.

कृत्स्नं देहाश्रितं शुक्रं प्रसन्न मनसस्तथा
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् संप्रवर्तते।

-सु०सं०शा०४.

विशेषस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते
सर्वदेह स्थितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते।
तदेव चेष्टयुक्ते दर्शनात् स्मरणादपि
शब्द संश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरूच्यते।

-सु०सं०नि० १०.

# आर्तव कर्म

शरीरस्थ जीवरक्त जिस तरह जीवनोपकारक होता है उसी तरह शरीरस्थ प्राकृत आर्तव भी स्त्री शरीर के लिये उपकारक ही होता है।

गर्भोत्पत्ति करना यह आर्तव का प्रधान कर्म।

मासानु मासी (हर २८ दिनों के बाद) तीन दिन तक इसं आर्तव का विस्रवण स्त्री के

अपत्य पथ से (योनि–Vagina) होता रहता है तथा इसका गर्भोत्पत्ति से कोई संबंध नहीं होता ।

गर्भस्थिति संपन्न होने के उपरान्त } का अनिस्त्रुत आर्तव गर्भकर होता है।

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च ।

सु०सं०सू० १५.

ननुपुराणमार्तवमुपचयाद् दिनत्रयं स्त्रुत्वा स्वयमेव
विनिवृत्तं नूतनं-स्वल्पं-स्त्यानीभूतमिव प्रवर्तितु
मक्षमं तत् कथमार्तव संचारो येन तत् संसृष्टे
शुक्रं गर्भजनन समर्थ भवतीत्याशङ्क्याह घृतेत्यादि ।
पुंसां समागमे इन्द्रियद्वय संघर्ष जेनोष्मणा विलीन
मार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं
गर्भाशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभव हेतुर्भवति।

-सु०सं०शा० २. डल्हण

# पुरीष कर्म:

जाठराग्नि के द्वारा संपादित पचन क्रिया में आहार रस के साथ ही साथ आहार का धनरूप मल पुरीष होता है।

प्राकृत स्थिति में —
- वायु का धारण
- अग्नि का धारण
- देह धारण

} ये महत्वपूर्ण कार्य पुरीष के द्वारा संपादित किये जाते हैं।

प्राणियों का बल → शुक्र के आधीन

तथा

प्राणियों का जीवन → उनके शरीरस्थ पुरीष के आधीन होता है।

राज्य क्षमा व्याधि में (Tuberculosis) — अग्नि अति मंद हो जाने से पोषक तत्वों की परिणति मलरूप में हो जाती है।

और इसीलिये राजयक्ष्मा रोगी का मलरक्षण
हर स्थिति में अति आवश्यक बन जाता है।
और इसी कारण इस रोगी को अतिसार जैसी व्याधि
उसके प्राणों के लिए आफत बन जाती हैं

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं च जीवितम्
तस्मात् यत्नेन संरक्ष्येद् यक्ष्मिणो मलरेतसः।

–यो० र०

# मूत्र निर्माणक इन्द्रियाँ एवं मूत्र निर्मिति

उदरगुहा में → दक्षिणी एवं वाम } पार्श्व में → एक एक वृक्क (Kindney) होता है।

प्रत्येक वृक्क की एक-एक गविनी (Ureter) होती है।

वृक्क से निकली हुई गविनियाँ बस्ति {मूत्रथैली-Urinary Bladder } में खत्म होती है।

बस्ति में इकट्ठा हुआ मूत्र मूत्र नलिका वा मूत्र प्रसेक (Urethra) के द्वारा उत्सर्जित कर दिया जाता है।

वृक्कों में अति बारीक बारीक (पतली-Fine ) नलियों की स्प्रिंग की जैसी रचनायें होती हैं। इन्ही में मूत्र निर्मिति का कार्य संपादित होता है।

जागृतावस्था में<br>नींद में<br>दिन में<br>रात में } वृक्कों में अव्याहत रूपेण } मूत्रनिर्मिति प्रक्रिया शुरू ही रहती है।

वृक्कों में हर समय शरीरस्थ रक्त लाकर (रक्त वाहिनियों के द्वारा) छोड़ा जाता है। इस रक्त में शरीर को अपाय कारक साबित होने वाले युरिया-युरिक-ऑसिड जैसे -पाक क्रिया में उत्पन्न मलरूप द्रव्य, ज्यादा का जलीयांश इ० सर्व छान लिया जाता है, और इस प्रकार वृक्कों के द्वारा शरीरस्थ रक्त को सतत निर्मल (मल रहित)-क्रियाकारी-जीवनोपकारक रखा जाता है।

वृक्क रूग्ण स्थिति के कारण रक्त शुद्धि की यह क्रिया यदि बंद कर दें तो रक्त विषमयता के कारण मृत्यु अवश्यंभावी हो जाता है।

वृक्कों में तैयार होने वाला मूत्र अव्याहत रूपेण बूँद-बूँद से बस्ति में लाकर छोड़ा जाता है तथा वहाँ संचित किया जाता है।

बस्ति– (Urinary Bladder) :—

नाभि-कटि-गुद-वंक्षण-जननेन्द्रिय →

इनके मध्यस्थित यह अधोमुख स्थित यह एक थैली।

बस्ति-सद्यप्राण हर मर्म (Vital point) बस्ति में पर्याप्त मूत्र संचिति हो जाने पर व्यक्ति को मूत्र विसर्जन की संवेदना होती है, जो उत्तरोत्तर ज्यादा-ज्यादा तीव्र होती जाती है, तथा मूत्र विसर्जन के उपरान्त यह संवेदना शान्त हो जाती है।

**मेदोवहेद्वे तयोर्मूलं कटि वृक्कौच।**

**-सु०सं०शा० ६**

**वृक्कौ मांस पिडद्वयम्।**

**एकौ वामपार्श्व स्थितः द्वितियो दक्षिण पार्श्व स्थितः।**

**-सु०संनि० ९**

**मूत्रवहेद्वे तयोर्मूलं बस्ति मेढ्रं च।**

**-सु०सं०शा० ९**

**पक्वाशयगतास्तत्र नाडयो मूत्रवहास्तु याः**
**तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितं सागरं यथा।**
**सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखन्यासां सहस्त्रशः**
**नाडी भिरूपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात्**
**जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते**
**आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यतेनवः।।**
**घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते।**

**-सु०सं०नि० ३**

**'मूत्रस्य क्लेदवाहनम्'** यह आयुर्वेदोक्त मूत्रकर्म।

शरीरस्थ क्लीन्नता (अवास्तव स्वरूपीय आर्द्रता), अलग निकाली जाकर

(वृक्कों के द्वारा) 'मूत्र' में परिवर्तित कर मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकाल दी जाती है।

मूत्र में ९६ % जलभाग

४ % घनभाग→ इसमें युरिया {प्रोटीन धातुपाक क्रियामें उत्पादित मल} तथा अन्य सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय द्रव्य होते हैं।

मूत्र का प्राकृत वर्ण याकृत पित्त के कारण प्राप्त।

| मूत्र में | | |
|---|---|---|
| | अल्ब्युमिन | इनका उपस्थित होना यह |
| | ग्लाइकोजेन | विभिन्न रोगों की उपस्थिति |
| | याकृत पित्त | दर्शाने का महत्वपूर्ण सूचक |
| | पूय | चिन्ह |
| | रक्तकण RBC | माना जाता है। |

मूत्र आहार का मल–

आहार पर पाचकाग्नि की क्रिया होकर सार-किट्ट विभजन होकर सारभाग आंत्र में (Through villi) शोषित कर लिया जात है।

| किट्ट वा मलभाग | | |
|---|---|---|
| | घन | ३ प्रकार का होता है। |
| | द्रव | |
| | वायुरूप | |

धनमल-पुरीष।

वायुरूपमल-अधोवायु। तथा शेष द्रवाशं (द्रवमल) वृक्कों के द्वारा अलग निकाल लिया जाकर बस्ति में(Urinary bladder) इकट्ठा कर लिया जाता है तथा मूत्रेन्द्रिय द्वारा उत्सर्जित कर दिया जाता है।

पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति
विवेचयति च दोष रस मूत्र पुरीषाणि।

-सु०सं०सू० २१.

विण्मूत्रमाहार मला:।

-च०सं०चि० १५

तत्राहार प्रसादाख्यो रस: किट्टं च मलाख्यमभिनिवर्तते।
किट्टात् स्वेदमूत्र पुरीष... पुष्यन्ति।

-च०सं०सू० २८

**वृक्क - त्वक् एवं हृदय परस्पर घनिष्ट संबंध**

वृक्कों का कार्य त्वचा के सहकार्य से शुरू रहता है।

त्वचा
एवं } दोनों ही परस्पर पूरक उत्सर्जकेन्द्रियाँ हैं।
वृक्क

मूत्र } एक ही प्रकार के
एवं } दोनों में मूलद्रव्य
स्वेद } स्थित होते हैं।

और इसीलिये

वृक्क } त्वचा को { उसके द्वारा वृक्कस्थ कार्याधिभार
व्याधियों में } उद्दिपित किया { हल्का करने का प्रयत्न
जाकर { चिकित्सा में किया जाता है।

वृक्कों का बल हृदय के बलाश्रित होता है।

सामान्य वा प्राकृत हृदय ही रसविक्षेपण योग्य प्रमाण में कर पाने में क्षम होता है, और ऐसी स्थिति में ही वृक्कों में रक्त का आगम योग्य प्रमाण में हो पाता हे तथा वृक्क रक्तस्थ मलों को पृथक् करने का कार्य सुचारू रूपेण कर पाते हैं।

ऐसी स्थिति होने के कारण ही हृदय रूग्ण हो जाने की स्थिति में उसका विपरीत प्रभाव वृक्कों पर भी पड़ा हुआ दिखायी देता है।

रक्तस्थ युरिया नामक मल हर बार रक्त में से वृक्कों द्वारा अलग छान लिया जाता है। युरिया का इस प्रकार यदि निर्गमन न हो पाया तो मृत्यु ही उसका परिणाम होता है।

उदा-विषूचिका (Cholera) व्याधि में मृत्यु का प्रधान कारण रक्त में
मूत्रावरोधजन्य युरिया का संचित हो जाना ही होता है।

इस प्रकार वृक्कों की रूग्णता का परिणाम हृदय पर और हृदय की रूग्णता का परिणाम वृक्कों पर पड़ता हुआ दिखाई देता है।

❖

# मांस-स्नायु

| | | | |
|---|---|---|---|
| | शरीरस्थ | और | विभिन्न क्रियायें |
| मांसपेशियाँ | अस्थियों से | इसीलिये | (Movements) |
| | संबद्ध | | शरीर द्वारा संभव। |

उत्क्षेपणा पक्षेपणाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति पञ्च कर्माणि।

-वैशेषिक

प्रसारणा कुञ्चन विनमनोन्नमन तिर्यग्गमनानीति पञ्च चेष्टा।

-डल्हण

मांसपेशियों के छोर (The end portions of the muscles) बहुत मजबूत होते हैं जिन्हें स्नायु {Tendons, ligaments} कहते हैं।

इच्छातीत वा अनिच्छावर्ति
मांस पेशियाँ
{Involuntary muscles}
} इच्छा के आधीन क्रियाकारी स्वरूप की नहीं होती।

हृदय
फुफ्फुस (फेफड़े)
आमाशय
आन्त्र
गर्भाशय
— आदि शरीरान्तर्गत भागीय इन्द्रियों की पेशियाँ इच्छातीत वा अनिच्छावर्ति (Involuntary) होती है।

→अनिच्छा वर्ति स्वरूपीय इन मांसपेशियों की संकोच-प्रसारादिकी क्रियाये नाड़ी संस्थान {Nervous system} के आधीन कार्यरत रहती है।

→ इन अन्तःस्थ मांसपेशियों की क्रियाओं पर मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा का कोई वश नहीं चल पाता।

हृत्पेशियाँ स्वतंत्र गुणयुक्त एवं
(Cardiac miscles) स्वतंत्र आकार की होती है।

शरीर पर का त्वचा का आवरण दूर करके देखने पर सर्वत्र मांसपेशियाँ ही व्याप्त दिखायी देती है।

इनकी संख्या ६०० निर्देशित की गयी है।

मांस पेशियों के स्नायुमयश्वेत-
वर्णिय-मजबूत छोरों को (सिरा-Ends) } कण्डरा (Tendons) के
नाम से संबोधित किया गया है।

मांसपेशियों के इन मजबूत सिरों-(छोरों) में से जो छोर स्थिर अस्थि से संबद्ध होता है-

उसे **मांसपेशी प्रभव** {Origin of the musele} कहा जाता है।

तथा जो दूसरा छोर चल अस्थि से सम्बद्ध होता है

उसे **मांसपेशी निवेश** {Insertion of the muscle} कहा जाता है।

क्रिया के समय अस्थियों की क्रिया {हलचल -movement} के लिये इन मांस पेशियों में संकोच-प्रसार होकर उसके द्वारा क्रिया संपन्न की जाती है।

क्रिया संपन्न होने के लिये संकोच-प्रसार होने वाली इन मांस पेशियों का परस्पर सहकार्य {Co-ordination of the muscles} [एक मांसपेशी का संकोच तो उससे संलग्न दूसरी मांस पेशी में प्रसारण होता है। यदि एक का प्रसारण संपन्न हो गया किन्तु उसी समय उससे संलग्न दूसरी पेशी में संकोच न हो पाया तो उन मांस पेशियों के द्वारा संपन्न की जाने वाली वह विशिष्ट क्रिया संपादित नहीं हो पाती। आघात-अपघात इ० में मांसपेशियों में शोथादि **(inflamation)** की उत्पत्ति से उनका परस्पर सहकार योग्य रूपेण संपादित नहीं हो पाता।]

अनिवार्य रूपेण संपादित होना जरूरी होता है।

आमवातादि व्याधि की स्थिति में {Rheumatic fever} विशिष्ट पेशियाँ शोथयुक्त हो जाती है, जिससे संकोच प्रसारार्थ पेशियों का परस्पर सहकार्य बिगड़ जाता है और इसी कारण उस स्थान में क्रिया-सौकर्य नष्ट हो जाता है।

इसीलिये दुःखदायी क्रिया (Painful movement)
प्रतिबन्धित क्रिया (Limited movement) } इ० विकार उत्पन्न होते हैं।
वा क्रियाहीनता (Lock joint)

**प्रसारणाकुञ्चनयोरंगानां कण्डरा मताः।**

-शां०सं०पू० ५.

**महत्यः स्नायवः प्रोक्तः कण्डरायास्तु षोडश**
**प्रसारणाकुञ्चनयोर्दृष्टं तासां प्रयोजनम्।**

-भा० प्र०

**सिरास्नाय्वस्थि मर्माणि संधयश्च शरीरिणाम्**
**पेशीभिः संवृत्तान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः।**

-सु०सं०शा० ४

# शरीर में रस संवहन

## [रस-रसायनी]

रस–आयुर्वेद ने पचनक्रिया में उत्पन्न आहार रस के सार भाग को रस कहा है।

| आहाररस के ऊपर | रसाग्नि की क्रिया होकर | रस धातु की उत्पत्ति होती है। |
|---|---|---|

यह रस हृदय में आकर हृदय के द्वारा समस्त शरीर भागों में प्रक्षेपित किया जाता है। जिससे- शरीर प्रीणन कार्य सम्पादित होता है

आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान के अनुसार–यह रस अर्थात् Lymph है।

श्लेष्म सदृश अति महीन एक आवरण से युक्त अति महीन (Fine) केशवाहिनियों की (capillaries) दीवार से स्रुत होने वाला जो द्रव, वह Lymph कहलाता है।

१] ये बने हुये स्नेह बिन्दु २] उदरस्थ रासायनी से ३] रस प्रपा (cistrna chyli) नामक बड़ी रसायनियों में पहुँचता है ४] फिर यह रस नीलाओं में (veins) पहुँचते समय ५] प्रथम वाम रसकुल्या में (Thoracicduct) ६] फिर वाम गलमूलिका सिरा (Left innominate vein) ७] उत्तरा महासिरा (sup. venacava) ८] वहाँ से हृदय के दक्षिणालन्द कोष्ठ में (Right Auricale) पहुँचता है। ९] हृदय के द्वारा संपूर्ण शरीर में प्रक्षेपित किया जाता है।

**पयस्विनी– दुग्धवाहिनी-Lacteals/[Lac=milk]**

उदरस्थ रसायनियों में आहार परिपाक के स्नेहकण ग्रहण किये जाने के उपरान्त इनका वर्ण दुग्धसम श्वेत हो जाता है और इनके इस वर्ण के कारण ही इन्हें दुग्धवाहिनी वा पयस्विनी कहा गया है।

इन पयस्विनियों का अपवाद यदि छोड़ दिया जाय तो शरीरस्थ अन्य समस्त रसायनियों में वाहित रस पतला (द्रव) तथा स्वच्छ-पारदर्शक होता है।

क्षुद्रान्त्र अंतर्कला में विद्यमान रसांकुरिकाओं में (villi) असंख्य केशवाहिनियाँ व्याप्त रहती हैं, जिनमें रस शोषित कर लिया जाता है।

पयस्विनियों के द्वारा (lacteals) } मेद { उदरस्थ अन्य रसायनियों की तरह ही } वाम रसकुल्या में (Thoracic duct) { पहुँचाया जाता है।

→ शरीरस्थ सबसे बड़ी (रसवाहिनी) रसकुल्या इसमें पहुँचा हुआ रस →

→ हृदयस्थ दक्षिणालिन्द में(Rt. Anricle) ले जाकर पहुँचाया जाता है।

रस-रक्त का समावेश (Plasma) आयुर्वेदोक्त रसधातु शब्द में हो जाता है। आयुर्वेद में वर्णित रस धातु का वर्णन इस रस-रक्त से मेल खानेवाला दिखायी देता है ।

आधुनिकोक्त यह Plasma } ही { प्राचीनोक्त रसधातु है।

शरीरस्थ यह रस हृदय के द्वारा समस्त शरीर में प्रक्षेपित किया जाकर

१. धातुओं का प्रीणन कार्य संपादित किया जाता है।

२. दोष धातु मलादि का } जीवन धारण कर्म संपादित कराया जाता है।

३. शरीर एवं मन के व्यापारों का इसके द्वारा प्रेरण एवं संचालन किया जाता है।

४. समस्त शरीर का } बल तेज उत्साह क्रियाशक्ति इ० { यह रस ही साबित होता है।

→और इसीलिये प्राचीनोक्त ओज के गुण इस रस को लागू हो जाते हैं।

५. कार्य संपन्नता के उपरान्त पुनः हृदय में आ जाना और इस प्रकार शरीर प्रीणन, शरीर धारण, शरीर कार्य संपादन प्रवण करने के लिये चक्रवत् परिभ्रमण इ० प्राचीनो नें किया हुआ रस कर्म वर्णन इसे ही लागू होता है।

तेजोभूतः परं सूक्ष्मः स रक्तरसोच्यते
लसिका नाम लभते समगन्धिस्त्वगाश्रिताः।

-मा०नि०-आतंक दर्पण

-यह रस का किया गया वर्णन आधुनिक शारीर क्रियोक्त **Plasma** से ही मेल खानेवाला दिखाई देता है।

श्लोक की निचली पंक्ति में 'लसिका' एवं 'रस' आधुनिकोक्त (Plasma) इनकी समानता स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट की हुयी है, जो आधुनिक क्रिया शारीर से मेल खाने वाली है।

पीपल के पत्ते में जिस तरह से बड़ी सिरा, उससे निकली हुयी उपसिरायें, उन हर एक में से निकली हुयी पुन: अनेकानेक उपसिरायें-इस तरह सिराओं का बारीक जाल दिखायी देता है-और इसी प्रकार की प्राणि शरीर में भी सिराओं की स्थिति है।

इन सिराओं का मूल उद्भवस्थान नाभि (हृदय) वर्णित किया हुआ है। यहाँ से निकली हुयी मूल ४० सिरायें फिर इनका मूल विस्तार होकर ७५ सिरायें और फिर इससे शाखाओं का विस्तार संपादित होकर ७०० सिरायें बनी हुयी हैं।

नाभि (हृदय) प्रदेश से उद्भूत सिरायें —
- अरुणा-वात प्रधान स्थानों के पुष्ट्यर्थ रस प्रदायिका (१०)
- नीला-पित्त प्रधान स्थानों के पुष्ट्यर्थ रस प्रदायिका (१०)
- श्वेता (गौरी)-कफ प्रधान स्थानों के पुष्ट्यर्थ रस प्रदायिका (१०)
- लोहिता रक्त प्रधान स्थानों के पुष्ट्यर्थ रस प्रदायिका (१०)

इनका मूल विस्तार होकर कुल ७५ सिरायें

→इनसे आगे और शाखाविस्तार होकर कुल ७०० सिरायें।

वास्तव में देखा जाये तो सभी सिरायें सर्वव्रहा होती है। वात वहा-पित्त वहा इ० दिये हुये भिन्न नाम उन-उन स्थानों के अनुसार दिये गये लगते हैं।

## रसायनी–

समस्त शरीर में रस केशिओं का (Lymphcapillaries) जाल ही फैला हुआ होता है। ये रस से ओतप्रोत होती है। कुछ स्थानों में उनका स्वरूप अवकाश रूप होता है।

हृदयधरा, पार्श्वधरा (फुफ्फुसधरा), उदरधरा (वपावहन) } इ० कलाओं से जो आशय बने हुये (Serous cavity) } उनमें भी — रससदृश द्रव भरा हुआ होता है।
१. घषर्ण से बचाव
२. बाह्याघात से सुरक्षा
इ० संपादित होता है।

इन आशयों में स्रुत रस का } ग्रहण करने वाली रसायनिकों का मुख विवृत (खुला) होता है। } इनके व्यतिरिक्त शरीर की अन्य स्थानीय रसायतियों का आरंभ होते समय उनके मुख इस तरह खुले नहीं होते।

इन आशयों में } रसायनियों के खुलने वाले मुखों को { मुख वा छिद्र (Stomata) कहा जाता है।

ये समस्त रसायनियाँ सिराओं की तरह ही हृदयाभिमुख ही होती हैं।

## रस ग्रंथियाँ (Lymph glands) –

रसायनियों में से रस का वहन संपादित होते समय आगे गया हुआ रस किसी कारणवश पुन: पीछे न लौट सके इसलिये उनमें जगह-जगह कपाटिकायें (Valves) होती हैं, जो रस को आगे तो जाने देती हैं लेकिन उनकी उस विशिष्ट रचना के कारण आगे गया हुआ रस पुन: पीछे नहीं लौट पाता।

ये कपाटिकायें माला के मणियों की तरह पास-पास स्थित होती हैं। किसी कारणवश रसायनी की फूली हुयी अवस्था में इस पास-पास में स्थित रसायनी के कप्पों के या कपाटिकाओं के कारण वह मणियों की माला की तरह ही दिखाई देती है।

छोटी-छोटी रसायनियाँ उत्तरोत्तर परस्पर संयुक्त होती जाती है और इस कारण इससे बड़ी बड़ी रसायनियाँ बनती जाती है।

रसवाहिनियों में रस का वहन होते समय उनके मार्ग में रसग्रंथियाँ भी आती हैं।

ये रसग्रंथियाँ–गोल-चपटी-अंडाकार होती है। पीन (Pin) की गाँठ के आकार से लेकर मटर के आकार की अथवा कुछ रसग्रंथियाँ उससे भी बड़े आकार की होती हैं।

ये प्राय: २ से ४ के समूह में तथा कभी कभी १५ पर्यंत के समूह में दिखायी देती हैं। इनका वर्ण श्यावता युक्त अरुण दिखायी देता है।

वंक्षण<br>
कक्षा<br>
कूर्पर<br>
जानु<br>
} स्थानों में ये ग्रंथियाँ दिखायी देती हैं।

उदरगुहा में महाधमनी (Abdominal Aorta) के किनारे किनारे आंत्रबन्धनी कलापर (Mesentry), श्रोणिप्रदेश के चहुओर, उरोगुहा (Thoracic cavity) तथा ग्रीवा प्रदेश (Cervical Region) में, बड़ी रक्तवहाओं के दोनों ओर (बांयी तथा दाहिनी तरफ)-इन रसग्रंथियों की बड़ी संख्या दिखायी देती है।

गलमूल स्थानीय रसग्रंथि (Tonsils) लसिका धातु की ही बनी हुयी होती है।

इन रसग्रंथियों में { क्षात्रकण (Lymphocytes)<br>
पुञ्ज } विद्यमान होते हैं।

| Lymphocytes नामक क्षात्र कणों का | } उद्भव स्थान | { रसग्रंथियाँ ही होती है |
|---|---|---|

यहाँ से ये क्षात्रकण (Lymphocytes) रस में (Lymph) तथा रस से रक्त में प्रविष्ट होते रहते हैं।

शरीर में जहाँ जहाँ आघात(Trauma), व्रण इ० हो जाता है। वहाँ वहाँ रस-रक्त का विशेष वहन[ शरीर की अंतर्गत क्रिया प्रणालि के अनुसार] त्वरित होने लग जाता है। इससे वह स्थान रस-रक्त से अतिपूरित हो जाता है।

इस के कारण तत्स्थानिय रस-रक्त वाहिकायें, नाड़ियाँ (Nerves) इ० पर दबाव (Pressure) बढ़कर वहाँ शोथ के लक्षण(Inflamation) प्रकट हो जाते हैं।

यक्ष्मा (Pul. Tuberculosis), न्यूमोनिया इ० में भी आरंभ में ऐसा ही घटित होने के कारण फुफ्फुसस्थ वात कोशिय अवकाश लुप्त हो जाता है, और इसीलिये श्रवण परीक्षा में (Auscultation) वह स्थान वातपूर्ण दृतिवत् (Resonant) अनुभूत न होते हुये घन (Dull) अनुभूत होता हैं।

| | | |
|---|---|---|
| आपत्तिजनक | मार {आघात-Trauma} | इन स्थानों में |
| स्थिति में | व्रण | रस विस्त्रुति |
| | रोग संक्रमण (infection) | विशेष |
| | रोगाणुविष (Toxins) | प्रमाण में होती है। |
| | के कारण | |

इसका उद्येश्य–

१. वहाँ की हानिपूर्ति के खातिर प्रोटिन्स विशेष प्रमाण में पहुँचाना।

२. रोगाणुओं से लड़ने के खातिर रक्तस्थ क्षात्रकण (W.B.C.) वहाँ विशेष प्रमाण में पहुँचाना। आक्रान्त स्थान को ये क्षात्रकण घेराव कर देते हैं, जिससे तत्स्थानीय विष स्वस्थ स्थानों में न पहुँचने देना।

ये आत्रकण जीवाणुओं का कवलन कर लेते हैं तथा नाश कर देते हैं। कभी कभी जीवाणु प्रबल होने की स्थिति में अनेकानेक क्षात्रकणों का नाश हो जाता है। इतना होने पर भी अर्थात् विजयी हो जाने पर भी ये जीवाणु क्षात्रकणों का घेरा तोड़ नहीं पाते। मृत क्षात्रकण संचिति को ही पूय (Pug) कहा जाता है।

क्वचित समय ऐसा भी हो जाता है कि अति प्रबल स्वरूपीय संक्रमणकारी जीवाणु क्षात्रकणों को मारकर उनका घेरा तोड़ने में भी सफल हो जाते हैं। इस प्रकार संक्रमण आगे बढ़ने पर उसका (संक्रमण का) सर्वप्रथम आक्रमण रसायनियों पर होता है।

इन रसायनियों के निकटस्थ स्थित एक एक रस ग्रंथि अर्थात् शत्रु से लड़ने वाली एकेक चौकी ही होती है, जहाँ Lymphocytes नामक क्षात्रकण शत्रु से (रोगाणुओं से) जोरदार लड़ाई कर उन्हें परास्त कर देते हैं।

ऐसे समय उन रसग्रंथियों में शोथोत्पत्ति (inflamation) हो जाती हैं (inflamed lymph glands) ।

उदा-बाहु पर आघात वा व्रण की स्थिति में कक्षा प्रदेशस्थ ग्रंथि सूज जाती हैं तो जंघा (Theigh) पर व्रणादि में जाँघों की (Inguinal) ग्रंथियों में सूजन आ जाती है।

जननेन्द्रिय संक्रमण की स्थिति में वंक्षण ग्रंथिशोथ हो जाता है।

मुख-नासादि मार्ग से रोग संक्रमण की स्थिति में } गल ग्रंथियों में (Tonsils) शोथोत्पत्ति हो जाती है।

इस प्रकार उस उस स्थान में स्थित रसग्रंथि तत्स्थानिय रोगसंक्रमण स्थिति में शरीर के 'गार्डस' ही साबित होती हैं।

यक्ष्मा संक्रमण में { ग्रीवा एवं उरस्थ रसग्रंथियाँ } शो.युक्त बन जाती है।

रसवाहिनियों द्वारा प्रसृत होने वाली } श्लीपद (Filaria) एवं दुष्टर्बुद (Carcinoma) } ये दो महत्वपूर्ण व्याधियाँ

अन्त्रस्थानीय रसग्रंथियाँ } स्पर्शलभ्य (Palpable) कठिन (Hard) संशूल (Tender and Painful) बनकर { आंत्रक्षय (Intestinal Tuberculosis) की सूचक बन जाती है।

[आन्त्रिक ज्वर में भी ये शोथयुक्त]

कफवात दुष्ट स्थितियुक्त बालक में (Rheumatic) } उपजिव्हिका ग्रंथि (Tonsils) प्राय: शोथमय हो जाती हैं। (Tonsilitis)

रसायनी प्रत्यक्ष रुपेण (Directly) महासिरा में (Venacava) प्रविष्ट नहीं होती। छोटी छोटी रसकेशिकायें (lymph capillaries) मिलकर बनी हुयी रसायनियाँ एक तो बड़ी रसायनी में या किसी रस ग्रन्थि में (lymph gland) समाप्त हो जाती हैं और फिर इस रसग्रंथि से पुन: नयी रसायनि उत्पन्न होती है और यह भी किसी बड़ी रसवाहिनी में अथवा किसी रसग्रंथि में जाकर समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार रसग्रंथि में प्रविष्ठ होते हुये वहाँ से बाहर निकलते हुये विभिन्न शाखायें मिलकर

बड़ी रसवाहिनी बनाते हुए इस रसायनी की हृदय की ओर आगे कूच शुरु रहती है।

रक्त वाहिनियों की ही तरह बड़ी रसवाहिनी के भी तीन स्तर होते हैं।

रसायनी जितनी मोटी उतनी उसमें कपाटिकायें (Valves) ज्यादा होते हैं।

इस प्रकार शरीरस्थ समस्त रसायनियाँ अंत में दो अंतीम स्त्रोतों के रूप में परिणत हो जाती है, जिन्हें **रसकुल्या (Lymphatic duct)** कहते हैं, जिसका आरंभ उदर गुहा में होता है। इसका आरंभ भाग लम्बा मोटा तथा ४-५ गुना ज्यादा अवकाश रूप में होता है। इसे **रसप्रपा [cydterna chyli, Receptaculum chyli]** कहा जाता है।

**पृष्टवंशस्थित रसकुल्या** में आत्रंस्थ समस्त रसायनियों का रस आकर मिलता है। तद्वत ही अध:शाखा उदरस्थ समस्त अङ्ग एवं उर:अधोभागीय रसवाहिनियों का रस इसी में आकर मिलता हैं।

यह रसप्रपा ऊपर जाने पर इसे ही **वाम रसकुल्या (Left lymphatic duct)** का नाम प्राप्त होता है।

पंचम पृष्ट कशेरुका के नीचे **(5th thoracic vertebra)** आकर वह बायीं तरफ मुड़ जाती है। तथा वाम अक्षधरा सिरा में **(Left subclavian duct)** जाकर मिल जाती है।

| | |
|---|---|
| रसप्रपाभाग से वाम अक्षाधरा में उसकी समाप्ति पर्यन्त | } वामरसकुल्या की लम्बाई १८ इंच होती है। |

**दक्षिण रसकुल्या –(Rt. lymphatic duct)** यह दूसरी रसकुल्या है।

| | |
|---|---|
| वाम रसकुल्या की तुलना में | यह बहुत छोटी सिर्फ आधा इंच लम्बाई से युक्त होती है। |

किन्तु इतनी छोटी सी होते हुये भी यह अति महत्वपूर्ण मानी जाती है।

| | |
|---|---|
| दक्षिण शिरोभाग<br>दक्षिण ग्रीवाभाग<br>दक्षिण बाहु<br>दक्षिण वक्षभाग<br>श्वास पटल<br>(Diphragum)<br>दक्षिणी भाग<br>यकृत ऊर्ध्व पृष्टभाग | **इन समस्त भागों से रस इसमें आकर मिलता हैं।** |

ये सब रसायनियाँ दक्षिण अक्षधरा सिरा के पास (Rt. subclavian artery) आकर एकीभूत होकर रसकुल्या बनती है तथा तत्काल सिरा में मिलकर यह समाप्त हो जाती है।

# यकृत के कार्य

यकृत यह शरीरस्थ सबसे बड़ी ग्रंथि।

| यकृत उदरगुहा में (Abdominal cavity) | ऊर्ध्व एवं दक्षिण भाग में श्वासपटल (महाप्राचीरा पेशी) (Diaphragm) सटा हुआ उसके नीचे स्थित होता है। |
|---|---|

| यकृत में प्रविष्ट होने वाली प्रतिहारिणी सिरा (Portal vein) | आमाशय, दोनों आंत्र, अग्न्याशय एवं प्लीहा | स्थानीय अशुद्ध रक्त | यकृत में लेकर पहुँचती है। |
|---|---|---|---|

इस प्रकार समस्त शरीरस्थ संचारी रक्त में जो धातुपाकादिजन्य मल संचित हो जाते हैं वे सब इस प्रतिहारिणी सिरा के द्वारा यकृत में लाकर छोड़े जाते हैं।

| यकृत में यकृत कोष | इन मलों का निर्हरण कर | उन पर क्रिया संपादित कर |
|---|---|---|

पित्त का (Bile) निर्माण कार्य संपादित करते है।

यकृत में इस प्रकार तैयार होने वाला यह याकृत पित्त अग्न्याशय द्वारा रसोत्पादन (पाचक रस Enzymes) तथा पचन क्रिया में स्नेह पाचन कार्य (Digestion of fats) संपादित करता है।

यकृत के तल भाग में स्थित बैंगन के आकार की पित्त थैली (कोष- Gall bladder) में यकृत द्वारा तैयार किया गया याकृत पित्त संचित होता रहता है। तथा पचन काल में अग्न्याशय रस के साथ (Panereatic juice) सामान्य वाहिनी द्वारा आंत्र के ग्रहणी नामक भाग में आ पहुँचता है।

याकृत पित्त– रसीय अतिरिक्त क्षारीय प्रतिक्रिया (Alkaline Reaction) युक्त कस्तुरी गंध युक्त। यह पित्त शरीर में अति महत्वपूर्ण द्रव्य है।

• याकृत पित्त(Bile) – १. रंजक द्रव्य (Bile Pigments) ⎫ इन
२. युरिया ⎬ घटकों से
३. युरिक ॲसिड ⎭ युक्त।

याकृत पित्त कार्य–

१. स्नेह घटकों का पचन
२. अग्न्याशय रस को आहार पचन कार्य मे मदद (प्रेरक)
३. जीवाणुओं का नाश
४. आहार पचनोत्तर - सार भाग संशोषण कार्य में सहयोग ।
५. स्थूलान्त्र अपकर्षण गतिवर्धन।
६. पित्त निर्माण प्रक्रिया को प्रेरक।
७. मलरेचक।

१) क्लान्त - मृत रक्तकणिकाओं का (Old and usless RBC) यकृत में नाश कर दिया जाकर रक्त को दोषहीन-प्राकृत-कार्यक्षम रखा जाता है।

२) जिन बेकाम-मृत रक्त कणिकाओं का(RBC) यकृत में नाश संपादित होता है, उनके मृत शरीरों से पित्तस्थ रंगद्रव्य(Bile Pigment) की निर्मिति यकृत में की जाती है।

३) जरूरत से ज्यादा प्रोटिनों का विघटन कर उससे युरिया की निर्मिति यकृत में संपादित होती है।

४) उष्णता एवं ऊर्जा उत्पत्ति की शरीर की जरूरत पूर्ण हो जाने के उपरान्त बची हुयी द्राक्षाशर्करा (Glucose) का शर्कराजन (Glycogen) में रूपान्तरण किया जाकर यकृत में शर्कराजन के रूप में (In the form of Glycogen) उसकों संचित किया जाना।

५) अन्य शर्कराओं का रूपान्तरण द्राक्षाशर्करा में यकृत द्वारा किया जाता है।

६) स्नेहों को सरल जाति के स्नेहों में परिवर्तित कर उन्हें यकृत द्वारा शरीर में उपयोजनार्थ योग्य बनाया जाता है।

| ७) शरीर में प्रविष्ट | हानिकारक पदार्थ<br>हानिकारक औषधि<br>मारक विष<br>जीवाणुगत विष<br>(Toxins) | इनको नष्ट कर (Detoxication) यकृत द्वारा इस तरह शरीर की रक्षा की जाती है। |
|---|---|---|

८) शरीर में (दीर्घ कालीन-उपवासादि विशिष्ट काल में) द्राक्षाशर्करा की अनुपलब्धता हो जाने की संकटकालीन स्थिति में (emergency) यकृत में संचित शर्करा जन (Glucogen) का पुन: ग्लुकोज में रूपान्तरण यकृत द्वारा किया जाकर वह द्राक्षाशर्करा रक्त में मिल जाती है तथा रक्तद्वारा समस्त शरीर में प्रक्षेपित होकर ऊर्जा-उष्णता निर्मिति का कार्य निर्बाध चल पाता है।

९) घातक पाण्डुरोग(Pernicious Anaemia) में यकृत भक्षण से (लिवर सूप इ० बनाकर) आश्चर्य कारक लाभ प्राप्त होता है।

१०. शरीर में अव्याहत रूपेण संचारित रक्त उसी तरह संचारित होता ही रहे-उसमें जमने की (Clotting) क्रिया संपन्न न होने पाये इसलिये हिपेरिन नामक द्रव्य की निर्मिति तथा व्रण इ० में से तत्काल बहुत ज्यादा प्रमाण में रक्त स्राव होकर मृत्यु न हो पाये इसलिये जख्म से बहने वाले रक्त में जमने की क्रिया संपादित करने वाला द्रव्य--फाइब्रिनोजेन की उत्पत्ति करना।

हिपेरिन तथा फाइब्रिनोजेन-ये दोनों अतिमहत्वपूर्ण द्रव्य यकृत में ही उत्पन्न किये जाते हैं।

११) शरीर का आवश्यक सामान्य तापमाप (Necessary Body temperature) तथा ऊर्जा (Energy) की निर्मिति में यकृत का अति महत्वपूर्ण सहयोग होता है।

१२) रक्तकणों की उत्पत्ति के कार्य में (Formation of RBC) — { लोहितमज्जा को उत्तेजना (Stimulation) देने का कार्य } { यकृत द्वारा ही संपादित होता है। }

१३) विशिष्ट संकटकालीन स्थिति में यकृत स्वयं भी रक्त कणिकाओं की (RBC) निर्मिति करता है।

इस तरह अनेकानेक शरीरोप कारक कार्य संपादित करने वाला यह यकृत-शरीर का एक अति महत्पूर्ण इन्द्रिय माना जाता है।

"शरीरस्थ सर्वश्रेष्ठ ग्रंथि" इन शब्दों में शास्त्रों में यकृत की महति वर्णित की हुई दिखायी देती है।

सर्व प्राणिनां सर्व शरीरेषु ये प्रधानतमा भवन्ति
यकृत् प्रदेश वर्तिनस्तानाददीत, प्रधान लाभे मध्यम वयस्कं
सद्यस्कमक्लिष्टं उपादेयं मांसमिति।
-सु०सं०सू० ४६.

❖

# स्त्रोतो विवेचनम्

(Passages-Tracts-Channels etc.)

दोष-दूष्य घटित→ यह संपूर्ण शरीर ही→ स्त्रोतोमय होता है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| दोष<br>धातु<br>मल | का | स्त्रवण<br>एवं<br>अभिवहन | करने वाले<br>स्थानों को वा<br>मार्गों को | स्त्रोतस<br>कहा जाता है। |

स्त्रवणात् स्त्रोतांसि।

-च०सं०सू० २०

स्त्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्त्रवणात्।

-चक्र०

स्त्रोतांसि खलु परिणामापद्य मानानां धातूनामभिवाहिनी भवन्तययनार्थेन।

-च०सि०वि० ५

शरीर में जो-जो भाव विशेष विद्यमान हैं उतने ही प्रकार के स्त्रोत सभी शरीर में विद्यमान होते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| शरीर में<br>सम्पादित होने<br>वाली कोई भी | वृद्धि<br>क्षय<br>आदि | स्त्रोतसों के बिना<br>संपन्न हो पाना<br>संभव ही नहीं होता। |

यावन्ता: पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषस्तावन्त
एवास्मिन् स्त्रोतसा प्रकार विशेषा:।
सर्वेहि भावा: पुरुषेनान्तरेण स्त्रोतांस्यभि
निवर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति।

-च०सं०वि० ५

सिरा-धमनी-रसायनी
रसवाहिनी-नाडी-पन्थ
शरीरच्छिद्र-मार्ग-
संवृतासंवृत स्थान-
आशय-निकेत-स्त्रोत

→ये सब धात्वाव काशों के ही नाम है।

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार ये सब 'स्त्रोतस' के ही पर्याय हैं।

स्त्रोतांसि सिरा: धमन्य: रसायन्य: रसवाहिन्य:
नाडय: पन्थान: मार्गा: शरीरच्छिद्राणि
संवृतासंवृतानि स्थानानि आशया: निकेताश्चेति
शरीर धात्वाव काशानां लक्ष्या लक्ष्याणां नामानि भवन्ति।

-च०सं०वि० ५

**स्त्रोतसां व्यवहारार्थं पर्यायानाह स्त्रोतांसीत्यादि।**

-चक्रपाणि

शरीरस्थ स्थायी एवं स्थिर धातुओं का वहन स्त्रोतसों द्वारा नहीं होता तो

पोषक-अस्थिर रस-रक्तादि धातुओं का ही अभिवहन } स्त्रोतसों द्वारा संपादित किया जाता है।

**परिणाममापद्यमानानां धातूनां अभिवाहिनी भवन्ति।**

-चरक

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार — अन्नरसोत्पन्न { पोषक रस धातु को } स्थायी रसधातु के पास { पोषणार्थ ये स्त्रोतस ही पहुँचाते हैं।

रस से रक्त के बनने पर पोषक रक्त - इन स्त्रोतसों के द्वारा स्थायी रक्त धातु के पास पहुँचाया जाता है, जिससे उस स्थान में रक्त धातु का पोषण संपादित होता है।

इसी प्रकार अन्य पोषक धातु पोष्य धातुओं तक } उनके पोषणार्थ स्त्रोतसों के द्वारा पहुँचाये जाते हैं।

-च०सं०वि० ५/३-चक्र०

प्रत्यक्ष क्रिया-शारीर के द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि यह कार्य - आंत्रस्थ सिरा (Veins)

(आहार रस-रस इ का अभिवहन)

रसायनी (Lymphatics) दुग्धवाहिनियाँ (Lacteals) → के द्वारा

→रसकुल्या से अधरा महासिरा में (Inf. Venacava) जाता है तथा

वहाँ से० हृदय में पहुँचता है।

→फिर वहाँ से फेफड़ों में (Lungs) पहुँचकर

→वहाँ से हृदयस्थ वाम अलिन्द में आता है

तथा वहाँ से महाधमनी (Aorta) के द्वारा

समस्त शरीर में प्रक्षेपित किया जाता है।

विभिन्न रोहिणियाँ (Arteries)
केशिकायें (Capillaries) } इ० के द्वारा शरीर के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म अवयवों में पहुँचाया जाता है।

**एषां (धातूनां) क्षय वृद्धि शोणित निमित्ते।**

-सु०सं०सू० १४

जो धातु जिन स्त्रोतसों से होकर अभिवाहित होते हैं उन स्त्रोतसों को उन धातुओं का रंग प्राप्त हो जाता है।

ये स्त्रोतस
- वृत्त
- स्थूल
- अणु (सूक्ष्म)
- दीर्घ (लम्बे)
- तथा प्रतानसदृश

] आकार के होते हैं।

**स्व धातु सम वर्णानि वृत्त स्थूलान्यणूनि च**
**स्त्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतान सदृशानि च।**

-च०सं०वि० ५

**श्रवण नयन वदन घ्राण गुद मेढ्रणि नव स्त्रोतांसी नराणां बहिर्मुखानि।**

**एतान्येव स्त्रीणाम पराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद् रक्तवहं च।।**

-च०सं०शा० ५

शरीरस्थ स्थायी रसादि धातु क्षीण होते रहते हैं, जिनका पोषण आहारोत्पन्न उत्पादन

रसादि धातुओं के द्वारा होता है, जिससे इन रसादि धातुओं का स्वास्थ्य अक्षुण्ण रखा जाता है।

इससे यह स्पश्ट होता है कि प्रत्यक्ष शारीर क्रिया में-आहार रस शोषण(Absorption) तथा सात्मीकरण(Assimilation) का जिन मार्गों का वर्णन दिखायी देता है। वे सब मार्ग ही आयुर्वेदोक्त स्त्रोतस हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार - सिरा-धमनी अतिरिक्त हृदयादि छिद्रों से शरीर में विकीरित नालियाँ (Channels-Tracts), जिनसे धात्वादि का वहन कार्य सम्पादित होता है, उन्हें स्त्रोतस कहा जाता है।

मूलात् खादतरं देहे प्रसृतं स्वभिवाही यत्
स्त्रोतस तदिति विज्ञेयं सिराधमनी वर्जितम्।

-सु०सं०शा० ९.

मूलात् खादिनि हृदयादि छिद्रात् प्रसृतं अभिवहनशिलं
वदन्तरं अवकाशं तत् स्त्रोतो विज्ञेयम्।

-डल्हण

आचार्य डल्हण के अनुसार-

शरीरस्थ आकाशीय अवकाश युक्त — सिरा, धमनी, मार्ग, ख (आकाश), नाड़ी, आशय → ये सब स्त्रोतस हैं।

किन्तु आचार्य सुश्रुत ने इनका खंडन किया हुआ दिखायी देता है। उनके अनुसार सिरा-धमन्यादि के-भिन्न-भिन्न नाम शास्त्र में वर्णित-

वातादि वहन करनेवाली सिराओं के → अरुणा, लोहिता, नीला, श्वेता

→इ० उनके वर्ण के अनुसार नाम दिये गये हैं।

किन्तु शब्दादि की वाहक धमनियों का किसी भी वर्ण का निर्देश किया हुआ शास्त्र में

कहीं भी दिखाई नहीं देता। इसके कारण उनमें से वहन किये जाने वाले उस-उस धातु के वर्णानुसार अर्थात् उन धमनियों का वर्ण उन-उन स्त्रोतसों के समान माना जाना चाहिये।

उसी तरह सिरा तथा स्त्रोतसों के मूल प्रकारों का वर्णन, जो शास्त्रों में उपलब्ध होता है, उसमें स्पष्ट भेद किया हुआ दिखायी देता है।

मूल सिरायें ४० होकर विभिन्न उपभेदादि मिलकर वे कुल ७०० हो जाती हैं। धमनियाँ २४ हैं तथा स्त्रोतस कुल २२ कहे गये हैं।

उसी प्रकार
सिरा
धमनि
स्त्रोतस
} इनके कार्यों में भी फर्क दिखायी देता है। इन सब कारणों से सिरा-धमनियों से स्त्रोतस भिन्न होते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार यदि

सिरायें
धमनी
स्त्रोतस
} ये सब एक ही हैं। तो फिर इनके गुण धर्मों का पृथक् पृथक् वर्णन किया हुआ क्यों दिखायी देता है? यह भी प्रश्न ही रह जाता है।

**तत्र केचिदाहुः सिरा धमनि स्त्रोतसां विभागः सिरा विकारा एव धमन्यः स्त्रोतांसि चेति। तत्र न सम्यक्। अन्या एव हि धमन्यः स्त्रोतांसि च सिराभ्यः कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वात्, मूलसन्नियमात्, कर्म वैशिष्यात् आगमाश्च, केवलं तु परस्पर सन्निकर्षात सदृशागम कर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्त कर्मणामपि अभिभाग इव कर्मसु भवति।**

**-सु०सं०शा० ९**

## स्त्रोतस रचना-

शरीरस्थ वायु यथार्थ उष्मायुक्त बनकर गर्भ शरीर में स्त्रोतस निर्माण कार्य संपादित करता है। स्थूल एवं सूक्ष्म स्त्रोतसों का प्रवर्तक-भेत्ता यह वायु ही होता है।

**यथार्थमुष्मणायुक्तो वायुः त्रोतांसि दारयेत्**

**-सुं०सं०शा० ४**

यथार्थ मिति उष्मणा पित्तेन सह युक्तो वायु:
नवैव स्त्रोतांसि दारयेत्-कुर्यात्।
कथं ? यथार्थ: - यथा प्रयोजन मिति।

-डल्हण
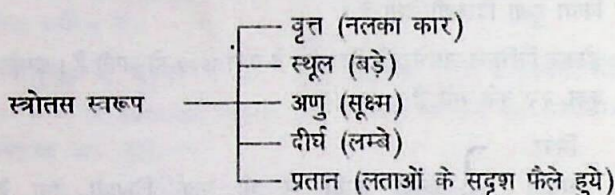
जिस प्रकार कमल नाल में तथा कमल मूल में (बीस) छेद होते हैं, उसी प्रकार मानव शरीर में भी धमनियों के स्त्रोत फैले हुये होते हैं, जिन के द्वारा रस अर्थात् अन्न रस के द्वारा रसादिधातुओं का पोषण कार्य संपादित होता रहता है।

यथा स्वभावत: खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यौरुपचीयते।

-सु०सं०शा० ९.

बिसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविसृतानि च
द्वाराणि स्त्रोतसां देहे रसो यै रुपचीयते।

-अ०हृ०शा० ३.

आचार्य सुश्रुत के अनुसार शरीर में ये स्त्रोतोप्रतान मांसधरा–कला में फैले हुये होते है।

तासां प्रथमा मांसधरा नाम यस्यां सिरास्नायु स्त्रोतसां प्रताना भवन्ति।

-सु०सं०शा० ४

महर्षि चरक के अनुसार:-

धमानात् धमन्य:
स्त्रवणात् स्त्रोतांसि
सरणात् सिरा:

} इस बचन के द्वारा स्त्रोतस स्वरूप नि-संदिग्ध रुपेण स्पष्ट हो जाता है।

महर्षि चरकानुसार स्त्रोतादि शरीरस्थ धात्वावकाशों के ही नाम हैं– इस वचन से 'स्त्रोतस' व्याप्ति और विशाल-व्यापक बन जाती है, जिससे नि:स्त्रोत ग्रंथियों का भी (Ductless glands) आपसे आप इसमें अंमर्भाव हो जाता है।

ध्मानात् धमन्यः स्त्रवणात् स्त्रोतांसि, सरणात् सिराः

-च०सं०सू० ३०

धमनिशब्दादि निरुक्ति माह-ध्मानादित्यां ?।
ध्मानात्-पूरणात् बाह्येन रसादि नेत्यर्थः
स्त्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्त्रवणात्
सरणाद् देशान्तर गमनात्।

-चक्रपाणि

स्त्रोतस

१) स्थूल स्त्रोतस

(Big openings-vessels-Ducts) उदा-रसवह-रक्तवहादि धातुवह स्त्रोतस, मलवह स्त्रोतस्, महास्त्रोतस आदि।

२) सूक्ष्म स्त्रोतस-

(minute openigs-vessels-Ducts) नाम के अनुसार ही सूक्ष्मत्व के कारण जिनका चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव नहीं होता ।

उदा-संज्ञावह स्त्रोतस, मनोवह स्त्रोतस इ०

अन्य स्त्रोतस–

१. प्राणवह स्त्रोतस-प्राणसंज्ञक वातवह स्त्रोतस
२. शब्द वह स्त्रोतस-शब्द वहा धमनी
३. नाभि स्त्रोत
४. रोमकूप स्त्रोत
५. विपुलं स्त्रोत-(गर्भाशय)
६. मनोवह स्त्रोतस-मनोबुद्धिवह सिरा
७. चेतना वह स्त्रोतस
८. बुद्धिवह स्त्रोत
९. चित्तवह स्त्रोत
१०. संज्ञावह स्त्रोतस
११. मर्म संज्ञक स्त्रोतस
१२. इन्द्रिय संज्ञक स्त्रोतस
१३. इन्द्रिय प्राणवह स्त्रोतस

→ इनका भी आयुर्वेद ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है।

स्रोतस
१
आकारमान के अनुसार
२
चाक्षुष प्रत्यक्ष अनुसार
३
देहस्थ अंतर्बाह्य स्थिति के अनुसार
४
अर्ध्वाधस्थिति-नुसार
स्थूल (Bigopenings, vessels, ducts)
सुक्ष्म (minuite openings, duxts)
चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव (visible)
चाक्षुष प्रत्यक्ष असंभव (Invisible)
आभ्यंतर (internal Secretory orifices)
बहिर्स्रोतस (Eternal)
ऊर्ध्वग (upper trads)
अधोग (Lower tracts)
५
दोषवह
वातवह
पित्तवह
कफवह
(इनकी पृथक् स्थिति नहीं होती शरीरस्थ ये त्रिदोष सर्वगामी सर्वसंचारी।)
६
धातुवह
रस वह
रक्त वह
मांस वह
मेदो वह
अस्थि वह
मज्जा वह
शुक्र वह
स्तन्य वह
आर्तव वह
(स्त्रियों में ज्यादा के स्रोतस)
७
मलवह
पुरीषवह
मूत्र वह
स्वेदवह
८
महास्रोतस
मुख
अन्ननलिका (oesophagus)
आमाशय
ग्रहणी (Duodenum)
पक्वाशय (Large) intestine)
उण्डुक (Caecum)
गुद
उत्तरगुद
अधरगुद
प्राण स्रोतोमूल/ कोष्ठ/ आभ्यन्तर रोगमार्ग (Alimenlary caral)
९
अन्नवह स्रोतस
उदकवह स्रोतस
मुख
अन्न नलिका
आमाशय
अन्य स्रोतस १०
१. प्राणवह २. शब्दवह ३. नाभिस्रोतस ४. रोमकूपस्रोत ५ विपुलस्रोत (गर्भाशय) ६. मनोवह ७. चेतनावह ८. बुद्धिवह ९ चित्तवह १०. संज्ञावह ११. मर्मसंज्ञक १२. इन्द्रिय संज्ञक १३. इन्द्रिय प्राणवह —इनका भी आयुर्वेद ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है।

१) स्थूल स्त्रोतस–(Big openings, vessels and ducts) उदा-रसवह-रक्तवह इ० धातुवह स्त्रोतस, मलवह स्त्रोतस, महास्त्रोतस इ० (मुख से गुदपर्यन्त)

२) सूक्ष्म स्त्रोतस–(Minute openings, vessels and ducts) जो आँखों से दिखायी नहीं दे सकते।

उदा-संज्ञावह स्त्रोतस, मनोवह स्त्रोतस इ०

स्त्रोतांसि द्विविधानि-स्त्रोतांसि द्विविधान्याहु: सूक्ष्माणि च महन्ति च। महान्ति नव जानीयाद् द्वे चाध: सप्तवोपरि। नाभिश्च रोकूपश्च सूक्ष्म स्त्रोतांसि निर्दिशेत्।

-का०सं०शा० १०

१. चाक्षुष प्रत्यक्ष स्त्रोतस (visible)
२. चाक्षुष प्रत्यक्ष असंभव स्त्रोतस (Invisible)
} उपर्युक्त स्थूल-सूक्ष्म स्त्रोतस ही मानने चाहिये।

स्त्रोतांसि...शरीर धात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।

-च०सं०वि० ५

१. बहि: स्त्रोतस (External or Excretory orifices)

बाहर से दृश्यमान स्वरुपीय स्त्रोतस उदा–
स्वेदवह
मूत्रवह
पुरीषवह
स्तन्य वह इ०

२. आभ्यन्तर स्त्रोतस (Internal or Secretony onifices) बाहर से अदृश्य स्वरुपीय। शरीर की चिरफाड करके ही शरीरान्तर भाग में उनकी स्थिति देखी जा सकती है।

-अ०हृ०नि० १२

१) ऊर्ध्वग स्त्रोतस (Uppertracts)

२) अध: स्त्रोतस (Lower tracts) (Annal or urethral Passages)

-च०सं०वि० १८

१. वातवह स्रोतस
२. पित्त वह स्रोतस
३. कफ वह स्रोतस
} शरीर में इनके स्रोतसों की पृथक् नि [illegible] नहीं होती। शरीर में दोष सर्वत् संचारी होते हैं।

-च०सं०शा० ५

१. रसवह से शुक्रवह स्त्रोतस इस तरह सप्तधातुओं के सात स्रोतस।

२. स्तन्यवह स्रोतस<br>३. आर्तववह स्रोतस } → स्त्रियों में उपस्थित ज्यादा के स्रोतस।

इनमें से उपधातु स्तन्य (दूध) तथा रज (आर्तव) का वहन संपन्न होता है।

-च०सं०वि० ५-सु०सं०शा० ९

४. मलवह स्त्रोतस { पुरीष वह<br>मूत्र वह<br>स्वेद वह

-च०सं०वि० ५ -सु०सं०शा० ९

५. महास्त्रोतस – मुख से गुद भाग पर्यंत।

इसे ही प्राणवह स्त्रोतस का मूल कहा गया है। यही कोष्ठ है। यही आधुनिक शारीर क्रियोक्त (Alimentary canal)

> कोष्ठः पुनरुच्यते महास्त्रोतः शरीमध्यं महानिम्न नाम
> पक्वाशयश्चेति पर्याय शब्दै स्तंत्रै स रोगमार्ग आभ्यान्तरः।

-च०सं०सू० ११

> प्राणवह स्त्रोतसां मूले महास्त्रोतः।

-च०स०वि० ५

१) अन्नवह स्त्रोतस-

मुख-अन्नवाहिनी-आमाशयादि का इसमें अंतर्भाव।

अन्नवाही धमनी<br>अन्नविपाक नाड़ी<br>अन्ननाड़ी } ये शास्त्रोक्त पर्याय

२) उदकवह/अम्बुवह – (Paths of ciraulatory fluids) (Tubes of fluid circulation in the body)

स्वास्थ – अस्वास्थ्य से स्त्रोतस सम्बन्ध –

शरीर निर्मिति<br>शरीरस्थिति अर्थात् आरोग्य<br>एवं शरीर का अस्वास्थ्य } इन सबके लिये जिस तरह शरीरस्थ त्रिदोष कारणीभूत उसी तरह शरीरस्थ स्त्रोतस भी कारणीभूत।

सर्वेहि भावा: पुरुषेनान्तरेण स्त्रोतांस्यभि निवर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छति।

-च०स०वि० ५

आहार रस क्रम से — { रसादि सप्त धातु, उपधातु, पुरिषादि मल इ० की } — { उत्पत्ति, पुष्टि तथा विकृति इ० } — इन स्त्रोतसों में ही संपादित होती रहती है।

यथा स्वेनोष्मणा पाकं शरीरायान्ति धातव:<br>
स्त्रोतसा च यथास्वेन धातुर्हि पुष्यति धातुत:।

-च०सं०वि० ६

{ जाठराग्नि, धात्वाग्नि, भूताग्नि } — { इनके अविकृत रहने के जितना ही } — { शरीरस्थ स्त्रोतसों का } — { अवरोध दुष्टि वा विगुणता रहित } — होना

देहपुष्टि एवं शरीरस्थ चालनार्थ अनिवार्य होता है।

तदेतत् स्त्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्।

-च०सं०चि० ५

प्रज्ञापराधादि के कारण — { दोष प्रकोप संपादित होकर दोष उन्मार्गगामी होकर } — स्त्रोतसों में अवरोधादि लक्षण उत्पन्न कर देते हैं

जिससे धातुपुष्टि योग्य रूप से न होकर विकृति उत्पन्न होकर रोगोत्पत्ति संपादित होती है।

तानि अहित सेवनात् दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च।

-अ०हृ०शा० ३

स्त्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गता:<br>
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातव:।

-च०सं०चि० ८

## स्त्रोतो वैगुण्य

-दोष दुष्टिकर आहारविहार<br>
-स्त्रोतो विपरीत आहारविहार<br>
-दूषिताहार<br>
-विपरीताहार

} इ० के कारण { शरीरस्थ स्त्रोतसों की प्राकृत स्थिति नष्ट होकर उनमें विगुणता पैदा हो जाती हैं

तेषां सर्वेषामेव वात पित्त श्लेष्माण: प्रदुष्टा<br>
दूषयितारों भवन्ति दोषस्वभावादिति।

-च०सं०वि० ५

आहारश्च विहारश्च य: स्यात् दोषगुणै: सम:<br>
धातुभिर्विगुणश्चापि स्त्रोतसां स प्रदूषक:।

-च०सं०वि० ५

स्त्रोतस विकृति लक्षण

- स्त्रोतसों से अभिवाहित भाव की अतिप्रवृत्ति
- स्त्रोतसों से अभिवाहित भाव का सङ्ग-रोध।
- स्त्रोतसों से अभिवाहित भाव का विमार्ग गमन (दोष-धातु मलादिका)
- सिराओं में ग्रंथि उत्पत्ति (जिससे अभिवहन में अवरोध)

अति प्रवृत्ति सग्ङो वा सिराणां ग्रंथयोऽपिवा<br>
विमार्ग गमनं चापि स्त्रोतसां दुष्टिलक्षणम्।

-च०सं०वि० ५

१) दोषाति प्रवर्तन-

उस-उस दोष के अति प्रर्वतन के कारण उस-उस दोष के प्रकोपण जन्य विकारों की उत्पत्ति।

२) धातुमलादि अति प्रवर्तन-

उस-उस धातु वा मलादि के अति प्रवर्तन के कारण – उस-उस धातु वा मलदुष्टिजन्य विकारोत्पत्ति

२. सङ्ग--

उदा-पित्तसंग के कारण – पाकादि कर्महानि।

मलरूप पित्तसंग के कारण–कामला रोग उत्पत्ति।

रसादि धातुओं के सङ्ग के कारण–उत्तरोतर धातुओं का अपोषण, अनिल मूढता, गौरव, स्त्रोतोजन्य-आम दोष संचिति, बलभ्रंश, वातरोध इ० उत्पन्न।

इस सङ्ग नामक स्त्रोतो वैगुण्यका-व्याधि सम्प्राप्ति में अति महत्व।

प्रकुपित दोष (चिकीत्सा उपाय, प्रतिकारादि के अभाव में) उन्मार्गगामी होकर प्रसर-स्थान संश्रयादि अवस्था सम्पादित होते समय जहाँ स्त्रोतोरोधादि वैगुण्य होता है।

→वहाँ रोगोत्पत्ति संपादित कर देते हैं।

मतलब शरीर में दोष प्रकोपण संपन्न होने के बावजूद भी-रोगोत्पत्ति के लिये शरीर में ख वैगुण्य (उस शरीर स्थान में दुर्बलता-दोष इ०) यदि कहीं भी न हुआ तो दोष प्रकुपित होते हुये भी रोगोत्पत्ति नहीं कर पाता।

कुपितानांहि दोषाणां शरीरे परिधावनाम्

यत्र सगङः ख वैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।

-सु०सं०सू० २४

क्षिप्यमाण: ख वैगुण्याद् रस: सज्जति यत्रस:

करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः।

-च०सं०चि० १५

स्त्रोतसावरोध–

जाठराग्नि दुर्बलता के कारण उत्पन्न आम (अपक्व आहार) दोष शरीरस्थ धात्वग्नियों को भी सामत्व प्रदान कर देता है। (आमेण सहितं सामम्।)

ये साम दोष धात्वादि { उनके स्त्रोतसों से वाहित होते समय } उन स्त्रोतसों में अवरोध उत्पन्न कर देते हैं।

आमेन तेन संपृक्ता दोषादूष्याश्च मूर्च्छिता:

सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा:।।

स्त्रोतोरोध बलभ्रंश गौरवनिल मूढता।

. -अ०हृ०सू० १३.

**प्राण: स्त्रोतांसि मर्माणि संरूच्योष्माणमेव च**

-च०सं०चि० १७.

**स्त्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ता: केवलं देहमुल्बणा:**
**सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा।।**
**भवत्युष्ण सर्वाङ्गे ज्वरितस्तेन चोच्यते।**

-च०सं०चि० ३.

**यदा स्त्रोतांसि संरुद्धय: मारुत: कफपूर्वक:**
**विष्वम् व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति हि।**

-च०सं०चि० १७.

स्त्रोतसां सन्निरोधात्. . . राजयक्ष्मा प्रवर्तते।

-च॰सं॰चि॰८.

स्त्रोतस यदि प्राकृत एवं स्वच्छ (अमलिन-मलहीन-अवरोधहीन) हुये तो समस्त धातूत्पत्ति एवं उनकी पुष्टि इ॰ सम्यक्रूपेण सम्पादित होती है।

इसीलिये { रसायन / वाजीकरण } चिकीत्सा आरंभ करने से पर्व { स्त्रोतोशुद्धि कर लेना अनिवार्यत: आवश्यक हो जाता है।

कारण रसायन चिकीत्सा आरंभ कर लेने पर भी यदि स्त्रोतस मलीन एवं अवरुद्ध हुये(पहले उनका संशोधन न कर लेने के कारण) तो चिकीत्सा का[ रसायन चिकीत्सा देने का] उद्देश्य सफल नहीं हो पात।

दोषैर्वापित्त कफै: कफोल्वणत्वात् स्त्रोतोद्धारेषु रुद्धेषु पिहितेषु सत्सुरस: स्वस्थान एव विदह्यमानो न सम्यक् रक्ततां प्राप्नुवत् स्तास्तांननेका द्रुपद्रवान् कुर्यात्।

-अ॰हृ॰नि॰ ५.

१. उष्ण जल– यह स्त्रोतोशोधक माना गया है।

उष्णं जलं स्त्रोतसा शोधनं बल्यं रुचि स्वेदकरं परम्।

-च॰सं॰चि॰ ३.

२. मण्ड – स्त्रोतसों को मार्दव प्रदान करने वाली।

-च॰सं॰सू २९.

३. सुरा – स्त्रोतो विशोधक। च॰स॰सू॰ १९३.

४. हरीतकी – स्त्रोतसस्थ विबन्ध हारक।

५. मद्य – स्त्रोतोविबन्धनुत्। -च॰सं॰चि॰ २४.

महर्षि चरक ने यक्ष्मा रोग वर्णन में-स्त्रोतोविबन्ध मुक्त्यर्थ-सुरा-आसव-अरिष्ट प्रयोग वर्णन किये हुये।

-च॰सं॰चि॰ ८.

विरेचन एवं निरुह से – स्त्रोतोशुद्धि संपादित होकर वायु निर्विरोध (अबाध रूप से) स्वस्थानों में संचार कर सकता है, ओर इस स्थिति में-वायु के प्राकृत कार्य संपन्न हो पाते हैं।

-च॰सं॰सि॰ १.

स्त्रोतोसों के मेदावृत्त हो जाने पर अन्य धातुओं का पोषण सम्पादित नहीं हो पाता। मेद से वायु का मार्गावरोध हो जाता है। इस तरह से वायु का स्त्रोतसावरोध होने की इस स्थिति में वायु कोष्ठस्थ बनकर ही रह जाता है।

**मेदस्वावृत मार्गत्वाद् वायुः कोष्ठे विशेषतः।**

-मा॰नि॰.

जब बच्चा मिट्टी खाता है तब वह भक्षित की गयी मिट्टी रसादि धातुओं के स्त्रोंसों में अवरोध उत्पन्न कर (उसका शरीर में पचन न हो पाने के कारण) उन्हें प्रदुष्ट कर देती है (मार्गावरोध जन्य दुष्टि) तथा भुक्त आहार की वह मिट्टी अपने स्वयं के रुक्ष गुण के कारण रुक्षता प्रदान कर देती है, जिसके द्वारा आहार का योग्य परिपाक नहीं हो पाता। वह अपक्व अन्नांश तथा वह मिट्टी इन दोनों के द्वारा स्त्रोतसावरोध में वृद्धि हो जाती है और इससे पाण्डु रोग की उत्पत्ति संपन्न हो जाती है।

-च॰सं॰चि॰ १६.

सन्निपात ज्वर में=मुख नासादि स्त्रोतों का पाक सम्पादित हो जाता है।

**स्त्रोतसां पाकः मुखनासादि रन्ध्राणां पाकः।**

-च॰सं॰चि॰ ३ -चक्र.
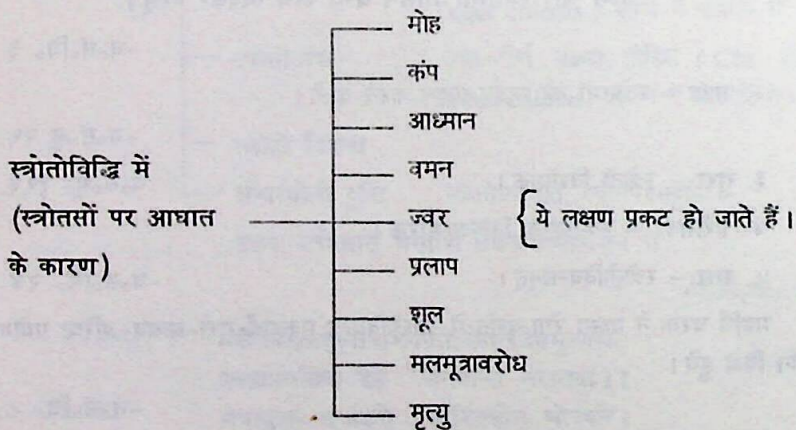
## १. अन्नवह स्त्रोतस -(Alimentary Canal)

**स्त्रोतोमूल** - आमाशय एवं अन्नवह धमनियाँ। महर्षि चरक ने 'वामपार्श्व' को भी स्त्रोतोमूल बताया है।

अन्नवहानां स्त्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वम्
प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष विज्ञानं भवति।
तद्यथा–अनन्नाभिलषणम् अरोचका विपाकी छर्दि च
दुष्टान्नवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदूष्टानीति विद्यात्।

-च०सं०वि० ५.

विद्धलक्षण – आध्मान-शूल-अन्नद्वेष, छर्दि-पिपासा-अन्धत्व मृत्यु।

अन्नवहे द्वे तयोर्मूलमामाशयोऽन्न वाहिन्यश्च धमन्य:
तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दी पिपासाऽन्ध्यं मरणं च।

-सु०सं०शा० ९.

दुष्टि कारण – अकाल सेवन-अहितकर सेवन, अतिमात्रा में सेवन-अग्निविकृति।

दुष्टिलक्षण – अनन्नाभिलाषा-अरोचक-अविपाक-छर्दि

अतिमात्रस्यचाकालेचाहितस्य भोजनात
अन्नवाहिनी दूष्यन्ति वैगुण्यात्पावकस्य च।

-च०सं०वि० ५

आयुर्वेदोक्त 'अन्नवहा नाडी' अर्थात – मुख से गुदा पर्यन्त का भाग (**Alimentary canal**).

आयुर्वेदोक्त 'अन्नवहा धमनी' अर्थात– आंत्रस्थित सिरायें (**Veins**) तथा पयस्विनी (**Lacteals**)

**२. उदक वह स्त्रोतस** – (अम्बुमार्ग-अम्बुवह स्त्रोतस जलवहा नाडी-अपांवाही स्त्रोत)

**स्त्रोतसमूल**– उदकवह स्त्रोतस २। उनका मूल–तालु एवं क्लोम।

**विद्धलक्षण** – अति तृषा-मृत्यु। (सु०)

**दुष्टि लक्षण** – जिव्हा-तालु-कंठ-क्लोम-ओष्ठ

इनमें अति शुष्कतानुभूति तथा अति पिपासा (च०)

**उदकवहे द्वे तयोर्मूलं तालुक्लोमं च**
**तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च।**

**-सु०सं०शा० ९.**

**उदकवहानां स्त्रोतसां तालुमुलं क्लोम च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष विज्ञानं**

भवति तद्यथा-जिव्हा ताल्वोष्ठ कंठ क्लोम शोषं पिपासामतिवृद्धां दृष्टोष्क वहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदूष्टानीति विद्यात्।

-च०सं०वि० ५.

दुष्टिकारण – अति उष्मा, आम दोष, भय, मद्यपान, अति शुष्कान्नसेवन, तृषानिरोध (च०) और इसके लिये तृष्णोपशमनी चिकीत्सा।

औष्ण्यादामाद् भवात्पानादति शुष्कान्नसेवनात्
अम्बु वाहिनी दूष्यन्ति तृष्णायाचाति पीडनात्।

-च०सं०वि० ५.

बस्ति – यह अम्बुवह स्त्रोतस का अधिष्ठान वा मूल।

जिस तरह समुद्र समस्त नदियों का अधिष्ठान होता हैं, उसी तरह समस्त अम्बुवह स्त्रोतसों का अधिष्ठान बस्ति होती है।

बस्तिस्तु...मूत्राधारोम्बु वहानां सर्वस्त्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा।

-च०सं०सि० ९.

**क्लोम** – आचार्य चक्रपाणि के अनुसार यह हृत्समीप होकर यही पिपासास्थान है। इनकी गणना कोष्ठांगों में की गयी है।

म०म० आचार्य गणनाथ सेन के अनुसार क्लोम अर्थात् 'Trachea'। कुछ विद्वानों के अनुसार अग्न्याशय ही क्लोम है। तो कुछ के मतानुसार फेफड़े (फुफ्फुस-Lungs)। एक जगह 'Cerbrospinal column' को क्लोम कहा गया उपलब्ध होता है।

प्रत्यक्ष शारीर अनुसार – तालु (Palate), क्लोम (Trachea) (Pancreas) में प्रविष्ट होने वाले समस्त रसवह स्त्रोतस (Lymphatics), धातु अवकाश में स्थित जलाशय (Water depots of tissues), ग्रसनिका-मूत्रनलिका एवं आंत्रस्थित रसायनी (Phanyngeal-Renal-mesentric and lymphatic vessels) होने का अनुमान होता है। अर्थात् तरल वहन करने वाले (Paths of ciraulatory fluids or Tubes of fluid circulation) समस्त मार्गों का ग्रहण हो जाता है।

-कायचिकीत्सा-आचार्य रामरक्ष पाठक.

| | |
|---|---|
| उदररोग<br>जलोदर<br>शोथ<br>तृष्णा | } इ० व्याधियों की सम्प्राप्ति में अम्बुवह स्त्रोतोदुष्टि का वर्णन उपलब्ध होता है। |

३. **प्राणवह स्त्रोतस** – (वातवह स्त्रोतस, वातोदानवह स्त्रोतस)

**स्त्रोतोमूल** – हृदय एवं महास्त्रोतस (Alimentary canal)

**दुष्टि कारण** – मलमूत्रादि वेग धारण, धातुक्षय, रुक्षान्न सेवन, अति व्यायाम, क्षुधा, अतृप्तता, शक्ति से कई गुना ज्यादा अचाट कर्म करना।

**दुष्टि लक्षण** – श्वसनवृद्धि – कृच्छ्रश्वसन, सशब्द/सकष्ट उच्छ्वसन।

**प्राणवहानां स्त्रोतसां हृदयं मूलं महास्त्रोतश्च प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष विज्ञानं भवति। तद्यथा–अतिसृष्ट मतिविद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्द शुजूच्छवरुनं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदूष्टानीति विद्यात्।**

-च०सं०नि० ५.

**क्षयात् सन्धारणात् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च। प्राणवाहिनी दूष्यन्ति स्त्रोतांस्यनैश्च दारुणै:।**

-च०सं०वि० ५.

ये स्त्रोतस प्राणवायु का वहन करते हैं। सामान्यत: वायु के स्त्रोत तो सभी धमनियाँ होती हैं।

-चक्र.

**प्राणवहानामिति प्राणसंज्ञ' वातवहानां। एतरेच प्राणाख्य विशिष्टस्य वायोर्विशिष्ट स्त्रोत: सामान्येन तु वायो: सर्व एव धमन्य इति न विरोध:।**

-चक्र.

**आचार्य सुश्रुत के अनुसार** – प्राणवह स्त्रोतस दो हैं। प्राणवह **स्त्रोतस मूल** हृदय एवं रसवह धमनियाँ होती है।

**विद्धलक्षण** – आक्रोशन-विनमन (शरीर झुक जाना) पीठ में कूबड़ निकल आना (जैसी तमक श्वास के रोगी में स्थिति दिखायी देती है।) मोह-(मूर्च्छा)-भ्रम कंप-मरण।

**तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्य:। तत्र विद्धस्य आक्रोशन-विनमन-मोहन-भ्रमण वेपनादि मरणं वा भवति।**

-सु०सं०शा० ९

शोष (च०वि० ६/४), (प्रतिश्याय), श्वास (अ०हृ०नि० ४) (मा० नि०) हिक्का (च०चि०१७/१७) (च०सं०चि० १७/२७).

की सम्प्राप्ति में प्राणवह स्त्रोतोदुष्टि का उल्लेख किया हुआ दिखायी देता है।

श्वास रोग चिकीत्सावत् – प्राणवह स्त्रोतस दुष्टि चिकीत्सा की तरह निर्देशित की हुयी दिखायी देती है।

**प्राणवहानां दुष्टानां कार्या श्वासिकी क्रिया।**

-च०सं०वि० ५.

इस समस्त वर्णन के आधार पर प्रत्यक्ष शारीर दृष्टि से समस्त श्वसन प्रणालि (Respiratory tract)

यही प्राणवह स्त्रोतस होना चाहिये ऐसा लगता है।

रक्तवाहिनियाँ (Arteries - Pulmonary veins) के द्वारा भी प्राणवायु अभिवहन होते रहने के कारण प्राणवह स्त्रोतस अंतर्गत ही आ जाते हैं।

**४. रसवह स्त्रोतस** – (रसवहा धमनी-रसवर्त्म)

महर्षि चरक के अनुसार –

**स्त्रोतोमूल**- हृदय एवं दश धमनियाँ

**दुष्टिकारण**- गुरु-शीत-अति स्निग्ध- अति मात्रा में सेवन, अपथ्याहार-अति चिन्ता-

**दुष्टि लक्षण**--धातु प्रदोषज विकारोत्पत्ति

आचार्य सुश्रुत के अनुसार –

रसवह स्त्रोतस २

**स्त्रोतोमूल** – हृदय एवं रसवाही धमनियाँ।

**विद्ध लक्षण** – (धातुशोष) शोष, प्राणवह स्त्रोतस विद्ध लक्षणों की तरह-मृत्यु।

**रसवहानां स्त्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्य:।**

-च०सं०वि० ५.

**रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं, रसवाहिन्यश्च धमन्य:**
**तत्र विद्धस्य शोष: प्राणवह विद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च।**

-सु०सं०शा. ९.

**गुरु शीतमतिस्निग्धं अति मात्र समश्नताम्**
**रसवाहिनी दूष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्।**

-च०सं०वि० ५.

**रसदुष्टिजन्य व्याधि –**

भोजन अश्रद्धा - अरुचि - आस्य वैरस्य (मुँह को स्वाद न होना, सुरुचिपूर्ण भोजन भी मिट्टी की तरह बेस्वाद लगना)

रस अज्ञान – हृल्लास (Nausea)

अंगगौरवानुभूति, तन्द्रा – अङ्गमर्द,

ज्वर-तिमिर (आँखों के आगे अँधेरा आना)

देह प्राण्डुत्व, स्त्रोतोरोध-क्लैब्य (Impotency) सदन (शैथिल्य)

कार्श्य, अग्निनाश, वलि (त्वचा पर झुर्रिया पड़ना,) पलित-खालित्य (अकाली बाल पकना, तथा बाल झड़कर टक्कल पड़ना)

ज्वर (च०सं०नि० १, च०सं०चि० ३)
सन्तत ज्वर (च०सं०चि० ७)
यक्ष्मा (सु०सं०उ० ३९)
} के सम्प्राप्ति वर्णन में रसवह स्त्रोतस दुष्टि का वर्णन आया हुआ दिखायी देता है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार समस्त संवाही स्त्रोत (Circulatory tract) –ये ही रसवह स्त्रोतस होने चाहिये–ऐसा लगता है।

हृदय से निःसृत
व
हृदय में प्रविष्ट होने वाली
} सिरा एवं धमनियाँ (Veins and arteries) तथा इसमे अंतर्भूत होने वालीं रसायनी (lymphatics)
→ ये रसवह स्त्रोत।

शरीरस्थ रस धातु } तुष्टि-प्रीणन रक्त पुष्टि } कार्य को संपादित करता है।

शरीर का { स्थौल्य, कार्श्य इ० } रस की वृद्धि एवं क्षय पर अवलंबित।

रस धातु – समस्तु धातुओं का पोषक अत: उसे 'ओज' के नाम से भी सम्बोधित किया हुआ दिखाई देता है।

**५. रक्तवह स्त्रोतस:-**

शोणित वह
रुधिरवह
असृग्वह
रक्तवहा धमनी
} स्त्रोतस

**महर्षि चरक के अनुसार**

**स्त्रोतोमूल** यकृत्प्लीहा।

**दुष्टिकारण** विदाही अन्नपान, स्निग्ध-उष्ण-द्रवाति सेवन

आतप } अति सेवन।
अग्नि

दुष्टि लक्षण -- रक्तप्रदोषज उन समस्त लक्षणों का अंतर्भाव।

कुष्ठ--विरुर्प--रक्तपित्त अस्‌ग्--पीडका

मुख
जननेन्द्रिय } पाकोत्पत्ति।
गुद

विद्रधि--रक्तजगुल्म

तिलकालक--न्यच्छ--प्लीहावृद्धि

नीलिका--वांग--पिप्लु

चर्मदल--दद्रु--पामा

श्वित्र (Leucoderma)

पामा (Scabies)

कामला--कोठ

रक्तमण्डल इ०।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार--

रक्तवह स्त्रोतस २

स्त्रोतसमूल- यकृतप्लीहा; रक्तवह धमनियाँ

विद्ध लक्षण- ज्वर-दाह-श्यावाङ्गता-पाण्डुता-रक्तपित्त-रक्तनेत्र इ०

शोणित वहानां स्त्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च।

-च०सं०वि० ५.

रक्तवहे द्वे तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्य: तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाह: पाण्डुता शोणिता गमनं रक्तनेत्रता च।

-सु०सं०वि० ५.

विदाहिनी अन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च
रक्तवाहिनी दूष्यन्ति भजतां चातपानलौ।

-च०सं०वि० ५.

रक्तपित्त } सम्प्राप्ति वर्णन में रक्तवह स्त्रोतसदुष्टिका
राजयक्ष्मा } उल्लेख प्राप्त होता है।

उपर्युक्त वर्णन से – शरीरस्थ नीला-रोहिणी (Veins & capillaries) केशिकायें (Capillaries) ऊर्ध्वमहानीला (Sup. Venacava), अधो महानीला (Inf. Venacava), फुफ्फुस रोहिणियाँ (Pul. arteries) इ० रक्तवाहिकायें, यकृत-प्लीहा-गर्भाशय इ० समस्त अङ्गस्थ रक्तवाहिकायें (Splenic-Portal Portion of circulatory tract, Hepatic Veins, Blood vessels of genital organs, vaginal orifice, uterus ete.) फुपुसस्थ अनेक नीला ये एवं रोहिणियाँ-केशिकायें, हृत् पोषणी रक्तवाहिनियाँ (Coronary arteries and veins)

आदि सबका आयुर्वेदोक्त रक्तवह स्रोतस में समावेश हो जाता है-ऐसा लगता है।

६. मांस वह स्रोतस–

महर्षि चरक के अनुसार–

स्रोतसमूल– स्नायु एवं त्वक्।

दुष्टिकारण– अभिष्यंदी-स्थूल गुरु आहार, भोजनोत्तर दिवाशयन।

दुष्टि विकार– अधिमांस-अर्बुद-अलजी, पूतिमांस-चर्मकील-गंडमाल-गलशालुक-उपजिव्हीका,

आचार्य सुश्रुत के अनुसार–

मांसवह स्रोतस २

स्रोतोमूल– स्नायु-त्वक्, रक्तवह धमनियाँ

विद्धलक्षण– सिराग्रंथि-शोथ, मांस शोष-मृत्यु।

मांसवहानां स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च।

-च०सं०वि० ५.

मांसवहे द्वे तयोर्मूलं स्नायु त्वचं रक्तवहाश्च धमन्य:
तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांस शोष: सिराग्रंथयो मरणं च।

-सु०सं०सू० ९.

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च
मांसवाहिनी दूष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपनं दिवा।

-च०सं०वि० ५.

श्रुणु मांस प्रदोषजाम्।
अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालुक शुण्डिके
विद्यान् मांसा श्रयान्.....।

-च-सं-सू- २८

इस वर्णन के अनुसार –

**Capillaries and nerve endings of the muscular fibers and tissues ..............muscles and ligments.**

इ० को प्राचीनोक्त मांसवह स्रोतस कहा जा सकेगा–ऐसा लगता है। जिस प्रकार सुबद्ध लकड़ी के तंख्ते नौका के रूप में, जल में स्व बल से सभी प्रकार का भारवहन करने में क्षम होते हैं, उसी प्रकार शरीर में संधिस्थानीय सुबद्ध स्नायुओं के कारण शरीर समस्त भारों का वहन करने में क्षम होता है।

–सु०सं०शा० ५

'मांसपेशी' यह नाम उस समस्त अवयव का होता है तो स्नायु(tendons) ये मांसपेशीय कठोर प्रतान होते हैं, जिनमें मांस आबद्ध होता है।

कंडराओं का अंतर्भाव भी शरीरस्थ स्नायु में ही हो जाता है।

### ७. मेदोवह स्रोतस (मेदोवहा नाड़ी)–

आचार्य चरक के अनुसार–स्रोतो मूल–वृक्क एवं वपावहन।

चक्रपाणिदत्त के अनुसार–स्रातोमूल–उदरप्रदेश स्थित स्निग्ध वर्तिका वा तैलवार्तिका–वपावहन।

दुष्टिकारण–अव्यायाम (अवास्तव रूपेण अति आराम करना, सुखोपभोग में शरीर को निष्क्रिय बना देना–परिश्रमहीनता) दिवास्वप्न (दिनमें हररोज खूब सोना) मेदस्वी मांस सेवनाभ्यास, स्निग्धद्रव्य सेवनाभ्यास, मद्याति सेवन।

दुष्टिलक्षण–मेदोधातु दुष्टि के कारण उत्पन्न होने वाले समस्त विकार।

उदा०–स्थौल्य (obesity) प्रमेह (Dibetes Mellatus), आयुह्रास इ०।

आचार्य सुश्रुत एवं चक्रपाणिदत्त के अनुसार–स्रोतस २

स्रोतोमूल–शरीरस्थ दो वृक्क(kidneys) तथा कटि (अतिन्द्रिय गम्य विषय)

विद्धलक्षण–स्वेदागमनं, अतिस्वेद, स्निग्धांगता, अंगदौर्गन्ध्य (पसीना बहुत आने की, पवृत्ति के कारण), आलस्य, भीरुता (मोटे आदमी बहुत डरपोक होते हैं।)

अकर्मण्यता, तालुशोष, स्थूल शोफ, पिपासा (मेदो वृद्धि में बहुत प्यास लगती है।)

**मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च।**

–च०सं०वि०. ५

वपावहनम्–वपा उदरस्था स्निग्धवर्तिका यामाहुर्जनास्तैलवर्तिकेति सुश्रुते तु

मेदोवहानां मूलं वृक्कौ कटि च। इत्युक्तं तदत्रातीन्द्रियार्थदर्शि गम्ये नास्माद्विधानं बुद्धया प्रभवन्ति।

–चक्र०

मेदोवहे द्वे तयोर्मूलं कटि वृक्कौ च तत्र विद्धश्च स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोष: स्थूलशोफता पिपासां च।

–सु०सं०शा० ९

अव्यायामा त्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्
मेदोवाहिनी दूष्यन्ति वारुण्याश्चाति सेवनात्।

–च०सं०वि० ५

| शरीर में– | उदर प्रदेश एवं नितम्ब प्रदेश | } | मेदसंचिति के प्रधान स्थान |
|---|---|---|---|

अत: वपावहन शब्द से omentum तथा कटि शब्द से नितम्ब प्रदेश का ग्रहण कर लेने से योग्य अर्थ प्राप्ति हो जाती है।

वृक्क से वृक्क शीर्षस्थ अधिवल्क ग्रंथि (suprarenal glands) यह अर्थ अभिप्रेत हो- ऐसा लगता है।

## ८. अस्थिवह स्रोतस–

स्रोतोमूल–मेद–जघन (द्रवरूप पोषक अस्थि धातु का वहन करने वाले स्रोतस ही अस्थिवह स्रोतस कहलाते हैं।)

दुष्टिकारण–अति व्यायाम–अति संक्षोभ, अस्थियों का अतिविघट्टन, वातकर आहार विहार का अतिसेवन।

दुष्टिलक्षण–अध्यस्थि (हड्डी पर वृद्धि–दाँत पर दाँत उगना इ०) अधिदन्त (दाँत पर दाँत आना), दन्त भेद, दन्तशूल–अस्थिभेद (अस्थि में फूटने जैसा तिव्रशूल), अस्थिशूल, विवर्णता (सामान्य वर्ण त्वचा का निस्तेज हो जाना। Pallor)। केश-लोम-नख-श्मश्रु के विकार। (ये अस्थि के मल होने के कारण अस्थिविकृति का इन पर भी वि कृत परिणाम होना अनिवार्य हो जाता है।)

अस्थिवहानां स्रोतसां मेदोर्मूलं जंघनं च।

–च०सं०वि० ५

अस्थ्यपि द्रवरूपमस्येव स्रोतोबाह्यमिति कृत्वा अस्थिवहानां इत्युक्तम्।

–चक्र०

व्यायामादतिसंक्षोभात् अस्थ्नामति विघट्टनात्
अस्थिवाहिनी दूष्यन्ति वातलानां च सेवनात्।

–च०सं०वि० ५

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेद शूलं विवर्णता
केशलोमनखश्मश्रु दोपाश्चास्थि प्रदोषजाः।

–च०सं०सू० २८

९. मज्जावह स्रोतस (Medullary canals/Marrow spaces)

स्रोतस मूल–अस्थि एवं सन्धि।

दुष्टिकरण–उत्पेषण, अति अभिष्यन्दी सेवन, विरुद्धाहार, तिव्रपीडन–अभिघात।

दुष्टिलक्षण–मज्जाधातु दुष्टिजन्य विभिन्न विकारोत्पत्ति। पर्व (लघुसंधि–ऊँगलियों के अस्थिसंधि) शूल। मूर्च्छा। तमोदर्शन (आँखों के आगे अँधेरा छा जाना)। भ्रम (चक्कर आना-vertigo)। पर्वस्थान में स्थूलमूलयुक्त पीडका उत्पन्न होना।

मज्जवहानां स्रोतसां अस्थीनिमूलं सन्धयश्च।

–च०सं०वि० ५

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्
मज्जवाहिनी दूष्यन्ति विरुद्धनांच सेवनात्।

–च०सं०वि० ५

रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा
अरुंषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्।।
मज्जा प्रदोषजान्............................।

–च०सं०सू० २८

मेद एवं मज्जा → इन दोनों का स्थान → अस्थियों का सुषिर (सच्छिद्र) भाग होता है।

आचार्य सुश्रुत के मतानुसार–अण्वस्थि सच्छिद्र भागों में एवं महदस्थि सच्छिद्र भागों में मेद मज्जा होती है।

मेदोहि सर्वभूतानामुदरस्थ मण्वस्थिषु च
महत्सु च मज्जा भवति।

–सु०सं०शा० ४

१०. **शुक्रवह स्रोतस**–(शुक्रवहा नाड़ी-रेतोवहा सिरा)

**महर्षि चरक के अनुसार–स्रोतोमूल (Testes) तथा शेफस् (Penis)**

**दुष्टिलक्षण**–शुक्रधातु दुष्टिजन्य उन समस्त विकारों की उत्पत्ति, क्लैब्य (Impotency) लिङ्गोत्थान न हो पाना, अप्रहर्ष (व्यवायेच्छा न होना, व्यवायकर्म में आनन्द प्राप्त न होना), लिङ्ग (Penis) विरूप-रुक्ष (लिङ्ग छोटासा, झुर्रियों से युक्त-वक्रतायुक्त इ०)।

गर्भाधान अक्षमता(Azoospermia), व्यवाय असमर्थता (संभोग में लिङ्गोत्थान अभावके कारण लिङ्ग योनि में प्रविष्ट न हो पाना, यदि जैसे तैसे प्रविष्ट करवा दिया जाय तो क्षण भर में योनि के बाहर निकल जाना इ०)।

गर्भाधान कभी हो भी जाये तो गर्भस्राव (Miscarriage) गर्भपात (Abortion) विकृताङ्ग सन्तति इ०।

**आचार्य सुश्रुत के अनुसार**–शुक्रवह स्रोतस २।

**स्रोतोमूल**–वृषणौ-स्तन।

**विद्धलक्षण**–क्लैब्य (नपुंसकता) अति विलम्ब से शुक्र प्रवृत्ति, सरक्त शुक्र प्रवृत्ति।

वृषणों को तथा शेफस् अर्थात् लिङ्ग (Penis) को शुक्रवह स्रोतसों का मूल (origin) माना गया है फिर भी शुक्रवह स्रोतसों के द्वारा वृषणों में शुक्र समस्त शरीराङ्गों से स्यंदित किया जाता रहता है।

**स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् समन्ताच्छुक्रवाहिभिः।**

–च०सं०चि० १५

**(Spermatic cord—Epididimus Vas-Deferens—Seminal vesicles)**

तद्वतहि पौरुष ग्रन्थि के समस्त स्रोतसों का–**Efferent ducts, Epididimis, vas deferens—Ejaculatory ducts** इ० का आयुर्वेदोक्त शुक्रवह स्रोतसों में ग्रहण हो जाता है।

**–'कायचिकित्सा–आ० रामरक्ष पाठक'**

११. **पुरीषवह स्रोतस**–(वर्चोवह स्रोत, विड्वह स्रोत, मलवहा नाड़ी)

**महर्षि चरकानुसार–स्रोतोमूल–पक्वाशय एवं गुद।**

**विकृतिकारण**–मलवेग धारण करना, अत्यशन (अतिमात्रा में खाना) अजीर्ण–अध्यशन (पेट भर भोजन कर लेने के उपरान्त भी केवल जिव्हालौल्य के वशिभूत होकर पुनः खाने बैठ जाना) कार्श्य (शरीर में कृशता उत्पन्न हाने के साथ ही साथ वातप्रकोप भी हो जाता है।) दुर्बलाग्नि।

दुष्टिलक्षण–सकष्ट मल प्रवृत्ति {खूब कुंथन क्रिया (कींछना–जोर लगाना) के उपरान्त शुष्क-अल्प, सी पुरीष प्रवृत्ति होना}। अत्यल्प मल (मल की रूक्षता के कारण) अत्यधिक मल, अति द्रव मल, सशब्द–सशूल मल प्रवृत्ति (अग्नि दौर्बल्य से निर्मित आमादि के कारण से)।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार–पुरुषवह स्रोतस २।

स्रोतोमूल–पक्वाशय–गुदा।

विद्धलक्षण–आनाह (flatulance) मल दौर्गन्ध्य, ग्रंथितांत्रता।

पुरीष वहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलमुदं च प्रदुष्यनां तु खल्वेषमिदं विशेष विज्ञानं भवति तद्यथा कृच्छ्रोताल्याल्पसशब्द शूलमतिद्रवमतिग्रंथित–मति चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहानां स्रोतांसि प्रदूष्टानीति विद्यात्।

–च०सं०वि० ५

पुरीषवहे द्वे तयोर्मूलंक्तं पक्वाशयो गुदं च।
तत्र विघ्दस्य आनाहो दुर्गन्धितांत्रता च।

-सु० सं० शा० ९

सन्धारणादत्यशनाद् जीर्णाध्यशनातथा
वर्चोवाहिनी दूष्यन्ति दुर्बलाग्ने कृशस्य च।

-च० सं० वि० २०

छर्दि रोग के उपद्रव वर्णन में<br>उदावर्त रोग के सम्प्राप्ति वर्णन में } मलवह स्रोतस दुष्टि का वर्णन किया हुआ उपलब्ध होता है।

-च० सं० वि० २०-

इससे–महास्रोतस का(Alimentary canal) आमान्न परिपाक संपन्न होने वाला भाग (Smallintestive) तथा स्थूलान्त्र (Largeintestive) का ग्रहण किया सा सकता है।

१२. मूत्रवह स्रोतस- (मूत्रवहा नाड़ी)

महर्षि चरक के अनुसार–

स्रोतोमूल-बस्ति एवं वंक्षण

दुष्टि कारण-मलप्रवृति के आवेग के समय पानी पीना। भोजनोत्तर तत्काल संभोग करना मूत्रवेगावरोध अतिक्षीणता-क्षत।

दुष्टि लक्षण- अति मूत्रप्रवृत्ति, मुहुर्मुहु मूत्रावेग, सकष्ट मूत्रप्रवृत्ति (जैसे–पूयमेह

(Gonorrhoea) में खूब कींछकींछकर (जोर लगाकर) बूँद-बूँद मूत्र प्रवृति अति कष्ट के साथ होना), गँदला मूत्र, मूत्र को घनता (Sp.Gr.) हुयी बढ़ी सरल सरक्त मूत्रप्रवृत्ति।

आचार्य सुश्रुत के मतानुसार–

मूत्रवह स्रोतस २।

स्रोतोमूल- बस्ति एवं मेढ्र

विध्दलक्षण- आनध्द बस्तिता {बस्ति (urinary bladder), मूत्र से भरी हुयी होना} मूत्र निरोध, मूत्र प्रवृत्ति न होना, स्तब्ध मेढ्रता।

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलंवंक्षणौ च प्रदुष्टानां तु खल्वेषमिदं विशेष विज्ञानं भवित तद्यथा अतिसृष्ट मतिबध्दं प्रकुपित मल्पाल्पमभीक्ष्णं वाबहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्र वहान्यस्य स्रोतांसि प्रदूष्टानीति विद्यात्।

-च० सं० वि० ५-

मूत्रवहे द्वे तयोर्मूलं बस्तिमेढ्रं च
तत्र विध्दस्य आनध्दबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च।

-सु० सं० शा० ९-

मूत्रितोदकभक्त स्त्रीसेवनंम् मूत्र निग्रहात्
मूत्रवाहिनी दूष्यन्ति क्षीणस्याति क्षतस्य च।

-च० सं० वि० ५-

आचार्य सुश्रुत के अनुसार-

इसका स्थान बस्ति द्वार के नीचे दक्षिण भाग में। नदियाँ जिस तरह जाकर समुद्र को भरती हैं तद्वतही मूत्र सदैव मूत्राशयका (urinary bladder) तर्पण करता रहता है। इसके हजारों हजार मुख अति सूक्ष्मतम होने के कारण सादी आँखों से (with naked eyes) दिखायी नहीं दे पाते।

सिराओं के द्वारा शरीरस्थ ज्यादा का जलीय भाग (excess of water) बस्तिमें लाकर छोड़ा जाता है। और इस स्थिति में इसे 'मूत्र' संज्ञा प्राप्त होती है।

पक्वाशय गतं नाडयो मूत्रवहास्तु याः
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरिताः सागरंयथा।।
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्त्रशः।

-सु० सं० वि० ३

सिराभि स्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वामाप्नुयात्।

-सु०

प्रमेह-अश्मरी-रोगों की सम्प्राप्ति में
मूत्रवह स्रोतसों में मूत्र अटक जाने
के कारण मूत्राघात
मूत्रमार्ग पर आघात से-मूत्रकृच्छ्र
शर्करामेह-शनैर्मेह-मूत्रशूल
निरूद्ध प्रकश (Phymosis)

में मूत्रवह स्रोतस विषय में विवेचन उपलब्ध होता है।

-मूत्रवह स्त्रोतसावरोध

-च० सं० वि० ५-च० सं० चि०-९
-च० सं० नि० ४-च० सं० वि०-९
-सु० सं० नि० ३-सु० सं० नि०-६

Urinary tract की समस्त प्रणलियों का (tubules) मूत्रवह स्रोतस में अन्तर्भाव हो जाता है।

१३. स्वेदवह स्रोतस:-

{बाहय स्रोत-स्वेदवहा धमनी}

स्रोतसमूल- मेंद एवं लोमकूप।

दुष्टिलक्षण- अस्वेद-अल्पस्वेद, अत्यधिक स्वेद-त्वक् पारुष्य, त्वचाति स्निग्धता-अंडगपरिदाह, लोम हर्ष।

दुष्टिकारण- अति व्यायाम-अतिसन्ताप-क्रमविपरीत शीतोष्ण सेवन। शोक-भय-क्रोध इ०।

व्यायामादतिसन्तापाच्छीतोष्णाक्रम सेवनात्
स्वेदोवाहिनी दूष्यन्ति क्रोध शोक भयै स्तथा।

-च० सं० वि० ५

ज्वर सम्प्राप्ति
उदर सम्प्राप्ति

} में स्वेदोवह स्रोतस विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है।

-च० सं० वि० १-च० सं० चि० १३

स्वेद ग्रंथियाँ- उनसे संबध्द प्रणाली [coiled tubular sweat glands and their ducts] का प्राचीनोक्त स्वेदोवह स्रोतसों में अंतभार्व किया जा सकता है-ऐसा लगता है। ये स्वेदग्रंथियाँ त्वचा में सर्वदूर व्याप्त होती है। इनका प्रभव स्थान मेद (fat) एवं लोमकूप होने के कारण (fat depot and hair follicles) इनका अतंर्भाव भी स्वेदवह स्रोतसों में किया जा सकता है।

## १४. ओजोवह स्रोतस–

ओज यह समस्त शरीर का साररूप धातु। रस-रक्त धातु को भी 'ओज' के नाम से सम्बोधित किया हुआ दिखायी देता है।

> तत्रान्तरे तु ओजः शब्देन रसोऽप्युच्यते, जीवशोणित-
> मप्योजः शब्देनामनन्ति केचित्, उष्माण्योजः शब्देनापरे वदन्ति।
>
> –डल्हण

प्राकृत श्लेष्मा को भी } आयुर्वेद में { 'ओज' के नाम से सम्बोधित किया हुआ दिखायी देता है।

ओज —
- पर ओज — प्रधान ओज-अष्टबिन्दुज ओज
- अपर ओज — अप्रधान ओज-अर्धाञ्जिली ओज

ओज स्थान--हृदय-रसवह धमनियाँ, रक्तवह धमनियाँ।

ओज को { तेज एवं बल } के नाम से सम्बोधित किया दिखायी देता है।

ओजोवर्ण इषत् श्वेत बताया गया है। मधुमक्खियाँ जिस तरह फूलों फूलों पर बैठकर वहाँ से मधुसंचय परिश्रमेण कर पाने पर ही मधु (शहद Honey) की निर्मिति होती है, उसी प्रकार परम तेजारूप संगृहित सार से शरीर में ओजो निर्मिति होती रहती है, जिससे शरीर को बल-तेज-ऊर्जा की प्राप्ति होती है।

शरीर में उपस्थित } व्याधिक्षमता (रोग प्रति-कार क्षमता) (Immunity) { ओज के ही कारण उत्पन्न होती है।

शरीर में ओजोवाही स्रोत इस प्रकार के कोई भिन्न स्रोतस उपलब्ध नहीं होते। ओज शरीर में सर्वतः चर अर्थात समस्त शरीर में व्याप्त होता है।

ओजोविकृति के कारण { शरीरस्थ तेज-बल व्याधिक्षमता आदि की } विकृति अथवा ह्रास हो जाता है।

{यह अपर वा अप्रधान वा अर्धाञ्जली प्रमाण ओज के विषय में मानना चाहिये (अपर ओज-आधुनिकोक्त 'ग्लाइकोजेन') क्योंकि पर वा प्रधान ओज की एक बूँद के क्षय से भी मृत्यु हो जाती है।}

तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तैजस्तत् खल्वौजस्तदेव बलमित्युच्यते।
-सु० सं० सू० १५

तत्रान्तरे तु ओज: शब्देन रसोऽप्युच्यते, जीवशोणित मप्योज: शब्देन मनन्ति केचिद् उष्माणामप्योज: शब्देनापरे वदन्ति।

-डल्हण-

तत्(हृदय) परस्य ओजस: स्थानम्।

-च० सं० सू० २०

परस्य-श्रेष्ठस्य। एतेन द्विविध मौजो दर्शयति परमपरंच, तत्र अर्धाञ्जली परिणामपरं यदुक्तं तावदेव प्रमाणं श्लैष्मिकस्यौज:।

-च० सं० शा० ४

अल्प प्रमाणं तु परं प्राणाश्रयस्यौजस: अष्टाबिन्दव: हृदयाश्रित: इति-अर्धाञ्जलि परिमितस्यौजसौ धमन्य एव हृदयाश्रिता: स्थानम्।

-चक्र०

प्राकृतं तु बलं श्लेष्मा सचैवोज: स्मृत: काये।

-च० सं० सू० १७

भ्रमरै: फलपुष्पेभ्यो यथा संम्रियते मधु
तद्वदोज: स्वकर्मभ्यो गुणै: संम्रियते नृणाम्

-च० सं० सू० १७-

हृदि तिष्ठति यत् शुध्दं रक्तमीषत् सपीतकम्
ओज: शरीरे संख्यातं तन्नाशानाविनश्यति।

## १५. आर्तववह स्रोतस:

आचार्य सुश्रुत के अनुसार-

आर्तवह स्रोतस २।

स्रोतोमूल- गर्भाशय एवं आर्तववाही धमनियाँ

विध्दलक्षण- वन्ध्यत्व (Sterility) मैथुनासहत्व [ Troublesome or painful sexual intercourse] आर्तवनाश [ अनार्तव- Amenorrhoea]

आर्तववहे द्वे तयोर्मूलं गर्भाशयं आर्तववाहिन्यश्च धमन्य:।
तत्र विध्दाया वन्ध्यात्वं मैथुना सहिष्णुत्वं आर्तवनाशश्च।

-सु० सं० शा० ९-

गर्भाधान हो जाने के उपरान्त (while pregnancy) आर्तववह स्रोतस बंद हो जाते हैं और इसीलिये गर्भिणीस्त्री को रजःस्राव (menstruation) नहीं होता।

**गृहित गर्भानामार्तव वहानां वर्त्मान्यवरूध्यते गर्भेण।**

-सु० सं० शा० ४

| आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञानोक्त | oviduct<br>fallopian tube<br>uterine tubes<br>uterine blood vessels | इ० का प्रावीनोक्त आर्तववहस्रोत में अन्तर्भाव किया जा सकता है। |
|---|---|---|

## १६. महास्रोतस-

{कोष्ठ-कुक्षि, अन्ननाडी-आमपक्वाशय, आभ्यन्तर रोगमार्ग}

**कोष्ठ पुनरूच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमाम**
**पक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे स रोगमार्ग आभ्यन्तरः।**

-च० सं० सू० २१

| महास्रोतस | यह प्राणवह स्रोतस का मूल | माना गया है। |
|---|---|---|

**प्राणवह स्रोतसां मूलम्।**

-च० सं० वि० ५

| हृदय अधो भाग से आरंभ होकर | बस्ति ऊर्ध्वभाग तक | महास्रोतस की स्थिति। |
|---|---|---|

-सु० सं० चि० २

| | |
|---|---|
| आमाशय-अग्न्याशय<br>पक्वाशय-मूत्राशय<br>रक्ताशय-हृदय<br>उण्डुक-फुफ्फुस<br>नाभि-क्लोम<br>यकृत-प्लीहा<br>वृक्क-बस्ति<br>क्षुद्रान्त-स्थूलान्त्र<br>वपावहन<br>उतरगुद-अधरगुद | → **इन समस्त इन्द्रियों का आयुर्वेदोक्त महास्रोतस में अन्तभार्व हो जाता है।** |

| | | |
|---|---|---|
| गुल्म रोग<br>छर्दिरोग-उपद्रव वर्णन<br>सन्निरूध्द गुद | } | इन के वर्णन में महास्रोतस<br>का वर्णन किया हुआ<br>उपलब्ध होता है। |

-च० सं० नि० ३-७,-च० सं० चि० २०
-सु० सं० नि० १३-५५, अ० हृ० नि० ११
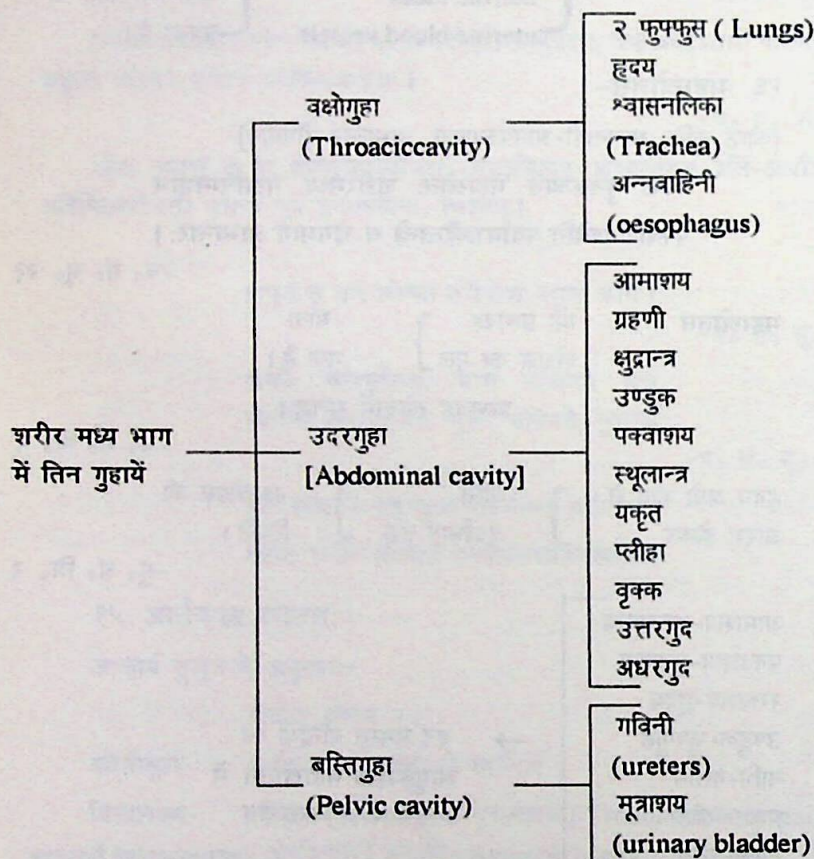
-का० सं० शा० ४६

| | | | |
|---|---|---|---|
| आधुनिक<br>क्रियाशारीरोक्त | Thoraco-Abdominal<br>and Pelvic canvity<br>-Alimentary canal- | } | का अन्त:र्भाव प्राचीनोक्त<br>महास्रोतस में हो जाता है<br>ऐसा लगता है। |

## १७. मनोवह स्रोतस–

(संज्ञावह स्रोतस

मनोबुध्दिवहा सिरा

चेतनावह स्रोत

चितवह स्रोत

धी वह स्रोत

संज्ञा वहा नाडी)

महर्षि चरक-आचार्य सुश्रुत ने स्रोतस वर्णन में इनका वर्णन किया हुआ उपलब्ध नहीं होता। फिर भी अनेक रोगों की सम्प्राप्ति में मनोवह स्रोतस विकृत होने का उल्लेख आया हुआ दिखायी देता है।

वात-पित्त-कफ के भी शरीर में स्रोतस अवश्य हैं लेकिन ये त्रिदोष शरीरसर्वतोचर होने के कारण उनके स्रोतसों का भिन्न रूपेण किया हुआ विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

इसी तरह अतिन्द्रिय स्वरूपीय तथा समस्त शरीरचर स्वरूपीय मनके स्रोतसों का भी भिन्न रूपेण वर्णन किया हुआ दिखायी नहीं देता।

किन्तु शरीर में मन यह समस्त इन्द्रियों का नियन्ता-प्रणेता-स्वामी होने के कारण शरीरस्थ समस्त इन्द्रियाँ तथा समस्त स्रोतस ये मन के आश्रय स्थान होते हैं।

**वात पित्त श्लेष्मणां पुन: सर्व शरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययन भूतानि। तद्वत अतिन्द्रियाणां पुन: सर्वादीनां केवलं चेतना वच्छरीरमयनमूत-मधिष्ठान भूतं च तदेतत् स्रोतसां प्रकृति भूतत्वान्न विकारैरूपसृज्यते शरीरम्।**

-च॰ सं॰ वि॰ ५

**मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथापि मनस: 'केवलं' चेतनावच्छरीरमयनभूतं इत्यभिधानात् सर्व शरीर स्रोतांसि गृह्यते।**

-चक्र॰

संज्ञावह स्रोतसों के द्वारा मन इन्द्रियों को आज्ञा करता रहता है।

**संज्ञावह नाडी शब्देन सिरा धमनी स्रोतसां**
**ग्रहणमित्याहु: ततस्तैर्मन इन्द्रियादेशं प्राप्नोति।**

-मधुकोष- मा॰ नि॰

विभिन्न मानस व्याधियों में मनोवह स्रोतसों का वर्णन आया हुआ दिखायी देता है।

निद्रा एवं स्वप्न वर्णन में–

संज्ञा वह स्रोतस जब तमोभूयिष्ट श्लेष्म प्रभाव से वा आवरण से आवृत्त होते हैं तब अनवबोधिनी-तामसी निद्रा आ जाती है- इस तरह का वर्णन प्राप्त होता है।

तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ट: श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा संभवत्यनवबोधिनी।

-सु० सं० शा० ४-

दुःस्वप्न वर्णन में– जब बलवान त्रिदोषों से मनोवह स्रोतस आवृत्त हो जाते हैं तब निद्रा में अनेक प्रकार के दारूण स्वप्न आते हैं-

– इस तरह का वर्णन दिखायी देता है।

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरति बलै स्त्रिभि:
स्रोतसां दारूणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारूणै:।

-अ० हृ० ५

हृदय यह विशेष रूपेण मनका आश्रय स्थान होने के कारण हृदयाश्रित दश धमनियाँ ये ही मनोवह स्रोतस हैं।

मनोवहाना मित्यादि।
मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि
तथापि मनस: केवलं चेतनावच्छरीर मयन भूतम्।

-च० सं० वि० ५

इत्यभिधानात् सर्व शरीर स्रोतांसि गृह्यंते,
विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वामनसस्तदाश्रिता
दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते।

-चक्र०

मानस रोगों में { मनोवह वा / संज्ञावह स्रोतस } विकृत हुये दिखायी देते हैं।

अतत्वाभिनिवेश में– रजोगुण एवं मोह से आक्रान्त मनोदोष हत् प्रविष्ठ होकर मनोवह एवं बंध्दिवहा सिराओं को प्रदुष्ट कर यह व्याधि उत्पन्न कर देते हैं।–ऐसा वर्णन किया हुआ दिखायी देता है।

-च० सं० चि० १०

उन्माद रोग वर्णन में- प्रकुपित दोष मनोवह स्रोतसों को आवृत्त कर उन्माद रोग की उत्पत्ति कर देते हैं।

-च० सं० चि० ९-/च० सं० नि० ७

अपस्भार-रोग वर्णन में–प्रकुपित दोष संज्ञावह स्रोतसों में व्याप्त होकर अपस्भार व्याधि उत्पन्न कर देते हैं।

हृदयाश्रित संज्ञावह स्रोतसों में दोष व्याप्त हो जाने पर मनका आघात होकर अपस्भार उत्पन्न कर देते हैं।

-अ० हृ० नि० ६,-अ० हृ० उ० ३/७,-सु० सं० उ० ६१-

मूर्च्छा-रोग वर्णन में- वातादि दोषों से संज्ञावह नाडियाँ जब पिहित हो जाती हैं अर्थात प्रकुपित दोषों से आपूरित संज्ञावह नाड़ियों मे जब अवरोध उत्पन्न हो जाता है, तब मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है।

-सु० सं० उ० ४६

इस समस्त वर्णन से संपूर्ण मनोव्यापारों को संपन्न करने वाले समस्त केन्द्र मार्ग वा तंतु इनको मनोवह स्रोतस माना जाना चाहिये- ऐसा लगता है।

**[path ways through which mind operates psycho-cortical centre & psycho-cortical routes]**

मानव देहस्थ शिर प्रदेश में-इन्द्रियप्राणवहस्रोत सूर्य किरणवत् संश्रित रहते हैं।

**शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रिय प्राणवहानि च**
**स्रोतांसि सूर्यभिव गभस्तय: संश्रितानि।**

-च० सं० वि० ९

उसी तरह सूत्रस्थान अ० १७ में शिर यह उत्तमाड.ग कहा गया है तथा उस स्थान में मन एवं इन्द्रियों का अधिष्ठान चरक महर्षि ने निर्देशित किया है।

**प्राणाप्राणभृतां यत्रश्रिता: सर्वेन्द्रियाणि च**
**यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते।**

-च० सं० सू० १७

आधुनिक क्रिया शारीर भी { ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठान } 'शिर' को ही मानता है

शिरस्थान में मस्तिष्क (brain) स्थित रहता है।

यह संज्ञावह (Sensory), चेष्ठावह (Motor), बुध्दिन्द्रिय (Sense organs) कर्मेन्द्रियाँ (Motor organs) का केन्द्र होता है।

-इन्हें ही महर्षि चरक ने 'इन्द्रिय प्राणवह स्रोतस' यह नाम दिया हुआ दिखायी देता

है। (Cranial nerves & cerebrospainal nerves) इस प्रकार मन का स्थान हृदय (शिर) होकर मनोवह स्रोतस समस्त शरीरव्याप्त इ० प्राचीनोक्त मनोवह स्रोतस अर्थात आधुनिकोक्त Nervous system होनी चाहिये ऐसा लगता है।

## हृदय

हृदय यह मन एवं आत्मा का अधिष्ठान।

प्रत्येक शरीरगत आत्मा भिन्न-भिन्न। आत्मा के समस्त शरीरव्याप्त होने पर भी उसका प्रमुख स्थान हृदय ही होता है।

तद्वत ही समस्त देहचारी मन का प्रमुख अधिष्ठान भी हृदय को ही बताया गया है।

तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम् (चेतन=आत्मा) खादयश्चेतनाषष्ठा:... चेतनाधातुरप्येक:।

-च०सं०शा० १.

चेतनासह चरितं मनोऽपि विशेषेण-हृदयाधिष्ठानं मतम्।

-डल्हण.

पंचमाभूतात्मक स्थूल शरार को त्याग ने पर भी आत्मा मनयुक्त सूक्ष्म शरीर में निविष्ठ होता है।

प्राक्तन भोग भोगने के लिए (जन्मजन्मान्तर के सुकृत-दुष्कृत आदि के अनुसार अच्छे-बुरे फल भोगने के लिये) इस मनयुक्त सूक्ष्म शरीर से युक्त यह आत्मा अनेकानेक योनियों में भटकता रहता है। इस तरह की अनेकानेक योनियों में आत्मा की भटकन मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत शुरू ही रहती है तथा इस काल में आत्मा का मन से अभिन्न संबंध जुड़ा रहता है।

इस मनं के द्वारा ही → आत्मा की ज्ञानादि क्रियायें संपन्न → होती रहती हैं।

प्राक्तन भोगों के अनुसार ही मन कल्याण वा अकल्याण कर इच्छाओं की अभिव्यक्ति करता रहता है, तथा उसी के अनुसार शुभाशुभ कर्म संपन्न किये जाकर इस तरह आत्मा कर्मभोगों को भोगता रहता है।

आत्मा की तरह ही→शरीरस्थ मन भी →अणुस्वरुपीय हो होता है।

किन्तु मन यह असर्वगत रहकर जरूरत के अनुसार तद्तद् इन्द्रिय से उस समय सन्निकर्ष स्थपित कर लेता है। इस मन के इन्द्रिय से सन्निकर्ष के कारण ही ज्ञानेंद्रियाँ स्व विषयों का (शब्द-स्पर्शादि) ज्ञान ग्रहण कर पाती हैं तथा कर्मेंद्रियाँ स्व कर्मों का संपादन कर पाती है।

इस प्रकार शब्दादि (ज्ञानेन्द्रियों का) विषयों का ज्ञान स्थान भी इस के कारण हृदय ही कहा जाता है।

चक्षु इ० ज्ञानेन्द्रियाँ शिर स्थान में स्थित होती हुई भी सूक्ष्म एवं अति शीघ्रगामी मन आवश्यकतानुसार उनसे संयुक्त हो जाता है (सन्निकर्ष कर लेता है) इस कारण हृदय यह मन का स्थान होते हुये भी मन को 'शिरःस्थित' कहा गया है।

शिरस्थाताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रिय परं मनः

तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्।।

. . . . .समस्ता नही विजानाति।

-भेल सं०चि० ८

अणुस्वरूपीय मन की समस्त क्रियायें शरीरस्थ सूक्ष्मस्वरूपीय वात के आधीन होती हैं।

(वायुः) नियन्ता प्रणेता च मनसः।

-च०सं०सू० १२

मनश्चेष्टा पुरःसरमेव विषय प्रकृत्ते मनसोऽपि
वाताप्रयत्नाद् विनाऽभाविनि प्रवृत्ति।

...वातप्रयत्नादात्ममनः पुरःसराणि इन्द्रियाणि अर्थोपादानायाभि प्रवर्तन्ते।

-सु०सं०नि० १.

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः

तद् (हृदयं) विशेषेण चेतना स्थानम्। (चेतना=आत्मा)

खादयश्चेतना षष्ठाः...चेतना धातुरप्येकः।

-च०सं०शा० १.

चेतनासह शरीरं मनोऽपि विशेषेण हृदयाधिष्ठानम् मतम्।

-डल्हण

सूक्ष्मत्व एवं चलत्व { इन गुणधर्मों के कारण } शरीरस्थ वायुदोष { समस्तशरीरगामी बन जाता है।

शरीर में→वायुदोष का→प्रधान कार्यालय → हृदय में (मस्तिष्क में-Brain) स्थित।

वायु की प्रेरणा से ही इन्द्रियों के साथ मन का सन्निकर्ष स्थापित हो पाता है।

मन विषय ज्ञान प्राप्त करता है तथा-कर्मेंद्रियाँ वातप्रेरित मन के सन्निकर्ष के कारण स्वयं के कार्य (चलना-बोलना-उठना-बैठना-खाना इ०) संपादित कर पाती हैं।

मूर्धानमस्य संसीण्यायर्वा हृदयं च यत्
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रेरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः।

थर्व० १०/२.

आधुनिक शारीरक्रिया विज्ञान के अनुसार भी –

मस्तिष्क यह→ ज्ञान-कर्मरूप समस्त क्रियाओं का→ प्रधान मूल माना गया है।

आधुनिक क्रियाशारीरोक्त यह विचार वेद-उपनिषद-आयुर्वेद इन सभी को सम्मत इसी प्रकार का है।

उपर्युक्त मंत्र में "अधिशीर्षतः"-यह शब्द आया हुआ है। (अधि-ऊपर का)

आधुनिक क्रियाशारीरानुसार भी -

मस्तिष्क ऊर्ध्वभाग में नाडीकोष {Nerve cells} स्थित होते हैं। मस्तिष्क का यह धूएं के रंग का हिस्सा "Gray Matter" कहलाता है।

आयुर्वेद ने इस अधिशीर्ष भाग को ही वायु का आश्रय स्थान कहा है।

षडगङ्गमङ्ग निज्ञानमिन्द्रिण्यार्थ पञ्चकम्
आत्मा च सगुणश्चेत श्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।

-च०सं०सू० ३०.

अन्तरात्मनः श्रेष्ठतमायतनं हृदयम्।

-च०सं०वि० ८.

यद्धितत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संश्रितम्
तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्य संग्रहः
हृदयं मद्धर्थश्च तस्मादुक्तं चिकीत्सकैः।

-च०सं०सू० ३०.

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्
हृदरूात् सम्प्रवर्तन्ते मनः पूर्वाणि देहिनाम्
इन्द्रियाणि.......................................।।

-का०सं०.

हृत् शब्द –

'लुब्ब'-'डुप्प' एवं विराम।

हृदय संपूर्ण चक्र एक सेकन्द में पूर्ण।

प्रथम शब्द 'लुब्ब्' –

मन्द हृत् निलय (auricles) पेशी संकोच एवं उनकी कपाटिकाओं का (Valves) रुधिरवेग के कारण होने वाले कंपन के कारण यह ध्वनि उत्पन्न।

यह लुब्बऽऽशब्द ४/१० सेकन्द तक।

इसके उपरान्त १/१० सेकण्ड का विराम (Pause) यह प्रथम शब्द हृत् निलयभागीय पेशियों से उत्पन्न। (पेशियों कें संकोच के कारण) और इससे हृत् पेशिकी शक्ति सूचित होती है और इसीलिये ज्वरादि में यह प्रथम ध्वनि यदि मन्द सुनायी दिया (प्राकृत ध्वनि की तुलना में मंद ध्वनि) निकट भविष्य में हृदयावरोध (Cardiac failure) का सूचक साबित होता है।

यह प्रथम हृतशब्द वामभागीय पंचम पर्शुकान्तराल स्थान में (left fifth intercostal space) स्पष्टतम रूप में सुनायी देता है। कारण वहाँ हृत्शिखर (Apex of the heart) स्थित। १/१० सेकण्ड विरामोपरान्त दूसरा शब्द डुप्पऽऽ यह स्वर उच्च एवं तीव्र।

| फुफ्फुसाभिगा धमनी (Pul. arteries) एवं महाधमनी (Aorta) | निष्क्रमण द्वार पर स्थित कपाटिकाओं में (Valves) | कंपन उत्पन्न होने के कारण यह दूसरा डुप्पऽऽ ध्वनि उत्पन्न |
|---|---|---|

यह डुप्पऽऽध्वनि २/१० सेकण्ड का।

| उरः फलकास्थि (Sternum) की थोड़ी दाहिनी तरफ तथा द्वितीय दक्षिण उपपर्शुका स्थान में (Rt. second costal cartilage) | यह डुप्पऽऽ ध्वनि विशेष रूप से सुना जा सकता है। |
|---|---|

इस स्थान में हृदयाधार भाग (Base of the heart) स्थित होता है। यहाँ महाधमनी (Aorta) बाह्य पृष्ठभाग के अति सन्निकट स्थित होती है।

## व्यान चाप मापन

[ रक्तभार मापन (Blood Pressure)

रक्तचाप मापन ]

हृदय के आकुंचन के कारण हृदयस्थ रस रक्तवाहिनियों के द्वारा (Arteries) शरीर के विभिन्न भागों में प्रक्षेपित करने की क्रिया सतत् शुरू ही रहती है।

हृत् संकोचन के कारण धमनियों की दीवारों पर रक्त का दबाव (भार-Pressure) पड़ता है। किन्तु रक्तवाहिनियों से प्रवाहित रसरस हृदय से जैसे-जैसे दूर जाता है वैसे-वैसे रक्तवाहिनियों की दीवारों पर पड़ता हुआ प्रवाहित रक्त का यह दबाव (भार) न्यून होता जाता है और अन्त में विकसित (Dilated) दक्षिण अलिन्द में {Rt. auricle of the heart} जाकर रक्त का यह दबाव शून्य से भी नीचे गया हुआ दिखायी देता है।

फिर पुन: हृत् संकोचन संपन्न होता है और पुन: यह रक्तचाप उच्चतम स्तर पर पहुँच जाता है।

जिस यंत्र से रक्तचाप का मापन किया जाता है } उसे रक्तचाप मापक (Sphingmo-manometer) कहा जाता है।

इस रक्तचाप मापन यंत्र से केवल धमनीस्थ, संकोच (arterial contraction) व विकास समय में (Dilatation) (हृदयस्थ संकोच एवं विस्तार-हृदयस्थ अलिन्द एवं निलय में होने वाला संकोच एवं विस्तार) धमनियों की दीवारों पर रक्त का पड़नेवाला भार मापन किया जाता है।

सामान्यत: तरुणों में यह रक्तचाप या व्यानचाप } १२०/८० mm Hg. होता है।

प्रौढता में (In Adults) तथा उसके अनन्तर (in old age) रक्तवाहिनियों का लचीलापन (elasticity) कम हो जाने के कारण रक्तचाप बढ़ा हुआ दिखाई देता है।

नींद में यह रक्तचाप कम हो जाता है।

व्यायाम (Exercise)
दौड़ लगाना
खूब जोश में जोर-जोर
से झगड़ना, क्रोधाविष्टता,
किसी कारण वश उत्पन्न
उत्तेजितावस्था

के कारण रक्तचाप में वृद्धि दिखायी देती है।

भोजनोत्तर कुछ काल तक रक्तचाप में वृद्धि हुयी दिखायी देती है।

मुटापा-मेदोवृद्धि (Obesity)
ईक्षुमेह (Dibetes Mellatus)
गर्भिणि विषमयता
(Toxaemia Pregnancy)

इ० विभिन्न अप्राकृत स्थितियों में रक्तचापवृद्धि (Hyper tension) दिखायी देती है।

रक्तचाप का सामान्य से कम हो जाना { यह भी अप्राकृत अथवा रुग्णावस्था का सूचक } माना जाता है।

हृत् रचना संबद्धविकृति,
चिन्ता, थकान,
धातु क्षय कारक यक्ष्मा के
समान व्याधियाँ,
रक्तक्षीणता (Anaemia)

इन स्थितियों में रक्तचाप-ह्रास (Hypotension) दिखायी देता है।

आचार्य सुश्रुत ने 'सिराशैथिल्य' को रक्तक्षय का लक्षण बताया है। यह 'सिराशैथिल्य' न्यून रक्तचाप (Hypotension) का ही सूचक है।
सिरा का यहाँ मतलब धमनी artery यह लेना उचित होगा।

हृदय के आकुंचन प्रसारण के द्वारा } शरीर में रस-रक्तविक्षेपण एवं वायु पूरण { यह कार्य व्यान वायु के द्वारा संपन्न होता रहता है।

व्यान वायु का
स्वकारणों से क्षयवा
प्रकोप होना,
प्रकुपित कफ,
प्रकुपित वात,
प्रकुपित पित्त,
अस्थि-मेदादिधातु

इनके कारण व्यान का आवरण (आवरित व्यान) →

व्यान क्रिया विक्षेप।
कफ - हृदय आकुचनार्थ मदद करता है, जिससे रक्तचाप-ह्रास।
पित्त - हृत् आकुंचन को बलवान बना देता है जिससे रक्तचाप वृद्धि।

→ दोषों का आवरण – इ० से कुपित वायु हृदाकुंचन बलवान बना देता है जिससे रक्तचाप वृद्धि (Hypertension) ।

| | |
|---|---|
| हृदय का आकुंचन सम्पादित करना रस-रक्तादिका शरीर में हृदय के द्वारा सतत विक्षेपण करवाना | ये कार्य हृत्स्थानीय व्यान वायु के आधीन अत: उसे व्यान बल यह नाम। और इससे रक्तभार को व्यान बलमापक अथवा व्यान चापमापक कहा दिखायी देता है। |

## शुद्ध-अशुद्ध रक्त-

शरीरस्थ संचारी रक्त जब फेफड़ों में (Lungs) आता है तो वहाँ मलरूप अंगाराम्ल वायु को ($Co_2$) वहाँ लाता है, जो वहाँ से (फेफड़ों में से) उच्छ्वसन (Expiration) के समय शरीर के बाहर उत्सर्जित हो जाता है।

शरीर में ऊर्जा (उष्णता) उत्पत्ति के लिये पेशियों में (Cells), द्राक्षाशर्करा (Glucose) ईधन के रुप में प्रयोजित होती है। पेशियों में उत्पन्न होने वाली इस ज्वलन (Combustion) प्रक्रिया में उष्णता-(ऊर्जा) उत्पन्न होने के कार्य में (धातुपाक कार्य में) अंगाराम्ल वायु जो, निर्मित होता है, वह मलरूप द्रव्य होता है।

श्वसन समय में (In inspiration) फुफ्फुसों में प्रविष्ट हुआ प्राण (ओषजन-$O_2$) फुफ्फुस में आये हुये (अंगाराम्ल विहीन) रक्त में मिल जाता है।

रक्तस्थ हेमोग्लोबिन (Hb.) नामक घटक प्राण वा ओषजन ($O_2$) को शोषित कर लेने के गुणधर्म वाला होता है, जिससे खून भड़क लाल रंग का (Oxy-haemoglobin) बन जाता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| आयुर्वेद के अनुसार } | रक्तपोषण एवं वर्णप्रदान कार्य | { रक्ताग्नि वा रंजकपित्त के द्वारा | { संपादित होता है। |

## दोष प्रकोप एवं रक्त वर्ण–

वात प्रकोप में–रक्त श्यावं वर्णीय।

पित्त प्रकोप में–रक्त पीत-हरितता युक्त।

कफ प्रकोप में–रक्त श्वेताभ एवं श्लक्ष्णता युक्त।

यकृत्प्लीहा में स्थित रंजक पित्त रक्तगत कुपित वातादि का पचन कर

(रासायनिक रूपांतरण) उन्हें रक्त से अलग कर देता है तथा रक्त को उसका स्वाभाविक रंग प्रदान करता है। इसे ही **रंजक पित्त के द्वारा रक्त का रंजन कार्य कहा गया है।**

फेफड़ों में शुद्ध बना रक्त (अंगारामल का ($CO_2$) -फेफड़ों से उत्सर्जित हो जाना तथा ओषजन का, जो श्वसन द्वारा रक्त में मिल जाता है-इस प्रक्रिया के द्वारा) हर फुफ्फुस की दो रोहिणियों के द्वारा (**Pul. arteries**) हृदयस्थ दक्षिण ऊर्ध्व भाग में (**Rt. auricle**) लाकर डाला जाता है।

इस प्रकार के रक्ताभिसरण को **फुफ्फुसीय रक्ताभिसरण (Pulmonary circulation)** कहा जाता है।

हृदय के वाम अधोभाग से (**Left ventricle**) वह रक्त महारोहिणी के द्वारा (**Aorta**) समस्त शरीर भागों में प्रक्षेपित किया जाता है।

इससे रक्त के द्वारा पोषक तत्व ओषजन $O_2$ $\rightarrow$ इ० शरीरस्थ धातु ग्रहण कर पाते हैं।

इससे रक्तस्थ **Oxyhaemoglobin** पुन: पूर्ववत् **Haemoglobin** में परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि हेमोग्लोबिन द्वारा शोषित ऑक्सिजन पेशियों में ज्वलन संपादित करने के लिये दे दिया जाता है।

इस समय, पाकक्रिया में उत्पन्न अंगाराम्ल वायु भी ($CO_2$) रक्त में मिल जाता है, तद्वतही धातुपाक क्रिया संपादित होते समय निर्मित अन्य विभिन्न मल भी रक्त में मिल जाते हैं।

इन सब बातों के कारण रक्त अशुद्ध बन जाता है। प्रथिनों (**Proteins**) की पाकक्रिया में उत्पन्न मल युरिया (**Urea**) भी इस समय रक्त में मिल जाता है।

| रक्तस्थ विभिन्न अशुद्धतायें अथवा मल | फुफ्फुस (**Lungs**)<br>वृक्क (**Kidneys**)<br>यकृत (**Liver**)<br>त्वचा (**Skin**) | इ० इन्द्रियों के द्वारा रक्त से अलग निकाले जाकर शरीर के बाहर उत्सर्जित कर दिये जाते हैं। |
|---|---|---|

वृद्ध (**Old**) -थकी हुयी- बेकाम बनी हुयी (**Useless**) रक्तकणिकाओं का (**RBC**) यकृत में नाश कर दिया जाता है।

उसी प्रकार रक्तस्थ विषमय तत्व (**Toxins etc.**) यकृत में रक्त से अलग कर दिये जाते है, तथा यकृत के द्वारा उनका नाश कर दिया जाता है।

रक्तस्थ ज्यादा का द्रव (**Excess of watery Portion in Blood**) -युरिया-युरिया

असिड इ० शरीर के लिये विषवत् मल पदार्थ वृक्कों के द्वारा रक्त से अलग निकाल दिये जाते हैं (Filtration) और मूत्र रूप में बस्ति में (Urinary Bladder) इकट्ठे कर दिये जाकर मूत्र के रूप में शरीर से बाहर उत्सर्जित किये जाकर रक्त को मलहीन-साफ रखा जाता है।

त्वचा का कार्य इस विषय में वृक्कों को पूरक स्वरूपीय होता है।

इस तरह हर समय रक्तस्थ विभिन्न मल शरीरस्थ विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रक्त से अलग किये जाकर रक्त को और पर्याय से शरीर को ही स्वच्छ-प्राकृत वा निरोगी रखे जाने का कार्य किया जाता रहता है।

## रक्त भार/रक्त चाप [Blood Pressure] —व्यानचाप

**महत्त्वपूर्ण बातें**

महत्तम रक्तचाप (Systolic Pressure)
तथा
लघुत्तम रक्तचाप (Diastolic Pressure)
} ये दो मापन महत्त्वपूर्ण।

रक्तचाप वृद्धि (Hypertension) — महत्तम रक्तचाप (Systolic Pressure) 160 mm Hg. के ऊपर पहुँच जाना (आगे यह २०० तथा बढ़ते बढ़ते २६० तक भी पहुँच जाता है।)

लगातार रक्तभारवृद्धि रहना यह अति गंभीर माना जाता है। {Persistant Hypertension may evantuate in apoplexy of cardiac failure}

**लघुत्तम रक्तभारमापन–(Diastolic Pr.)**

उच्चतम रक्तभार (Systolic Pr.) यह ९० mm Hg. से नीचे ही रहना तथा लघुत्तमभार मापन (Diastolic Pr.) यह ५० mm Hg. के नीचे होना

इस स्थिति को रक्तभार-ह्रास (Hupotension) कहा जाता है।

यह स्थिति भी स्वास्थ्य के लिये गंभीर ही मानी जाती है।

Shock-Collapse, Severe Haemorrhage, fevers, Malignancy-Anaemia, Neuras— the sia, Addison's Disease and in oher wasting diseases — इन विशिष्ट गंभीर स्थितियों में रक्तभार-ह्रास दिखायी देने का वर्णन आधुनिक वैद्यक में उपलब्ध होता है।

१. महत्तम रक्तभार मापन -८० mg Hg के नीचे न होना।

२. लघुत्तम रक्तभार मापन -६० mg Hg के नीचे न होना।

३. महत्तम एवं लघुत्तम रक्तभार का अन्तर (फर्क) (Pulse Pressuse) यह शास्त्रोक्त नियमानुसार होना अर्थात्-

महत्तम रक्तभार के चढ़ाव उतार के ही क्रम में लघुत्तम रक्तभार के चढ़ाव उतार का क्रम होना तो योग्य विकीत्सा से उपशय प्राप्त हो जाता है।

**(If the diastolic Pr. goes down in proportion to the sustolic Pr. the Patient responds to administration of Proper stimulants etc.)**

| | | |
|---|---|---|
| रक्तभार वृद्धि<br>एवं<br>रक्तभार-ह्रास | } दोनों ही स्थितियों में | { रुग्ण को पूर्ण विश्राम (Complete Bed Rast) तथा विकीकत्सक के अवलोकन में (Under medical supervision) में रखा जाना आवश्यक है। |

**नाड़ी दाब (Pulse Pressure)**

| | |
|---|---|
| महत्तम रक्तभार<br>एवं<br>न्यूनतम रक्तभार | } इन दोनों के फर्क को नाड़ी दाब (Pluse Pressure) कहा जाता है। |

**(Difference between the sustolic and the Diastolic pressure is known as pluse pressure)**

उदा - महत्तम रक्तचाप (Systolic Pr.) यदि १२० mm. Hg.

तथा लघुत्तम रक्तचाप (Diastolic Pr.) यदि ८० mm. Hg.

तो १२०-८० = ४० mm. Hg. यह नाड़ीदाब (Pulse Pressure) कहलाता है।

इस तरह महत्तम एवं लघुत्तम रक्तचाप में ४० mm Hg. का फर्क होना यह सामान्य नाड़ी दाब का (Normal Pulse Pr.) निर्देशक माना जाता है।

**असामान्य नाड़ीदाब (Abnormal Pulse Pressure)**

| | | |
|---|---|---|
| महत्तम रक्त चाप<br>एवं<br>न्यूनतम रक्तचाप | इनमें ५० mm. Hg. के ऊपर<br>अथवा<br>३० mm. Hg के नीचे<br>का फर्क होना | { यह स्वास्थ्य के गंभीर बात मानी जाती है। |

इस नाड़ी दाब मापन से रोहिणियों के (Arteries) दीवारों का योग्य लचीलापन वा क्षमता का ज्ञान होता है। (This is really expressive of the tone of the arterial walls.)

**रक्तस्थ घटक द्रव्य (Contituents of Blood)**

१ रक्त कणिका ये (R.B.C) (Red blood corpuscles)

**Total count of RBC 4-73 to 5.49 million percu. mm.**

२. हेमोग्लोबिलन– रक्त कणिकाओं में स्थित महत्वपूर्ण घटक द्रव्य। इसमें का प्रधान तत्व अयस् (लौह iron) जो ०.४% होता है।

यह हेमोग्लोबिन ओषजन (प्राणवायु-$O_2$) का शोषक (Absorbant) एवं वाहक (carrier) होता है।

धमनियों में (Arteries) -१०० घन से.मि. रक्त में २० घन से.मि. ओषजन होता है।

**रक्त में प्राकृत हेमोग्लोबिन का प्रमाण–११.९ से १४.१ ग्रॅ० प्रतिशत।**

३ क्षात्रकण (W.B.C.) (White Blood corpuscles) (Leucocytes)

Total Normal count of WBC. (T.L.C.) 4000 to

(Total leucocytic count) 10,000 Per Cu.m.m.
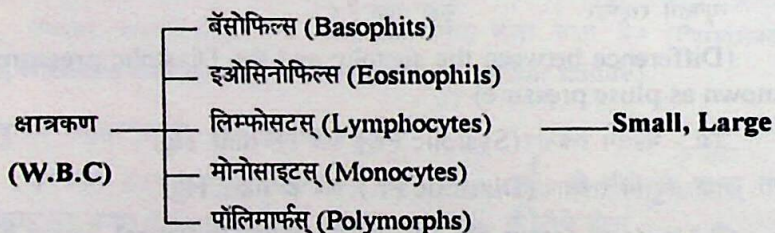
शरीर में क्षात्रकणों का कार्य –शरीर में प्रविष्ट रोगाणुओं का भक्षण करना, शरीर में प्रविष्ट रोगाणुओं से लड़कर उनका नाश करना तथा इस प्रकार रोग संक्रमण से बचाव करना इस कार्य के लिये प्रसंगानुरुप ये अपना आकार-बहुत छोटा-बहुत बड़ा-चपटा-लम्बा इ० बदल सकते हैं। इनमें से लसिका कणों की (Lymphocytes) की उत्पत्ति रसग्रंथियों में (Lymphglands) होती रहती है।

क्षात्रकणों का रक्तस्थ प्रमाण – (D.L.C.) {Normal count of Different Leucocytes}

| | | |
|---|---|---|
| 1) बॅसोफिल्स - | 0.1 % | 15 to 100 - Per cu-m.m |
| 2) इओसिनोफिल्स - | 1 to 5 % | 200-400 " " " |
| 3) लिम्फोसाइटस - | 20 to 40 % | 1500 to 3500 - Per cu.m.m |
| 4) मोनोसाइटस - | 2 to 10 % | 200 to 800 " " " |
| 5) पॉलिमॉर्फस - | 40 to 57 % | 2500 to 7500 " " " |

क्षात्रकणों की रक्त में अति वृद्धि–

श्वास-कास प्रधान संतत ज्वर (Pneumoina)<br>विद्रधि (Abscess)<br>यक्ष्मा (Koach's infection/ Tuberculosis)<br>कर्कटा बुंद (Cancer, Malignancy)<br>इ० संक्रमण जन्य व्याधियों में

→ तत् तत् क्षात्रकणों की वृद्धि हो जाती है। संक्रमण जितना ज्यादा गंभीर उतने ज्यादा प्रमाण में क्षात्रकणों की वृद्धि हो जाती हैं।

अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा (Microscope) रक्तस्थ क्षात्रकणों की गणना कर व्याधि का योग्य निदान(Diagnosis) कर पाना तथा व्याधि की गंभीरता का स्वरूप ज्ञात करना इ० बातें साध्य की जाती हैं।

४) चक्रिकायें(Plate lets) - ये रक्तस्थ लाल कणिकाओं से भी (R.B.C.) खूब छोटे आकार की होती हैं।

प्रतिघन मि० मि में ५०, ००० से २०००० सामान्य प्रमाण।

रक्तस्कंदन कार्य का संपादन = यह इनका प्रधान कार्य होता है।

५) रक्त रस - (Plasma)

रक्तस्थ यह अति महत्वपूर्ण घटक।

कुछ विद्वानों के अनुसार अति महत्वपूर्ण प्राचीनोक्त रस अथवा ओज यही आधुनिकोक्त Plasma है।

रक्तस्थ रक्तकणिकायें (RBC)<br>क्षात्रकण (WBC)<br>चक्रिकायें (Plate lets)

} इ० को छोड़ जो रक्तद्रव बच जाता है वही रक्तद्रव Plasma कहलाता है।

रुधिरस्थ शेष घन घटक इसमें विलीन हुये रहते हैं तथा

लाल कणिकायें (RBC)
क्षात्रकण (WBC) } इसमें स्थित होती हैं।
चक्रिकायें (Platelets)

रसरक्त यह कुल रक्त के ५५% होता है। प्राचीनों के (आयुर्वेद) मतानुसार-

शरीर में रक्तप्रमाण कुल ८ अंजली। अष्टौ अञ्जलय: शोणितस्य च।

-च० सं० शा० ७.

आधुनिक क्रियाशारीर के अनुसार-

शरीर का ५% भाग यह रक्त का होता है। समस्त रूधिर के ४५% रक्तकण (RBC) होते हैं।

-इसके अतिरिक्त रक्त में Glucose (द्राक्षाशर्करा)

Urea - (युरिया)
Uric Acid (युरिकअँसिड, मूत्राम्ल)
$CO_2$ (अंगाराम्ल)
$O_2$ (ओषजन)

इ० अनेक अन्य घटक द्रव्य होते हैं।

## रक्त के कार्य- [Functions of Blood in the Body]

१. रक्त के द्वारा (रस-रक्त के द्वारा) शरीरस्थ धातुओं को प्रोटिन्स-कार्बोहैड्रेटस्-खनिज (minerals) - लवण (mineral salts etc.) -स्नेह-जल-इ० तापोत्पादक (ऊर्जाकर) तथा पोषक (nutrient) द्रव्यों की प्राप्ति सतत होती रहती है।

२. शरीर रक्षणार्थ उन उन शरीर भागों को (इन्द्रियों को) आवश्यक जीवनीय (Vitamins) प्राप्ति रक्त के ही द्वारा होती रहती है और इस प्रकार उनकी कार्यक्षमता टिकाकर रखने का कार्य यह शरीरस्थ रक्त करता है।

३. शरीरस्थ विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रंथियों को उनके स्राव निर्माण करने के लिये आवश्यक विभिन्न मूल द्रव्यों का प्रदाय इस रक्त के ही द्वारा किया जाता है।

४ अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्राव (the secretion of endocrine glands) एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिये उनकी वाहिकायें नहीं होती इसी लिये उन्हें नलिका विहीन (Ductless) कहा जाता है। इनके विभिन्न स्राव, जो विभिन्न धातुपाक

प्रक्रियाओं को संपादित करने के लिये अथवा शरीरांतर्गत विभिन्न महत्वपूर्ण कार्यों का संपादन करने के लिये अनिवार्य होते हैं, वे स्राव शरीरस्थ उन उन इन्द्रियों तक पहुँचाने का कार्य शरीर में सतत परिभ्रमणशील इस रक्त के द्वारा ही किया जाता है।

५. पाचक प्रणालि स्थित पाचक अंगों की कार्य क्षमता कायम रखने के लिये उन्हें योग्य रक्तप्रदाय होता रहना अनिवार्य हो जाता है और इसी लिये उत्पन्न रक्त का कुल १/३ हिस्सा-कोष्ठ में ही होता है।

६. शरीरस्थ विभिन्न धातुओं को उनकी सुयोग्य पुष्टिप्रित्यर्थ आवश्यक घटक द्रव्यों का प्रदाय उन्हें रक्त के द्वारा ही किया जाता रहता है।

७. याकृत पित्त (Bile) जो शरीरस्थ पचन क्रिया के लिये तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के संपादन के लिये जरूरी होता है, उसकी निर्मिति यकृत में इस रक्त से ही की जाती है।

८. धातुओं को उनके धातु पाक कार्यार्थ {धात्वग्नियों को प्रदीप्त रखने के लिये} आवश्यक स्वरूपीय ओषजन($O_2$) का प्रदाय रक्त के द्वारा ही किया जाता रहता है।

९. धातुपाक क्रिया में निर्मित हुआ मल स्वरूप अंगाराम्ल ($CO_2$) वायु फुपफुसों में-रक्त के द्वारा ही हर समय पहुँचाया जाता रहता है, जिससे उच्छ्वसन (Expiration) क्रिया द्वारा उसका निष्कासन किया जाता है शरीर सतत स्वस्थ एवं कार्यक्षमता रह सके।

१०. युरिया- युरिक ॲसिड इ० धातु पाकजन्य मल उनके विसर्गी इन्द्रियों तक **(Excretory organs)** पहुँचाने का काम रक्त ही करता है, जिससे शरीर स्वस्थ एवं क्रियाक्षम रह पाता है।

११. रक्त के ही द्वारा समस्त अङ्गोंपाङ्गों में शरीर तापमान **(Body Temperature)** नियंत्रित एवं नियमित रखने का महत्वपूर्ण कार्य संपादित किया जाता है।

१२. चोट लग जाने पर शरीरस्थ प्राण रूप या जीवन रूप महत्वपूर्ण रक्त बह न जाये इसलिये [ शरीरस्थ रक्त ही जीवन है- **Blood it self is life** -रक्तं जीव इति स्थितिः।] रक्तस्कंदन की क्रिया फाइब्रिनोजेन जैसे अपने घटक द्रव्यों द्वारा संपादित कर रक्त शरीर की रक्षा करता है {यदि ऐसा न होता तो चोट लग जाने पर घाव में से लगातार खून बहने की क्रिया शुरू रहकर प्राणियों की मौत ही हो जाती।}

१३. शरीर में संचारित या प्रवाहमान रक्त, उसमें स्कंदन क्रिया संपन्न न होते हुये अबाध रूप से गतिमान रहे इसलिये रक्तस्थ घटक सतत क्रियाशील रहते हैं।

१४. आघात (Trauma), जख्म (व्रण) हो जाना, रोगाणुओं का संक्रमण हो जाना इ० आपत्ति से ग्रस्त उस विशिष्ट शरीराङ्ग में रक्त का प्रदाय एकदम वृद्धिगत हो जाता है, जिससे उस जगह क्षात्रकणों की फौज शीघ्र पहुँचायी जा सके, जो रोगाणुओं से मुकाबला कर शरीर को रोगाक्रमणादि आपत्तियों से बचाती है।

जैसे अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करने वाला रक्त सतत-अविश्रान्त रूपेण शरीर में प्रवाहित रहता है।

रक्त का इस तरह शरीर में निर्बाध रूपेण संचारित होते रहना ही सुयोग्य एवं सुचारू जीवन चक्र का द्योतक होता है।

# फुफ्फुस {फेफड़े-Lungs}

**'फुसफुसायते इति फुफ्फुस:'।**

दबाने से स्वंजवत् जो दब जाता है और उस समय फुस्फुसऽऽ ध्वनिसह फुफ्फुसस्थ वायु बाहर निकल जाता है-अत: फुफ्फुस यह नामाभिधान किया गया है।

-सुश्रुत

उर: पिंजर का (Thoracic cavity) बहुतायत प्रदेश बायीं और दाहिनी तरफ स्थित इन दो-फुफ्फुसों से ही व्याप्त होता है।

फुफ्फुसों की समस्त संरचना [Formation] असंख्य वायुकोष तथा उनके आसमंतीय अति महीन रक्तवाहिनियों के जाल (network) से युक्त होती है।

साँस लेते समय (while inspiration) वातावरणस्थ ओषजन वा प्राणवायु ($O_2$) के फुफ्फुसों में संचारित (प्रविष्ट) होने के कारण फुफ्फुसस्थ समस्त वायु कोष वातानुपूरित होकर फुफ्फुसों के आयाम में वृद्धि हो जाती है, तो उच्छ्वसन के समय (while expiration) वायुकोषस्थ वायु के निर्गमित हो जाने के कारण (फेफड़ों से निकल जाने के कारण) विस्तारित फुफ्फुसपुन: छोटे (पूर्ववत्) हो जाते हैं। और इसी कारण श्वसन क्रिया में (Respiration) छाती का ऊँची नीची होना देखा जा सकता है।

श्वसन क्रिया एक मिनिट मे १५ से १८ समय होती रहती है।

जन्म के समय फुफ्फुसवर्ण गुलाबी होता है तथा उम्र के बढ़ने के साथ ही साथ फुफ्फुसों की वह गुलाबी छटा फीकी पड़ती जाकर आगे फुफ्फुसों को राख के जैसा (slaty) रंग प्राप्त हो जाता है।

अति धूम्रपान के आदी व्यक्तियों के फुफ्फुस कृष्णवर्णीय हो जाते हैं।

फुफ्फुसस्थ समस्त वायु कोषों को एक से एक सटाकर यदि रचना की जाय तो २० यार्ड लम्बी तथा ९२ यार्ड चौड़ी चादर के जितना प्रदेश वे व्याप्त कर सकेंगे इतने विपुल वायुकोषों के द्वारा फुफ्फुस रचना हुयी रहती है।

दक्षिण फुफ्फुसपर (Rt. lung) दो आडी-तिरछी खान (Fissures) होती है जिनके कारण यह दक्षिण फुफ्फुस तिन खण्डों में (Lobes) विभाजित हुआ रहता है।

वाम फुफ्फुसपर एक आडी खात (Fissure) होती है जिससे यह वाम फुफ्फुस दो खंडों में (Lobes) विभाजित हुआ रहता है।

वाम फुफ्फुस में एक गहरी खात होती है जिसमें हृदय स्थित होता है और इसीलिये इसे हृदयखात (cardiac notch) कहा जाता है।

फुफ्फुस खंडों में क्लोम (Trachea) की शाखायें प्रविष्ठ हुयी रहती हैं।

दक्षिण फुफ्फुस के तीनों खंडों में तीन शाखायें तथा वाम फुफ्फुस के दोनो खंडों में दो शाखायें। इन शाखाओं के पुन: अनेकानेक उत्तरोतर छोटी उपशाखाओं में विभाजन होता जाकर अंत में प्रत्येक सूक्ष्मतम प्रतान का अंत वायुकोष में हो जाता है।

## महाप्राचीरा पेशी-श्वासपटल

## [Diaphragm]

उरपंजर (Thoracic cavity)
एवं
उदरगुहा (Abdominal cavity)
} इन दोनों को परस्पर से पूर्णत: विभक्त कर देने वाली।
यह महाप्राचीरा पेशी।

महाप्राचीरा पेशी-मंदीर के गुम्बज के आकार की (Dome Shaped) ऊपर की तरफ गोल (बाह्यगोल) आकार से युक्त यह पतली-मजबूत पेशी।

अन्नवहा (oesophagus)
महाधमनी (Aorta)
अधरा महा सिरा (Inf. Venacava)
} अपने अपने छिद्रों से (Through their own opening)
इस पेशी के बाहर जाती है।

इस महाप्राचीर पेशीपर- वाम और दक्षिण फुफ्फुस टिके हुये होते हैं और इसलिये श्वसन काल में फेफड़े फूल जाने के कारण यह पेशी नीचे दब जाती है। ऊच्छ्वसन में वायु कोषस्थ स्थित वायु के बाहर निकल जाने के कारण फेफड़ों का आयाम पुन: पूर्ववत् हो जाने से यह महाप्राचीरा पेशी भी पूर्ववत् हो जाती है। उदावर्त्त इ० व्याधियों में उदर गुहा अति प्रमाण में वातानुपूरित हुयी होने के कारण नीचे से इस पेशी पर उदरस्थ वात का (ऊर्ध्वगामी) दवाब होता है और इसीलिये श्वसन समय में सामान्य अवस्था की तरह फेफड़ों के फूल जाने से अब यह पेशी नीचे दब नही पाती अत: रुग्ण को श्वासकष्टता उत्पन्न हो जाती है तथा रुग्ण का श्वसन ह्रस्व श्वसन (लम्बी साँस न ले पाना) हो जाता है।

## फुफ्फुसावरणी कला [Pleura] –

मस्तिष्क (Brain), हृदय (Heart), फुफ्फुस (Lungs) आदि शरीरस्थ महत्वपूर्ण इन्द्रियों पर आवरण होता है, जिससे बाह्याघात आदि से इन्द्रिय रक्षा संपादित हो पाती है।

फुफ्फुसों पर दोहरा आवरण होता है (Double Layer)—(two fold Layer) तथा इन दोनों आवरणों के बीच आवश्यकतानुरूप अल्प प्रमाण में स्राव होता रहता है जिससे श्वसन-उच्छ्वसन समय में फुफ्फुसों के होने वाले प्रसरण-आकुंचन के समय इन दो आवरणों में परस्पर घर्षण नहीं हो पाता।

इस दुहरे आवरण का निचला स्तर फुफ्फुसों से सन्धानित हुआ रहता है तो दूसरा ऊपर वाला स्तर उरोगुहा आंतरपृष्ट से संधानित हुआ रहता है।

इस कला को **फुफ्फुसधरा कला** वा **पार्श्वधरा कला** के नाम से जाना जाता है।

बाह्यघातों से प्राणस्थान फुफ्फुसों की रक्षा इस कला के द्वारा संपन्न होती है।

इस कला के किसी भाग में- रोग संक्रमणादि (Infection) के कारण जब कभी शोथोत्पत्ति हो जाती है तब प्रश्वास काल में शोथयुक्त परस्पर दोनों स्तरों में घर्षण (Friction) होने के कारण तिव्र वेदना होती है, जिसे पार्श्वशूल (Dry Pleurisy) कहा जाता है।

इस रोग का स्वरूप आगे विशेष रूप में बढ़ जाने के कारण इन दोनों आवरणोंके बीच द्रवसंचिति हो जाती है, ऐसी स्थिति को **जलपार्श्व (Wet Pleurisy)** के नाम से जाना जाता है।

प्राय: ऐसी स्थिति यक्ष्माणुओं के संसर्ग के कारण **[due to Tubercular infection]** संपादित होती है।

आगे योग्य चिकित्सा के अभाव में यह स्थिति और बिगड़कर गंभीर स्थिति पैदा हो जाती है जिसमें दोनों आवरणों के बीच पूयसंचिति हो जाती है। इस स्थिति को **फुफ्फुस पूयमयता [empyema]** कहा जाता है।

इस अति कष्टकर-गंभीर स्थिति में- शस्त्र कर्म के द्वारा इस फुफ्फुसावरणी कला में वायु प्रविष्ट करवाया जाता है, जिससे फुफ्फुसपीड़न कार्य संपादित होकर फुफ्फुस संकोच-विस्तार कार्य अवरूद्ध कर दिया जाता है, जिससे रूग्ण स्थान को योग्य विश्राम प्राप्त हो पाता है।

-इसे **"Artificial Pneumo-thorax"—"A.P."**— के नाम से जाना जाता है।

| हृदय से | अशुद्ध रक्त (Deoxygenated Blood) | फुफ्फुसाभिगा धमनी के द्वारा [Puloartery] फेंफड़ो में लाया जाता है। |
|---|---|---|

फिर रक्तस्थ मलरूप अंगाराम्ल वायु ($CO_2$) उच्छ्वसन (Expiration) के द्वारा शरीर के बाहर उत्सर्जित होजाने पर तथा श्वसन क्रिया में (Inspiration) ओषजन ($O_2$) खून में मिलने पर शुद्ध हुआ रक्त (Oxygynated Blood--oxyhaemoglobin) प्रत्येक फुफ्फुस से दो- इस प्रकार दोनों फुफ्फुसों से चार सिराओं द्वारा- (Pul. veins) हृदयस्थ दक्षिणालिन्द में (Rt. auricle) ले जाकर डाला जाता है तथा वहाँ से वह रक्त समस्त शरीर में महाधमनी द्वारा (Arch of Aorta) प्रक्षेपित किया जाता है।

## वलोम (श्वास पथ) Trachea—

तरूणास्थिमय **(cartilaginous)** वलयों से रचित ४ से ४½ इंच लम्बी एवं ¾ से १ इंच आयामयुक्त नलिका, जिसकी अन्त:कला पक्ष्मल **(cilliary)** होती है, जिससे कभी गलती से भी सूक्ष्मसा कण भी प्रविष्ट हो जाय तो इस पक्ष्मल अन्त:कला में भयानक उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर-छींके आना, खाँसने लगना आदि उत्पन्न होकर इन क्रियाओं के द्वारा पक्ष्मल अन्त:कला में प्रविष्ट वह छोटासा कण बाहर फेंक दिया जाता है।

इस प्रकार इस प्रक्रिया से फुफ्फुस एवं क्लोम निरापद रखे जाते हैं।

बाहर की ओर से क्लोम एक स्वतंत्र पेशी से (Trachialis muscle) वेष्टित होता है, जिसके अस्वाभाविक आकुंचन के कारण क्लोम पीड़ित हो जाने पर उसका छिद्र संकुचित हो जाता है, जिससे श्वासकृच्छ्रता (dyspnoea) उत्पन्न हो जाता है।

तमक श्वास (Bronchial Asthma) में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

दक्षिण क्लोम शाखा तीन प्रशाखाओं में विभाजित होकर प्रत्येक प्रशाखा दक्षिण फुफ्फुस के एक एक खण्ड में प्रविष्ट हुयी रहती है।

क्लोम की वाम शाख की दो प्रशाखायें बनकर वाम फुफ्फुसस्थ दो खंडों में प्रविष्ठ हुयी रहती हैं।

ये प्रशाखायें उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम प्रतानों में विभक्त होकर अन्त में इनका अंत वायुकोषों में (air sacks/Alveoli) हो जाता है।

सुश्रुत संहिता शारीरस्थान अध्याय ९<br>
चरणु संहिता विभानस्थान अध्याय ५ } में इसका वर्णन उपलब्ध होता है।

'प्राणवह स्रोतस' अर्थात ये वायुकोष ही है, जिनका आयाम (diameter) ०.५ से ०.३ मि० मि० होता है। सूक्ष्म दर्शक से देखने पर अंगूरों के गुच्छो की (Bunch of Grapes) तरह ये एक को एक संलग्न दिखायी देते है।

जिस तरह पक्ष्म (ciliary bodies) क्लोम के अंतीम छोर तक इनमें होते हैं उसी तरह कफग्रंथियाँ भी होती हैं, जिनसे स्रावित कफ श्वसन संस्था को आर्द्र एवं मृदु रखते हैं और इसीलिये प्राणवह स्रोतसों में स्थितिस्थापकता [लचीलापन-Elasticity] रखी जाती है एवं श्वसन के समय प्राणवह स्रोतसों की समस्त क्रियायें सुखद एवं प्राकृत होती रहती हैं।

इसे आयुर्वेद ने 'अवलंबक कफ' यह नाम दिया हुआ दिखायी देता है। वात प्रकोप होने पर प्राणवह स्रोतसस्थयह यह कफ शुष्क होकर श्वसन मार्ग में अटक जाता है तथा पक्ष्मल सूत्रों के प्रतिक्रिया स्वरूप उत्तेजित क्रियायें उसे शरीर के बाहर निकाल फेंकने के लिये शुरू हो जाती हैं, जिससे बारबार शुष्क कास के कष्टपूर्ण आवेग आरंभ हो जाते हैं। इसे ही वातज कास (Dry and Hacking cough) यह नाम दिया गया है।

## फुफ्फुस-श्रवण परीक्षा– (Auscultation)

प्राकृत-स्वस्थ फुपफुसों में } प्रश्वास समय में प्रविष्ठ होने वाले वायु का शब्द — फुत्कारवत् (धूम्रपान करते समय धूआ मुँह में से बाहर छोड़ते समय जैसी आवाज होती है उस तरह) ध्वनि सुनायी देती है।
{फुपफुसध्वनि श्रवण यंत्र (stethoscope) से श्रवण परीक्षा (Auscultation) करते समय}

कास-श्वास प्रधान } यक्ष्माजन्य फुफ्फुस शोथ — सन्तत ज्वर में (Pneumonia) — इ० में फुफ्फुस का आक्रांत प्रदेश घन हुआ रहने पर
श्वसन उच्छ्वसन } दोनों समय कर्कश स्वर (Rough)
फेफड़ों में सुनायी देता है तथा श्वसन उच्छ्वसन में अन्तर रहता है।
{प्राकृत श्रवण परीक्षा में [Auscultation in normal lung ] श्वसन उच्छ्वसन में ऐसा अन्तर नहीं होता तथा कर्कश स्वर सुनायी नहीं देता।}

पार्श्वधरा कला के पाक होने की स्थिति में [Pleurisy] — फुफ्फुस पर होने वाले दोनो आवरणों में (Pleura) घर्षण होने के कारण विशिष्ट घर्षणयुक्त ध्वनि श्रवण परीक्षा में सुनायी देती है।

वलोम (Trachea) की बड़ी शाखाओं में } अतिकफ संचिति वा अन्य द्रव संचिति हो जाने की स्थिति में — श्वासध्वनिसह बुद्बुद् ध्वनि भी सुनायी देती है (पानी में उठने वाले बुलबुलों की आवाज की तरह। [Crepifitions]

| | | | |
|---|---|---|---|
| कफ वा अन्य स्राव | क्लोम की छोटी शाखाओं में अथवा वायु कोषों में | भर जाने की स्थिति में | कान के पास बालों के रगड़ने से पैदा होने वाली ध्वनि की तरह **[murmers]** सुनायी देती हैं। |

{श्वसनक ज्वर (Pneumonia) की आरंभावस्था एवं फुफ्फुस शोथ की स्थिति में ये ध्वनियाँ ठीक सुनायी दे सकें इसलिये रोगी को लम्बी साँस लेने के लिये कहा जाता है।}

| | | |
|---|---|---|
| क्षय-राजयक्ष्मा (Pul. Tuberculosis) की स्थिति में | रूग्ण के साँस लेते समय प्रविष्ट वायु की ध्वनि | अति संकुचित जगह में वेग से घुसने वाले वायु के समान सूँऽऽ सूँऽसूँऽऽ ऐसी ध्वनि सुनायी देती है। |
| श्वसनक ज्वर (Pneumonia) यक्ष्मा शोथादि | स्थितियों में | रुग्ण वाक् प्रयोग प्रतिध्वनि तिव्र रूप में सुनायी देती है (Resonant sound) {रुग्ण को वन वनऽ वनऽ वनऽऽ इ० लगातार बोलने के लिये कहना और उस समय फुफ्फुस श्रवण परीक्षा करना} |
| फुफ्फुसधरा कला (Pleura) शोथ में (Pleurisy) | द्रव व्यवधान के कारण | रुग्ण वाक् प्रतिध्वनि मंद सुनायी देते हैं। (dull sound) |

❖

# जाठराग्नि महत्व

जाठराग्नि अथवा कायाग्नि पर ही शरीरस्थ अन्य समस्त अग्नियों का अस्तित्व-कार्यकरत्व इ० समस्त अवंलबित रहता है।

**अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मत:**
**तन्मूलास्तेहि तद्वृद्धि क्षय वृद्धि क्षयात्मका:।**

-च० सं० चि० १५

आयुर्वेद के अष्टांगों में सबसे ज्यादा महत्व काय चिकित्सा को दिया गया है।

काय=अग्नि। कायाचिकीत्सा अर्थात् अग्नि की चिकीत्सा।

और यह अग्नि की चिकीत्सा ही पर्यायेण समस्त रोगों की चिकीत्सा साबित होती है। क्योंकि शरीर में उत्पन्न समस्त रोगों के लिये जाठराग्नि ही कारणीभूत मानी गयी है।

कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा।

-च० सं० सू० ३०- चक्र०

कायोऽत्राग्निरूच्यते, तस्य चिकित्सा कायाचिकित्सा

अथवा कायो देह: तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा।

-सु० सं० सू०-डल्हण

काय: सकल शरीरं तस्य चिकीत्सा।

प्रायेण रसादे: सर्वाङ्ग व्यापकस्य दोषादेव

ज्वरातिसार रक्तपित्तादय: संभवन्ति

कायो जाठराग्नि:, उक्तं च भोजे

'जाठर: प्राणिनामग्नि काय इत्यभिधीयते।

यस्तं चिकीत्सेत् सीदन्तं स वै काय चिकीत्सक: इति।

युक्तं चैतत्, यतो ज्वरातिसारादय: कायचिकित्सा

विषया रोगा अग्नि दोषा देव भवन्ति।

-च० सं० सू० ३०/शिवदाससेन

शरीरारोग्य-पुष्टि-आयु इ० का मूल–हितकर अन्नपानादि से कायग्नि की रक्षा करना होता है।

इस प्रकार युक्ति पूर्वक कायग्नि की रक्षा करने से मनुष्य रोगों को दूर रख सकता है।

तस्मात् तं विधिवदुक्तैरन्नपानेन्धनेर्हित:

पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौह्यायुर्बल स्थिति:।

-च० सं० चि० १५

नरं नि:श्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने
भजन्ते नामय: केचिद्भाविनोऽप्यन्तराहसे।

-च० सं० सू० २४

..............................अन्तरादिति कारणात्, ऋते विना।

अपथ्यस्य तथा रोग कारणस्था भावगदा न भवन्तीति भाव:।

-चक्र०

जाठराग्नि एवं धात्वग्नियों के द्वारा अन्नपान के उत्तरोत्तर पाकका परिणाम जो जो गुण जिस जिस दोष धात्वादि के गुणों से युक्त होगा उसकी वृद्धि संपादित होकर { 'वृद्धि: समानै: सर्वेषाम्'-इस न्याय के अनुसार } वह वह गुण उन उन दोष धात्वादिकों का गुण वा अंश बन जाता है।

लेकिन यही अन्नपानादि प्रज्ञापराधयुक्त-अयुक्तिपूर्ण यदि होगा तो उससे दोषादिकों का प्रकोप होकर घात्वादिकों की हानि संपादित होकर विभिन्न रोगोत्पत्ति के लिये वह कारणीभूत बन जाता है।

परिणमतस्त्वाहारस्य गुणा: शरीरगुण भावमापद्यन्ते
यथा स्वमभिवृद्धा:विरुद्धाश्च विहन्युविहाताश्च विरोधिभि: शरीरम्।

-च० सं० शा० ६

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिता:।

-च० सं० सू० २७-

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यं उत्साहोपचयो प्रभा
ओजस्तेजोऽग्नय: प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका:।
शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरंजीवत्यनामय:
रोगीस्या द्विकृते मूलमग्नि सतस्मान्निरूच्यते।
यदन्नं देहधात्वोजो बलवर्णादि पोषकम्
तत्राग्नि र्हेतुराहारान्नह्य पक्वाद्रसादय:।

-च० सं० चि० १५

शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ
तस्मादग्नि सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेद्।

-च० सं० चि० ५

## विदाही एवं अविदाही रस–

कटु
अम्ल } → विदाही रस, मूर्च्छाजनक।
लवण

मधुर
तिक्त } → अविदाहीरस, मूर्च्छाशामक।
कषाय

कट्वम्ललवणावैद्ये विदाहिन इति स्मृताः।
स्वादुतिक्त कषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः।।
विदाहिना रसो मूर्च्छा जनयन्तीति निश्चिताः
अविदाहीनस्तच्छ मनाः कीर्तिता भीषगुत्तमैः।

–रसवैशेषिक सूत्र ४०

## विदाही–

द्रव्य के गुण–स्वभाव के कारण जड इ० होने के कारण जिनका पाक जाठराग्नि के द्वारा विलम्बसे होता है तथा जिनके कारण शरीरस्थ पित्त प्रकोप संपादित हो जाता है उस द्रव्य को विदाही कहा जाता है।

ऐसे द्रव्यों के सेवन से–अम्लोद्गार–अतितृषा उरःदाहादि लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा अैसे द्रव्य जाठराग्नि के द्वारा विलम्ब से पचाये जाते हैं।

द्रव्य स्वभावदथ गौरवाद्वाचिरेण पाकं जठराग्नियों गात्
पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाही।

–सु० सं० सू० ४५–डल्हण

विदाही द्रव्यमुद्रगारमम्लं कुर्यात् तथा तृषाम्
हृदि दाहं च जनयेत् पांक गच्छति ताच्चिरात्।

जो द्रव्य जाठराग्नि के द्वारा सामान्य रूपेण पाचित हो जाता है तथा जिसके कारण अम्लता उत्पत्ति, अम्लोदगार–अस्वस्थता–छाती में जलन इ० कुछ भी संपादित न होते हुये प्रसन्नतानुभूति होती है उस द्रव्य को अर्थात् उस द्रव्यस्थ मधुर–तिक्त–कषाय रसों को अविदाही कहा जाता है।

**साम-निराम—**

प्राकृत जाठराग्नि के द्वारा आहार का सम्यक्पचन सम्पादित किया जाकर } आहाररस निर्मिति से रसादि धातुओं की उत्पत्ति एवं पुष्टि।

किन्तु कुछ कारणवश अग्नि के दुर्बल हो जाने से } अन्न का अयोग्य वा अपूर्णपचन = { आम वा अपक्व आहाररस

**अपक्वमाहाररसमितिमामम्।**

यह अपक्व आहार रस वा आम } हृदय के द्वारा { समस्त शरीर में प्रक्षेपित कर दिया जाता है।

**जाठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः**
**स आम संज्ञके देहे सर्व दोष प्रकोपकः।**

—मधुकोष

**अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्।**

—च० सं० चि० १५—

**उष्मणोऽल्प बलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्**
**दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते।**

—अ० हृ० सू० १३

**आमाशयस्थः कायाग्ने र्दौर्बल्यादविपाचितः**
**आद्याहार धातुर्यः स आम इति संज्ञितः।**

—भोज

**एव आमाशयेऽ प्यन्नं बहुसम्यङ् न जीर्यति**
**चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमवाप्नुयात्।**

—च० सं० चि० १५—चक्र

इस प्रकार मूल आहाररस ही आमावस्था में होने के कारण उसका धात्वग्नियों पर भी विपरीत परिणाम होकर धातुओं की उत्पत्ति भी सामरूप में ही होती है।

शरीर में आमोत्पत्ति
- जाठराग्नि दुर्बलता के कारण अवस्थापाक में, जो आमाशयगत होता है।
- धात्वग्नि दौर्ब के कारण रस रक्तादि धातुओं पाककार्य में आमोत्पत्ति होती है।
- दोष-दूष्य संमूर्च्छनामें आमोत्पत्ति जिस प्रकार को द्रव संधान में विषोत्पत्ति संपादित हो जाती है उसी तरह दोष-दूष्य संमूर्च्छनामें आमोत्पत्ति संपादित होती है।

आयुर्वेद ने शरीर में उत्पन्न इस आम को 'विष' यह सार्थ संज्ञा प्रदान की हुयी दिखायी देती है।

अन्य दोषेभ्य एवाति दुष्टेभ्योऽन्याऽन्यमूर्च्छनात्

कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य संभव:।

-अ० ह० सू० १३

विरूद्धाशन, अध्यशन, अजीर्ण में भोजन → इ० प्रज्ञापराधों के कारण → शरीरस्थ जाठराग्नि दुर्बल होकर → अपक्व आहाररस वा आम निर्मित होता है।

विरूध्दाध्यशनाजीर्ण शीलिनो विषलक्षणम्

आम दोषं महाघोरं वर्जयेद् विषसंज्ञकम्।।

विषरूपाशुकारित्वाद् विरूध्दोपक्रमणत:।

-अ० ह० सू० ८.

इस प्रकार जाठराग्नि की दुर्बलता के कारण उत्पन्न आम शरीर में जिस दोष धातु मलादि से संयुक्त होगा, उसे साम अर्थात 'आम-सहित' कहा जाता है।

शरीर में संचित आम शरीरस्थ समस्त दोषों को प्रकुपित करने के लिये कारणीभूत हो जाता है।

यह आम ⟶ दोष, धातु एवं मल → को सामत्व प्रदान कर तथा उनके प्राकृत कर्मों में विभिन्न विकृतियाँ उत्पन्न कर → शरीरारोग्य बिगाड़ने के लिये तथा विभिन्न रोगों को उत्पन्न करने के लिये कारणीभूत हो जाता है।

**आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च मूर्च्छिता:**
**सामाइत्युपदिश्यन्ते ये च रोगा स्तदुद्भवान् ।**

**-अ० ह० सू० १३**

## आधुनिक शास्त्रोक्त दृष्टिकोण से आम विचार–

जाठराग्नि एवं धात्वग्नियों के द्वारा प्रथिन(**Proteins**) एवं आहारौषधीय द्रव्यों का पाक (रूपान्तरण) सम्पादित होकर अन्त में मल रूप में परिवर्तित हो जाता है।

आमाशय में → प्रथिनों का रूपान्तरण } ॲमिनोॲसिडस्, युरिया में हो जाता है।

कर्बोजों का (**Carbohydrates**) एवं स्नेहों का (**Fats**) रूपान्तरण } अंगाराम्ल में हो जाता है।

जाठराग्नि एवं धात्वग्नि } दौर्बल्य के कारण { यदि अन्तिम द्रव्य मल न बनते हुये } मध्यवर्ति अपक्व द्रव्य निर्मित हो गया } उसे तो– आम कहा जाता है।

उदा:- प्रथिनों के अपूर्ण पाक के कारण युरिक ॲसिड इ० बनकर उसका संधि आदि प्रदेशों में स्थान संश्रय हो जाने के कारण आमवात(**Rheumatic joints**) हो जाता है।

उसी तरह कर्बोज (**carbohydrates**) एवं स्नेहों के (**Fats**) } असम्यक् पाक के कारण { तक्राम्क्त (**Lactic Acid**) निर्मित हो जाता है जिसका मांसपेशियों में स्थान संश्रय होने के कारण आमवात व्याधि उत्पन्न

शरीर में इन्सुलीन के हीनयोग के कारण अथवा यकृत विकार वश } द्राक्षाशर्करा (**Glucose**) का 'ग्लाइकोजेन' में योग्य रूपान्तरण न हो पाने के कारण उसे भी आम ही कहा जाता है।

इस प्रकार शरीरस्थ उत्पन्न आम } अवस्थापाक एवं धातुपाक { की विकृति के कारण उत्पन्न नानाविध द्रव्यों का वर्ग होता है।

## आधुनिक क्रिया शारीर के अनुसार–

अपक्व आहार पर कोथजनक जीवाणुओं की क्रिया संपादित होकर

शुक्लाम्क्त<br>तक्राम्क्त<br>नवनीताम्क्त<br>पायरूबिक ॲसिड } इ० विभिन्न सेंद्रिय अम्ल निर्मित होती हैं।

आज के आधुनिकोक्त प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त ज्ञान का उल्लेख आयुर्वेद ने ''शुक्तत्वं याति'' इन सार्थ एवं मार्मिक शब्दों में सैंकड़ो वर्ष पूर्व सूत्र रूप में (अति संक्षेप में) किया हुआ दिखायी देता है।

विष के कारण जैसे अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसी तरह इस आम के कारण अनेक प्रकार की गंभीर विकारोत्पत्ति शरीर में हो जाती है।

और इसलिये आयुर्वेद ने आम को 'विषरूप' इस समर्पक एवं सर्व अर्थ समावेशक शब्दों में संबोधित किया हुआ दिखाई देता है।

आम अन्न की इस तरह की यह शुक्तिरूपता (अम्क्तभाव) अजीर्ण और उसमें भी विदग्धाजीर्ण में दृष्योंत्पत्ति में आती है फिर भी यहाँ अजीर्ण के समस्त भेदों का ग्रहण किया गया है।

विषरूपतामिति यथा विषं बहुविकारकारी भवति तथा तद्रूपताम्।<br>
अनेनसर्व एवाजीर्णा अवरूद्धा ज्ञेयाः ये त़त्रान्तरे<br>
आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैः क्रमात्।<br>
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थरस शेषतः इत्यनेनोक्तः।

–चक्रपाणि–

विष में सूक्ष्मत्व होने के कारण वह सूक्ष्म स्रोतसों में प्रविष्ठ होकर घातक कार्य कर पाता है, उसी प्रकार यह शरीरस्थ आम अर्थात अपक्व अमल रस भी पच्यमानाशय की रसायनी में प्रविष्ठ होकर समस्त शरीर में पहुँचकर गंभीर रोगोत्पत्ति करने के लिये पर्याप्त समर्थ होता है।

पाचक पित्त (जाठराग्नि) यदि बलवान न हुआ तो उसके द्वारा रासायनिक दृष्टि से होने वाला सूक्ष्म पचन पूर्ण नही हो पाता और परिणामस्वरूप

धातु<br>उपधातु<br>एवं<br>मलों को } उनकी पोषक सामग्री योग्य प्रमाण में उपलब्ध नहीं हो पाती।

पाचक पित्त यदि बलवान हुआ तो उससे अन्य पित्तों की एवं धात्वग्नियों की पुष्टि योग्य प्रकार से सम्पादित होकर उनका बल भी (कार्यशक्ति) योग्य रह पाता है।

तत्रस्थमेव पितानां शेषाणामप्यनुग्रहम्
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्।

-अ० ह० सू० १२-

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मत:
तन्मूलास्तेहि तद् वृद्धि क्षय वृद्धि क्षयात्मका:।

-च० सं० चि० १५-

तच्च (पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तं) तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या
शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहंकरोति।

-च० सं० सू० २१-

आचार्य चक्रपाणि एवं डल्हण ने—धात्वग्निदौर्बल्य के कारण अपक्व रहे हुये रस धातु को 'आम' संज्ञा प्रदान की है, जो ज्यादा योग्य लगता है।

क्योंकि जाठराग्निदौर्बल्य दौर्बल्य के कारण अपक्व अन्न रस वा आम सूक्ष्म गुणीय न होने के कारण पित्तधरा कला के रस वह स्रोतसों में उसकी प्रवेश क्षमता नही रह पाती और इसीलिये उस आम के द्वारा विषवत् रोगोत्पत्ति संभव नहीं हो पाती।

आम एवैति इवार्थो अयमेव शब्द: रक्तादिरूपेणापरिणत
तया अपक्व इवेत्यर्थ:, न तु आमाशयस्थ:
कायाग्ने दौर्बल्यादविपाचित: इत्यादिनोक्त: तस्य
रोग हेतु तयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वायोगात्।

-सु० सं० सू० १५० -चक्र०-

कथं रसश्चापक्वश्चेति विरोधनीय वचनम्?
नह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते।
सत्यं, जाठरेणाग्निना रस: कदभावेन कृत एव,
किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते।

-डल्हण-

जाठराग्नि एवं धात्वग्नि दौर्बल्य के कारण उत्पन्न आम के अतिरिक्त आम के अन्य अर्थ भी आयुर्वेद में विशेष स्पष्ट किये हुये दिखायी देते हैं।

कुछ विद्‌वानों के अनुसार शरीर में मलसंचय से जो दुष्टि उत्पन्न होती है वह आम है। तो कुछ लोगों के अनुसार दोषदुष्टिका प्रथम स्वरूप ( First stage of Dosh prakopa) यह आम स्वरूपीय होता है।

आमं अन्नरसं केचित् केचित्तु मलसंचयम्
प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते।

-च० सं० वि० १५- चक्र०-

तो कुछ विद्वानों के मतानुसार जिस तरह कोद्रव धान्य से विषोत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अति दुष्ट दोषों की- परस्पर संमूर्च्छना संपादित होने के कारण आमोत्पत्ति हो जाती है।

## साम–

आम दोष से युक्त वह साम। इस प्रकार

| वातादि दोष, रसादि धातु, पुरिषादि मल– तथा आम के कारण उत्पन्न व्याधि वा स्थिति | इन सभी को 'साम' संज्ञा प्राप्त हो हो जाता है उदा- सामवात, साम कफ, साम मूत्र, साम रक्त सामातिसार इ० |
|---|---|

आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिता:
सामाइत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा:।

-अ० ह० सू० १३-

### साम-निराम ज्ञान का महत्व :–

उत्तम एवं सफल चिकीत्सक के रूप में ख्याति अर्जित करने के लिये साम-निराम दोषादि का उत्तम ज्ञान होना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि साम-निराम दोष दुष्टि की चिकीत्सा ही सर्वत: भिन्नस्वरूपीय होती है।

सामदोषदुष्टिजन्य व्याधि में यदि सर्वसामान्यत: की जाने वाली व्याधिचिकित्सा का अनुसरण किया गया तो रोगोपशय के बजाय रूग्ण को अकारण नयी तकलीफ वा नये उत्पन्न हुये गंभीर उपद्रवों का सामना करना पड़ता है।

**साम दोष-उपशामनार्थ-**

प्रथम लंघन-पाचन इ० आवश्यक। जिससे दुर्बलअग्नि को बल प्रदान किया जाता है। इससे अग्निबल के बढ़ जाने पर शरीर में आमोत्पत्ति की प्रक्रिया बन्द पड़ जाती है।

**पचनोपायों के कारण-** धातुओं में लीन आम दोष उत्क्लिष्ट हो जाने के कारण वह अब पूर्ववत् धातु में लीन रह नही पाता।

पचन के कारण उत्क्लेषित वह सामदोष उस स्थानस्थ अपनी लीनता छोड़कर उस स्थान से निकलने को प्रवृत्त हो जाता है।

इस तरह उत्क्लेषित दोष उस स्थान से छूटकर अपने स्व स्थान में (संचय स्थान में) आ जाता है।

इसके लिये महर्षि चरक ने कफ प्रधान ज्वर का उदाहरण दिया हुआ दिखायी देता है।

इस ज्वर में वमन चिकीत्सा अनिवार्य होती है। किन्तु वमन देने के पूर्व वह दुष्ट कफ दोष अन्य स्थानों से स्वस्थान में अर्थात् आमाशय में आ गया है इसकी निश्चिति कर लेना अनिवार्य होता है।

हुल्लास (Nausea) } इ० लक्षणों से वह प्रकुपित दोष आमाशय में
(लालास्राव) प्रसेक } पहुँच जाने बाबत अनुमान कर लिया जाता है।

दोषों का स्वंय (आपसे आप) यदि उत्क्लेशन नहीं होता है {लंघन-पाचनादि उपचार उसके लिये यदि अपर्याप्त साबित हुये}

तो उसके लिये स्नेहन } क्रिया उपाय
स्वेदनादि } अनिवार्य हो जाते हैं।

कफप्रधानानुत् क्लिष्टान् दोषाना माशया स्थितान्
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्।

-च० सं० वि० ३-

अविशेषेण तरूणा तरूण ज्वरेऽवस्था विधेयं वमन माह कफप्रधानानित्यादि उत्क्लिष्टानीति हृल्लासादीनां बहिर्गमनोन्मुखान् आमाशयस्थितानि इति सर्व शरींरं परित्यज्यामामाशाय गमनं दर्शयति। काले इति यथोक्तायामवस्थायाम्। .....अत्र च वमने स्वयमेवोत्क्लीष्टत्वायोषस्य दोषोत्क्लेषप्रयोजकौ स्नेह स्वेदो न क्रियते, अल्पौ वा क्रियेते।

-च० सं० वि० ३- चक्र०

साम दोष–

–यदि शरीरस्थ सूक्ष्म सिरा, स्नायु, त्वचा } इ० में व्याप्त हुये हों

–यदि वे-धातु में लीन हुये हों

–यदि वे चलायमान स्थिति में न हों (अर्थात् उनका उत्क्लेशन न हुआ रहे)

–ऐसी स्थिति में-

सर्वसामान्य अवस्थाओं की तरह उनका शोध न करना } गंभीर उपद्रवों को उत्पन्न करना ही साबित होता है।

जिससे अकारण शरीर का नाश हो जाता है।

आम फल वा अपक्व आम्रफल से } रस निकालने के बुद्धिहीन प्रयत्न के कारण { रस तो प्राप्त हो ही नहीं पाता उल्टे अकारण उस फल का मात्र नाश हो जाता है।

उसी तरह धातु में लीन साम दोष } वमन-विरेचनादि क्रियाओं से एकदम बाहर निकालने का प्रयत्न { इच्छित उपशय तो प्राप्त कर ही नहीं पाता उल्टे उससे गंभीर उपद्रव उत्पन्न हो अकारण ही शरीर का नाश ही हो जाता है।

अतः सामावस्था में दोषों को शरीर के बाहर निकालने का (निर्हरण) प्रयत्न बुद्धिहीनता ही साबित होती है।

पाचन<br>
दीपन<br>
स्नेहन<br>
स्वेदन } इ॰ उपागों से { सामदोषों को पक्व कर तथा उनका उत्क्लेशन कर { उसके अनन्तर ही रोगी के बलानुसार वमन विरेचन इ॰ उपायों से उस दोष का शोधन करना चाहिये।

सर्व देह प्रविसृतान सामान् दोषान् न निर्हरेत्<br>
लीनाम् धातुष्वनुत्क्लीष्टान् फलादामाद्रसानिव।।<br>
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः।

—अ॰ ह॰ सू॰ १३—

सर्व देहानुगाः सामा धातुस्था असुर्निर्हराः<br>
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इन सात्ययाः।

—च॰ सं॰ चि॰ ३—

सर्व देहानुगा इति सूक्ष्म सिरास्नाय्वाद्यनुगताः।<br>
सामा इति सामत्वेन स्त्यानां अप्रचलाश्च।<br>
धातुस्था इति धातुषु अत्यन्तानुप्रवेश व्यवस्थितः।<br>
न सुखेन निर्ह्रीयन्ते इति असुर्निर्हराः।

—चक्र॰—

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्<br>
शोधयेच्छोघनैः काले यथासन्नं यथावलम्।

—अ॰ ह॰ सू॰ १३—

ज्वर की आरंभवस्था (ज्वर प्रथम सप्ताह) को आयुर्वेद सामावस्था मानता है। और इसी लिये ज्वर के प्रथम सप्ताह में आम पाचनार्थ आयुर्वेद ने लंघन चिकीत्सा पर जोर दिया है।

फिर {आरंभ की लंघन चिकीत्सा से दुर्बल अग्नि के बलवान हो जाने पर} पाचनोत्तर ज्वरवेग मंद हो जाने पर ज्वर प्रत्यनीक (व्याधिविपरीत) चिकीत्सा योजना करके ज्वरमुक्ति के अनन्तर—विरेचन (शोधन) चिकीत्सा का निर्देश किया हुआ दिखायी देता है।

(इसके कुछ अपवाद भी हैं।)

**ज्वरादौ लंघनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्**
**ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वर मुक्ते विरेचनम्।**

—हेमाद्रि—

**शल्यचिकीत्सा में भी (Surgery)**

व्रणादि की आम—पच्यमान एवं पक्व } भेद के अनुसार { भिन्न भिन्न चिकीत्सा करना आवश्यक होता है।

**आमावस्था में औषधि चिकीत्सा निषिद्ध क्यों?**

जाठराग्नि दुर्बल हुये बिना शरीर में आमात्पत्ति हो नहीं पाती।

अैसी स्थिति में {अग्नि के दुर्बल होने की स्थिति} दिया हुआ औषाधि द्रव्य भी शरीरस्थ र.न आम की वृद्धि करनेवाला ही साबित हो जाता है,

—जिससे उपस्थित विकार अथवा रोगलक्षणों का और तिव्र हो जाना ही {शरीर में और आमवृद्धि के कारण} संभव होता है।

अतः व्याधि की आमावस्था में औषधिचिकीत्सा अविचार से एकदम से शुरू न करते हुये—प्रथम साम दोष को निराम करने की तथा दुर्बल जाठराग्नि को बल प्रदान करने की मूलभूत आवश्यकता होती है।

जिसके परिणाम स्वरूप—स्थानसंश्रय को प्राप्त— धातुओं में लीन बने हुये उन दोषों का स्वयमेव उत्क्लेश संपादित होकर वह स्वस्थान में लौट आता है।

{व्याधि लक्षणों का जोर कम हो जाना दिखायी देने से इस बाबत अनुमान किया जाता है।}

इस तरह—

निराम दोष प्रकोप की स्थिति में ही प्रदान की हुयी योग्य औषधि चिकीत्सा अमृत तुल्य फलदायी साबित होती है।

**निराम देहस्यहि भेषजानि भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि।**

—योगशत्क—

**साम दोष-लक्षण :**

शरीर में उत्पन्न आम के कारण दोष धातु एवं मलों के } वहन मार्ग में रूकावट पैदा हो जाती है।

अङ्ग गौरव (अंगजाड्य)

अनिलमूढता (वायु का योग्य संचार न हो पाना)

बल हानि

अजीर्ण (जाठराग्नि की दुर्बलता के कारण)

पुरीषादि मलों का सङ्ग (योग्य रूपेण उत्सर्जित न हो पाना)

आलस्य

कफनिष्ठीवनाधिक्य

मुँह में ज्यादा प्रमाण में थूक आना

(जिससे बारबार थूकने की इच्छा होना)

क्लम (परिश्रम किये बिना ही खूब थकान महसूस होना Fatigue)

अरूचि (भोजन की इच्छा ही न रहना)

(भोजन करते समय सभी पदार्थ मिट्टी जैसे स्वादहीन लगना)

**स्रोतोरोध बलभ्रंश गौरवानिल मूढ़ताः**
**आलस्यापक्ति निष्ठीव मलसङ्गा रूचि क्लमाः।।**
**लिङ्गं मलानां सामानां.....।**

–अ० ह० सू० १३–

उपर्युक्त साम लक्षणों का उपशय हो जाना } यही निरामावस्था उत्पन्न होने का सूचक माना जाता है।

**निराम दोष लक्षण—**

शरीर हलका महसूस होना ( अङ्गजाड्यनाश)

शरीर में वायु का योग्य (प्राकृत) भ्रमण।

(स्रोतसावरोध दूर हो जाने के कारण)

योग्य क्षुधानुभूति

(जाठराग्नि की दुर्बलता नष्ट हो जाने के कारण)

पुरीषादि की योग्य प्रवृत्ति

{पुराषादि की योग्य प्रवृत्ति कराना यह वात का कार्य/स्रोतसावरोध होने के कारण वात का संचार अवरूद्ध हो जाने से उसका प्रकोप हो जाने के कारण स्वयं के प्राकृत कार्य भी वह नहीं कर पाता।}

अरुचि नाश {जाठराग्नि के प्राकृत हो जाने के कारण।}

## सामवात

जाठराग्नि दुर्बलता के कारण शरीर में उत्पन्न
अपक्व अन्नरस अर्थात आम-
स्रोतसावरोध इ० संपादित कर-
शरीरस्थ वायु को भी सामता प्रदान करता है।

## सामवात लक्षण

| | | |
|---|---|---|
| मलबद्धता | - | अग्निमांद्य |
| तन्द्रा | - | आलस्य |
| आंत्रकूजन | - | तोद |
| शोथ | - | अङ्गग्रह |
| आध्मान | - | गौरव |
| अरोचक | - | स्तैमित्य |
| कटु | - | रूक्षप्रियता |

## सामवात सूचक लक्षण

१. वात की शास्त्रोक्त सामान्य चिकीत्सा करने से व्याधिलक्षण शमन होने के बजाय व्याधि लक्षणों में वृद्धि हुई दर्शित होती है।

२. सूर्योदय
रात्रि
मेघकाल
(दुर्दिन)
} इन विशिष्ट कालों में व्याधिलक्षणों में वृद्धि दिखाई देती है।

३. कटु - रूक्ष द्रव्यों से रोगलक्षणों में उपशय दिखायी देता है।

## साम वायु स्थिति में

विबन्ध {समस्त मलवाही स्रोतसों में अवरोध}

अग्निमांद्य - कटिपार्श्वशूल

शोथ {आमावातादि में संधिस्थ शोथ}

आन्त्र कूजन

तोद (सूचिका भेदनवत् तीव्रशूल)

यह गतिमान सामवायु शरीर में जहाँ-जहाँ पहुँचता है वहाँ-वहाँ इस तरह के लक्षणों को उत्पन्न कर देता है।

आम यह श्लेष्मसम गुणीय } और इसीलिये { हरदम सामान्यतः किये जाने वाले स्नेहनादि वातशामक उपचार यदि ऐसी स्थिति में किये गये तो उससे शरीरस्थ आमकी ही वृद्धि होती है तथा उससे वात का और प्रकोप बढ़ जाता है।

वायुः सामो विबन्धाग्निसाद तन्द्रान्त्रकूजनैः
वेदना शोफ निस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयन्।
विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भ्रशम्
स्नेहधै वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि।

-अ०हृ०सू० १३.

**निराम वात लक्षण**

वेदनाल्पता /विरुद्धोपायों से तथा विशेषतया स्निग्धोपचारों मे वात का शमन हो जाना।

रूक्ष - विशद - अविबन्धत्व इ० विशद (मुखादि को शुष्क करने वाला)

निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः
विपरीत गुणैः शान्ति सिन्धैर्याति विशेषतः।

-अ०हृ०सू० १३.

**२. साम पित्त-**

हरित - श्याव वर्णीय पित्त

दुर्गन्धता युक्त पित्त

अम्लरस - अम्लोद्गार

(मुँह खट्टा खट्टा लगना) (खट्टी डकारें आना)

हृत् दाह {रस का स्थान हृदय आम अन्नरस के द्वारा पित्त को दूषित कर देने के कारण}

कंठ दाह बहलत्व

स्थिरत्व कटुकत्व

गुरुत्व {सामान्य (प्राकृत) पित्त लघुगुणीय होता है}

दुर्गन्धिं हरितं श्यावं पित्तमम्लं घन गुरुः
अम्लिका कण्ठ हृत्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्।

-अ०हृ०सू० १३.

निराम पित्त

किंचित ताम्रवर्ण - पीत

अति उष्ण - तीक्ष्ण

अस्थिर {पानी में डालने से एकदम फैल जाने वाला}

कटुरसीय - गन्धहीन {सामपित्त दुर्गन्धित}

बल वर्ण रुचि कारक, अग्निवर्धक।

आताम्रपीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्
पक्वं विगन्धि विज्ञेयं रुचि पक्ति बल प्रदम्।

-अ०हृ०सू० १३.

३. साम कफ

तंतु युक्त - स्त्यानतायुक्त (अति चिकट)

कंठ में चिपक जाने वाला, उद्गाराभाव (डकार न आ पाना)

क्षुधानाश - अरूचि
चिच्छिक - दौर्गन्ध्य
प्रलेपत्व (कंठ मुखादि में)
अस्वच्छ - सान्द्र (गाढ़ा)
} इन गुणों से युक्त

आविल स्तन्तुलस्त्यानः कंठदेशोवतिष्ठते
सामो बलासो दुर्गन्धिः क्षुदुद्गार विघातकृत्।

-अ०हृ०सू० १३.

निराम कफ

पिंडित - फेनिल

पांडुरवर्णीय - गन्धहीन

अच्छ (उत्तम) - मुख शुद्धिकर (साम कफ स्थिति में दुर्गंधित तथा अति चिकना मुख)

मधुर - विशद – निःसार।

फेनवान पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च पक्वः स एव विज्ञेयः।

-अ०हृ०सू० १३.

## धातुओं का साम-निरामत्व

१) साम रसोत्पन्न विकार –

जाठराग्नि दुर्बलता के कारण उत्पन्न आम रस धातु से संयुक्त हो जाने के कारण रस साम अर्थात् विकृत बन जाता है।

भोजन अनिच्छा - भोजन अश्रद्धा

अरूचि - वैरस्य

(भोजन में कोई भी रस वा रूचि ना होना) (मुँह में स्वाद न होना)

अरसज्ञता {रसों का योग्य ज्ञान (आनंद) न हो पाना}·

तृप्ति [ पेट पूरा भरा हुआ सा लगना, सुधानुभुति न होना]

हृल्लास (मिचलाहट-Nausea )

अङ्गगौरव - तन्द्रा (आँखें सदा-सदा उनींदी रहना)

अंगनाडय - अंगमर्द (बदन टूटना)

आलस्य - ज्वर

तम (आँखों के आगे अँधेरा छा जाना)

देहपांडुत्व (निस्तेज वर्ण) पाण्डु रोग (Anaemia), स्रोतोरोध,

हृद्रोग {रस का स्थान हृदय होता है और इसीलिये यह साम या विकृत रस हृत् स्थान में रोगोत्पत्ति (विकृति) कर देता है।}

अङ्गसाद - कार्श्य (कृशता)

क्लैब्य (नपुंसकता - Impotency)

अग्निमांद्य - अग्निसाद {अग्नि एकदम नष्ट हो जाने जैसी स्थिति}

असमय में वलि-पलितादि।

{त्वचापर बूढ़े व्यक्ति की तरह झुर्रियाँ पड़ जाना, सिर के बाल असमय में पक जाना या बालों का गल जाना}

अश्रद्धाचारूचि श्वास वैरस्यमरसज्ञता
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दोज्वरस्तमः।
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्य सादः कृशाङ्गता
नाशोऽग्नेरयथा कालं वलयः पलितानि च।।
रस प्रदोषजाः रोगाः।

-च०सं०सं० २६.

तत्रान्ना श्रध्वारोचकाविपाकांगमर्द ज्वरहृल्लास तृप्ति गौरवं हृत्वाण्डुरोग मार्गोप रोध कार्श्य वैरस्यांगसादाकालजवलीपलित दर्शन प्रभृतयो रक्तदोषजा विकाराः।

—अ.सं.सू.२४—

साम रक्तज व्याधि–

जाठराग्नि की दुर्बलता के कारण उत्पन्न अपक्व आहार रस या आम शरीरस्थ रक्त से संपृक्त हो जाने के कारण रक्त को सामता प्राप्त हो जाती है।

कुष्ठ - विसर्प ( Erusepeals )

प्लीहा वृद्धि - पीडका

असृग्दर (रक्त प्रदर)

रक्तपित्त (शरीर के किसी भी भाग से रक्त स्राव होना)

गुदपाक - मेढपाक ( लिङ्ग Penis) - आस्यपाक ( मुँह)

अङ्गमर्द - वातरक्त (Gout)

नीलिका {त्वचा पर काले नीले चवट्टे उठ जाना}

गुल्म (रक्त गुल्म) - विद्रधि

कामला - व्यंग ' - पिप्लु

तिलकालक - दद्रु - चर्मदल

श्वित्र (Leucoderma)

पामा (Scabies)

कोठ (शीत पित्त -Urticara )

इन्द्रलुप्त (चाई - {त्वचा के बाल सिर के बाल झड़कर वह जगह चमकती चिकनी बदसूरत दिखाई देना)

· रक्तमण्डल - अर्श - अर्बुद, न्यच्छ आदि।

> वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः। कुष्ठ विसर्प पीडका रक्तपित्तमसृग्दरः।।
> गुद मेढ्रास्य पाकश्च प्लीह गुल्मोथ विद्रधिः।।
> नीलिका कामला व्यङ्गः पिप्लव स्तिलकालकाः।।
> दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्त्रमण्डलम्।
> रक्तप्रदोषज्जायन्ते...।

च०सं०सू० २८.

कुष्ठ विसर्प पीडका मशक नीलिका तिलकालन्यच्छ कच्छव्यंगेन्द्रलुप्तप्लीहा विद्रधि गुल्म वात शोणितार्शोऽर्बुदाऽङ्गमर्दामृग्दरक्तपित्त प्रभृतयो विकारा गुदमुखमेढ्र पाकाश्च।

–सु.सं.सू. २४.

३) साममांसज व्याधि

शरीर में अग्नि के दुर्बल हो जाने से उत्पन्न अपक्व आहार रस वा आम शरीरस्थ मांस धातु से संश्रित होने पर - उसे सामत्व या विकृति प्रदान करता है।

अर्बुद - अधिमांस (मांस पर मांस बढ़ना, मांसांकुरादि)

अर्श (Ext. piles)

उपकुश (मसूढ़े फूल जाना - Gingiviti )

उपजिव्हा - अधिजिव्हा

अलजी - मांस संघात

गलशुण्डिका - गलशालुक

गलगण्ड - ओष्ठ प्रकोप {ओंठ सूज जाना}

- पूर्तिमांस गण्डमाल इ०

श्रुणु मांस प्रदोषजान्।
अधिमांसार्वुद कीलं गलशालुक शुण्डिके
पूर्ति मांसालजीगंड गंडमालोपजिव्हीका।
विद्यात् मांसाश्रयान्।

-च०सं०सू० २८.

अधिमांसार्बुदार्शो ऽधिजिव्हीकोप जिव्होपकुश
गलशुण्डिकाऽलजी मांससंघा तोष्ठ प्रकोप गलगंडमाला
प्रभृतयो मांस दोषजाः।

-सु०सं०सू० २४.

४) साम मेदोजन्य व्याधि-

शरीरस्थ अग्निकी दुर्बलता के कारण उत्पन्न आम शरीरस्थ मेदोधातु से संश्रित हो उसे सामत्व प्रदान करता है - प्रदुष्ट करता है।

मेदोग्रंथि (Sebaseouscyst)

आन्त्रवृद्धि - मेदोज अण्डवृद्धि

मेदोज ओष्ठ प्रकोप - गलगण्ड

अर्बुद - मेदोवृद्धि (Obesity)

समस्त प्रकार के प्रमेह विशेषत: मधुमेह (Dibetes mellatus)

अति स्वेंद एवं मेदोवृद्धिजन्य अन्य लक्षण।

उसी तरह केश जटिल भाव,

अङ्गदौर्गन्ध्य - ये प्रमेह के पूर्वरूप उत्पन्न।

स्वेदाधिक्य

**मेद: संश्रयांस्तु प्रचक्षमहें**
**निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च।**

-च०सं०सू० २८.

**ग्रंथिवृद्धि गलगण्डार्बुद मेदौजोष्ठ प्रकोप मुधुमेहातिस्यौल्यातिस्वेद प्रभृतयो मेदोदोषजा: ।**

-सु०सं०सू० २४.

**५. साम अस्थिजन्य व्याधि: –**

शरीर में उत्पन्न आम के कारण अस्थिधातु में सामत्व उत्पन्न होकर उसमें उत्पन्न विकृति के कारण निम्नलिखित विकृतियाँ (व्याधियाँ) उत्पन्न होती हैं -

अधिदन्त (दाँत पर दाँत उगना)

अध्यस्थि (अस्थि पर अर्बुद इ०)

अस्थिभेदन {अस्थि में तोड़ने-फोड़ने जैसी असहनिय वेदना वा शूल उत्पन्न}

दंतभेदन (दाँत फूट जाना)

{केश-लोम-नख-श्मश्रु-ये अस्थि के मल। अत: अस्थिसामत्व की स्थिति में इनमें भी विकृति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही कहा जायेगा।}

**अध्यस्थि दन्तौ दन्तास्थिभेद शूलं विवर्णता**
**केश लोम नख श्मश्रु दोषाश्चास्थि प्रदोषजा: ।**

-च०सं०सू० २८.

**अध्यस्थि अधिदन्तास्थि तोद शूल कुनखं प्रभृतयोऽस्थिदोषजा: ।**

-सु०सं०सू० २४.

**६) साम मज्जा जन्य व्याधियाँ-**

- तम-{आँखों के आगे अँधेरा छा जाना}

भ्रम {चक्कर-Vertigo},

मूर्च्छा,

अस्थि पर्व स्थान में दीर्घमूलीय व्रणोत्पत्ति,

पर्वभेद {अस्थिपर्व स्थान में तीव्र शूल}

नेत्राभिष्यन्द {आँखों से बराबर पानी टपकना।}

रुक्पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा
अरुंषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्।
मज्जा प्रदोषजान्।

-च०सं०सू० २८.

तमोदर्शन मूर्च्छा भ्रम पर्वस्थूल मूला रुजैन्य
नेत्राभिष्यन्द प्रभृतयो मज्जदोषजाः।

-सु०सं०सू० २४.

साम शुक्र -

शरीरोत्पन्न आम शुक्र धातु से संयुक्त हो जाने से शुक्र धातु को सामत्व ( विकृति) प्रदान करता है।

साम शुक्र अप्राकृत वा दुष्ट होता है।

क्लैब्य {व्यवाय अक्षमता-नपुंसकता, संभोग असामर्थ्य-Impotency}

स्त्रियों के प्रति उदासीनता {स्त्रियों में रुचि यह शरीरस्थ शुक्र धातु की प्राकृतता पर अवलंबित}

मैथनाप्रिति - शुक्रमेह

शुक्राश्मरी - गर्भोत्पादनार्थ अक्षमत्व {वन्ध्यत्व -Sterility}

गर्भ धारणा हो भी गयी तो गर्भस्त्राव हो जाना (Mis carriage) अथवा गर्भपात हो जाना {Abortion}

शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्
रोगीणां क्लीबमल्पायु विरुपं वा प्रजायते।
न चा संजायते गर्भ: पतति स्त्रवत्यपि
शुक्रंहि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्।

-च०सं०सू० २८.

क्लैव्यमप्रहर्ष शुक्राश्मरी शुक्रमेह शुक्रदोषादयश्च तद्योषजा।

-सु०सं०सू० २४.

१. साम पुरीष-

पुरीष यह भक्षित अन्न का मल।

अग्नि की दुर्बलता के कारण आहार का अयोग्य वा अपूर्ण पचन होकर आम निर्मिति हो जाती है {अपक्व आहार रस}।

शरीर में उत्पन्न यह आम हृदय के द्वारा समस्त शरीर में प्रक्षेपित किये जाने पर यह पुरीष को भी सामत्व प्रदान कर देता है।

साम मल - पानी में डालने पर पानी में डूब जाने वाला पुरीष।

अति दुर्गन्धित - आमयुक्त

श्लक्ष्ण - असंहत

इस तरह के पुरीष की बार-बार प्रवृत्ति।

इस स्थिति में - अंगजाड्य, आलस्य, अजीर्णादि लक्षण उत्पन्न।

निराम पुरीष -

पानी में डालने से पानी पर तैरता रहने वाला

अल्प दुर्गन्धियुक्त {सामपुरीष की तुलना में}

बंधितमल प्रवृत्ति {साम स्थिति में असंहत पुरीष होता है}

अङ्गलाघवानुभूति {सामपुरीष स्थिति में अङ्गजाड्य होता है।}

कोष्ठलाघवानुभूति।

मज्जत्यामा गुरुत्वादीन् पक्त्वा तु प्लवते जले
विनातिद्रव संघात शैत्य श्लेष्म प्रदूषणात्।

-च०सं०चि० १५.

संसृष्टमेभिर्दोषस्तुन्यस्तमस्त्ववसीदती
पुरीषं भृश दुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञकम्।
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्।

-सु०सं०उ० ४०.

**साम मूत्र**

पुरीष की तरह ही मूत्र भी भुक्त आहार का मल होता है।

अत: जाठराग्नि दुर्बलता की स्थिति में अन्न के अपर्याप्त पचन के कारण पुरीष एवं मूत्र में आहार के अपक्व अंश आ जाते हैं।

यह साम मूत्र शरीर में विभिन्न विकारों को उत्पन्न करने वाला साबित होता है।

पिष्टमेह - लालामेह

ईक्षुमेह - उदकमेह

शुक्रमेह - सिकतामेह

शनैर्मेह इ०

**निराम मूत्र**

स्वच्छ - पारदर्शक, किंचित् पीत वर्ण (ईषत् पीत)

इस प्रकार शरीर में उत्पन्न आम समस्त रोगों का मूल आयुर्वेद में माना गया है।

आहारस्य रस: शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्

स मूलं सर्व रोगाणां आम इत्यभिधीयते।

-मा०नि० -वियजरक्षित.

**अत्र आमप्रदोषजानां विकाराणामपतर्पणे नैवोपरमो भवति।**

क्योंकि आम का साम्य कफ दोषों से तथा कफ दोष की चिकीत्सा अपतर्पण प्रधान होती है।

उसी तरह अपतर्पण चिकीत्सा से {अध्यशन इ० के कारण अग्नि पर ज्यादा [illegible] कर वह दुर्बल हो जाने के कारण} अग्निवृद्धि संपादित हो जाती है।

आमोत्पत्ति बंद करने के लिये अग्नि को बलवान करना अर्थात् अग्नि परका पचन कार्य करने का बोझ कम करना सर्वप्रथम अत्यावश्यक होता है।

और यह उद्दिष्ट - अपतर्पण चिकीत्सा से साध्य होता है।

उसी प्रकार ऊर्ध्व एवं अधोमार्गेण उत्क्लिष्ट हुये दोष बाहर पड़ना शुरू हो जाने पर उन्हें जबर्दस्ती से रोकने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए।

आम दोष जब स्वयं ही शरीर के बाहर पड़ने लग जाते है तब उन्हें बाहर पड़ने देना चाहिये।

{बाल-बृद्ध-धातु अतिक्षीण-गर्भिणि आदि अपवादों के विषय में भी इस बाबत गंभीरता से विचार करना होगा।}

**उत्क्लिष्टानधऊर्ध्वं वा न चामान् वहता स्वयम्**
**धारयेद्यौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदा:।**

-अ०हृ०सू० १३.

# प्लीहा {SPLEEN}

प्लीहा शरीर में वाम पार्श्व में स्थित होती है। प्लीहा यह रक्त का संग्रहस्थान। इसके द्वारा संग्राहित रक्त का उपयोग आपत्काल में शरीर के द्वारा किया जाता है।

निर्जिव रक्त कणों के ( R.B.C.) विघटन का कार्य यकृत की तरह ही प्लीहा में भी किया जाता है। विषमज्वर ;डंसंतपंद्ध जैसे जिन रोगों में रक्तकणों का नाश अति प्रमाण में होता रहता है, उस समय उनके विघटन का कार्यभार प्लीहा पर आ पड़ता है। विघटित रक्तकण प्लीहा में संचित हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्लीहा की वृद्धि हो जाती है।

इन रक्तकणों का प्लीहा के द्वारा विघटन किया जाकर उससे वह पित्त की उत्पत्ति करती है, जिसके कारण जीर्णज्वर उत्पन्न हो जाता है।

इसीलिये विषमज्वर में संचित पित्त का शोधन-शमन कर उसके द्वारा वृद्धप्लीहा को सामान्य करने के कार्य को प्राथमिकता देनी होती है।

शरीरस्थ रसग्रंथियों की तरह प्लीहा लिम्फोसाईटस नामक क्षात्रकणों को उत्पन्न कर रक्त में छोड़ती रहती है {शरीर में प्रविष्ट रोगाणुओं का मुकाबला करने के लिये}

| | |
|---|---|
| शस्त्र क्रिया से यदि प्लीहा को निकाल दिया जाय (Sphenectomy) | तो शरीर में ऐसी कोई भयंकर हानि नहीं होती सिर्फ इसके अभाव की पूर्ति के लिये शरीरस्थ रसग्रथियाँ बड़ी हो जाती है। {Over growth of lymph glands} |

प्लीहा के द्वारा रक्तकणों का निर्माण {Formation of R.B.C.} कार्य संपन्न होता है।

प्लीहा शस्त्रक्रिया से निकाल दिये जाने पर अस्थियों में स्थित लोहित मज्जा का (Red bone marrow) प्रमाण बढ़ जाता है।

क्योंकि लोहित मज्जा यह रक्त उत्पन्न करने वाला महत्वपूर्ण घटक होता है, और प्लीहा के निकाल दिये जाने पर रक्त उत्पन्न करने का ज्यादा का काम रक्त मज्जा पर आ पड़ता है।

प्लीहा जीवाणु संक्रमण से शरीर की रक्षा करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।

{लिम्फोसाइटस् नामक क्षात्रकणों की निर्मिति कीटाणु संक्रमण के समय ज्यादा प्रमाण में करके उसके द्वारा प्लीहा शरीर की प्रतिकार क्षमता ( Immunity ) में वृद्धि कर देती है।}

प्रोटिनस्थ नाइट्रोजन का विश्लेषण कर प्लीहा मूत्राम्ल (युरिक ॲसिड) की निर्मिति करती है।

उदर<br>
पाण्ड } इ० रोगों में { प्लीहा बढ़कर खूब बढ़ी हुई दिखायी देती है।<br>
विषमज्वर

साधारण या प्राकृत स्थिति में(In normal health) प्लीहा स्पर्शलभ्य नहीं होती बहुत ज्यादा वृद्धि हो जाने पर ( जलोदर-Ascite इ० में) इसकी वृद्धि स्पष्ट रुप से दूर से भी परिलक्षित होती है।

# प्राचनोक्त आम एवं आधुनिक क्रिया शरीर

भक्षित आहार पर पाचक रसों का ( Enzymes) कार्य होकर आहार रस तैयार होता है।

आहार रस पर धात्वग्नियों की क्रिया संपादित की जाकर उसका विभिन्न धातुओं में रुपान्तरण होता है तथा मलरूप अवशेष बच जाते है।

उदा– आमाशय में– प्रोटिनों का रूपान्तरण ॲमिनोॲसिडस् में तथा धात्वग्नियों के द्वारा रूपान्तरणं यूरिया में।

किन्तु अग्नि के मंद होने की कार्बोहेड्रेटस का रुपान्तरण अंतमें अंगाराम्ल में। स्थिति में उत्तम पाक के अभाव में अन्तीम रुपान्तरण न होते हुये मध्यवर्ती अपक्व द्रव्य ही यदि बना रहा तो उसे ही आम के नाम से जाना जाता है।

प्रोटिनों के अपूर्ण पाक की स्थिति में युरिकॲसिड की निर्मिति होती है। जिनका स्थान संश्रय संधियों में होकर वहीं वह संचित हुआ रहता है।

=आमवातोत्पत्ति।

इससे - तीव्रज्वर - संधिशोथ, संधि तीव्र शूल इ० उत्पन्न।

| | | |
|---|---|---|
| कार्बोहैड्रेटस स्नेहो के } | अपूर्ण पाक के कारण | { Lactic acid की (तक्राम्ल) निर्मिति |

| | |
|---|---|
| मधुमेह {Dibetes Mellatus} में कार्बोहैड्रेटस का पाक अपूर्ण रह जाने से } | स्नेह पाक भी अपूर्ण रह जाता है। जिससे अर्धपक्व अम्लद्रव्य उत्पन्न इस तक्राम्ल का स्थानसंश्रय पेशियों में। |

=आमवातोत्पत्ति। (Rheumatism)

| | |
|---|---|
| इन्सुलीन हीन योग के कारण अथवा यकृत विकार वश } | द्राक्षाशर्करा (Glucose) का Glycolen में रुपान्तरण हो नहीं पाता इसे भी 'आम' ही कहना होगा। |

**याकृत पित्तस्थ रंजक द्रव्य (Bile pigment)**

अंत्रस्थ पाक के कारण रंजक द्रव्य इस संज्ञा को पात्र होता है, जिससे प्राकृत पुरीष को वह प्राकृत वर्ण प्राप्त होता है।

| | |
|---|---|
| इस रंजक पित्त का पाक अपूर्ण रह जाने से } | अर्धपक्व रंजक द्रव्यनिर्मिति और उससे विशेषत: बच्चों में हरिताभ पीत मलप्रवृत्ति। |

हेमोग्लोबिन के अपूर्ण पाक के कारण - उसकी आमावस्था ही रह जाती है (Meth Haemoglaobinaemia) यह अवस्था उत्पन्न।

आमाशय में प्रोटिनों के अपूर्ण पाक के कारण अथवा आगे कोथादि उत्पन्न होकर जो द्रव्य बनता है, वही आम है।

रस धातु के अपूर्ण पाक के कारण कफनिष्कासन प्रमाणवृद्धि यह कफ भी आम ही होता है। कफ में (Mucin) नामक प्रोटीन जिसका पाक होकर उससे शरीरोपयोगी प्रोटिन बन नहीं पाता।

रोगजर्न्तुओं से उत्पन्न विष (Toxins) वा आगन्तु विष शरीरस्थ रोगक्षता के कारण अप्रतिकृत होकर पड़ा रहा-उन्हे बाहर निकाला नहीं जा सका तब तक उन्हें आम ही कहना होगा।

इससे वात-पित्त-कफ एवं ओज सदृश आम यह भी अनेक द्रव्यों का वर्ग होता है यह स्पष्ट हो जाता है।

–आयुर्वेदीय क्रियाशारीर वैद्य रणजितराय देसाई–

## क्षमता - रोगप्रतिकार शक्ति (Immuniy)

अपने आसपास के वातावरण में यक्ष्मा-श्वसनक ज्वर इ॰ अनेक रोगों के सूक्ष्म रोगाणु होते हैं। श्वसनादि के द्वारा वे शरीर में प्रविष्ठ हो जाते हैं।

आतिसार, विषूचिका, प्रवाहिकादि के रोगाणु अन्न-जल मार्ग से शरीर में पहुँच जाते हैं। ऐसा होने से कइयों को इससे थोड़ी अथवा ज्यादा तकलीफ हो जाती है।

कुछ लोगों को कुछ भी फर्क नहीं पड़ता तो कुछ गंभीर रूपेण बीमार पड़ जाते है। भिन्न लोगों में दर्शित यह विभिन्नता उनके शरीर की भिन्न रोगप्रतिकार क्षमता के कारण होती हैं।

रोगाणुओं से लड़ना<br>
रोगाणुओं को निष्प्रभ करना } इ॰ के द्वारा { रोगसंक्रमण से शरीर को मुक्त रखने की शरीर की शक्ति

**रोगप्रतिकार क्षमता कहलाती है।**

मनुष्य की मूल प्रकृत्ति उसकी प्रतिकार क्षमता निर्धारित करने में प्रमुखत: कारणीभूत होती है।

कफ प्रकृति व्यक्ति में } यह रोग प्रतिकार शक्ति { विशेष उत्तम प्रमाण में

तो वात प्रकृति व्यक्ति }-हीन प्रतिकार शक्ति से युक्त होता है।

और इसीलिये वात प्रकृति व्यक्ति जिन्दगी में

हरदम कभी इस रोग से तो कभी उस रोग से पीड़ित ही दिखाई देता है।

रक्तस्थ क्षात्रकण (Leucocytes) } प्रतिकार क्षमता निर्धारित करने में { अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ये क्षात्रकण जीवाणुओं को साक्षात् ग्रास बना लेते हैं और इसीलिये रोगसंक्रमण की स्थिति में संक्रमण की गंभीरता के अनुसार रक्तस्थ क्षात्रकणों में वृद्धि हुई दिखाई देती है।

ऐसी स्थिति में {शरीर में रोग संक्रमण हो जाने की स्थिति} ये जीवाणु स्वादु बन जाते हैं। शरीर में रोग संक्रमण हो जाने की इस स्थिति में रक्तस्थ विशिष्ट प्रक्रिया के कारण यह होता है।

रुधिर की यह जीवाणुओं को स्वादुता } प्रदान करने की प्रक्रिया { 'कल्पन' (Opsonin) कहलायी जाती है।

जिससे रुधिरस्थ क्षात्रणकण रोगाणुओं की तरफ आकृष्ट होकर उन्हें ग्रास बना लेते हैं।

रक्तस्थ यह विशिष्ट शक्ति व्यक्ति का

उत्तम आहार
परिश्रमशीलता -
शुद्धवायु सेवन } इ० के ऊपर अवलंबित रहती है।

रक्त के द्रवाशं में भी जीवाणु संहार की क्षमता होती है।

जीवाणु संहार की } - इस प्रक्रिया को { जीवाणुसूद (Bactteriolysin) कहा जाता है!

रोगाणुओं के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर } - उनके द्वारा उत्पन्न विष (Toxin) - - { यही रोगोत्पत्ति के लिये मुख्यत: कारणीभूत होता है।

रोगाणुओं द्वारा निर्मित शरीरस्थ इस विष को निवीर्य करने के लिये रक्त में प्रतिविष (Antoxin) तैयार हो जाता है।

सोड़ा और क्षार जिस तरह अम्लसंसर्ग में आने के उपरान्त उदासीन (Nutralise) हो जाते हैं, उसी तरह ये रक्त में उत्पन्न प्रतिविष रोगाणुओं के विष को प्रभावहीन (Ineffective) कर देते हैं।

जीवाणु नाशनार्थ रक्त में एक और क्रिया संपन्न होती है। रक्त की इस विशिष्ट क्रियाकारिता वा शक्ति को समसनी शक्ति ( **Agglutinating Power**) कहते हैं।

रक्त में समसन (Agglutinines) के संपर्क में जीवाणुओं के आ जाने पर वे एक दूसरे से चिपक जाते हैं, जिससे वे गतिहीन बन जाते हैं।

'लिम्फोसाइटस' नामक रक्तस्थ श्वेतकण वा क्षात्रकण भी शरीर में रोगाणू प्रतिरोधक कार्य करते रहते हैं।

इन lymphocytes की उत्पत्ति -

गलग्रंथि - (गिलायु Tonsils ) रसग्रंथियाँ (Lymphglands) पच्चमानाशय अंतर्भाग में स्थित 'पेअर्स पॅचेस' नामक ग्रंथिसमूह, प्लीहा (Spleen)

—इनमें होती है।

रोगाणुओं के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर उन्हें शरीर में जगह-जगह रसग्रंथियों को पार कर आगे बढ़ना होता है, और शरीरस्थ प्रत्येक रसग्रंथि अर्थात् रोगाणु रुपी शत्रु से मोर्चा लेने का एक एक 'थाना' ही होता है, जहाँ (Lymphocytes) रूपी सैनिक रोगाणु रूपी शत्रु के छक्के छुड़ाने के खातिर मोर्चा लिये डटे रहते हैं। यहाँ क्षात्रकणों का रोगाणुओं से भीषण संघर्ष होकर शरीर को रोगसंक्रमण से मुक्त करने का प्रयत्न शुरू रहता है। इसीलिये इन रसग्रंथियों में शोथ उत्पन्न हो जाता है।

२) रोगज क्षमता (Acquired Immunity)

विशिष्ट रोग एक बार हो जाने पर पुन: उसी रोग के रोगाणु शरीर में दुबारा कभी प्रविष्ट भी यदि हो जायें तो भी वे उस रोग की उत्पत्ति शरीर में नहीं कर पाते ।

उस रोग से शरीर की रक्षा करना तथा शरीर में प्रविष्ट हुये रोगाणुओं का नाश कर देना यह शक्ति इससे पूर्व हुये उस रोग के कारण ही शरीरस्थ रक्त में उत्पन्न हुई रहती है।

उदा - मसूरिका (Small Pox) व्याधि से एक बार पीड़ित हो जाने पर मसूरिका रोगाणुओं के प्रतिकारार्थ उत्तम शक्ति रक्त में हरदम के लिये पैदा हो जाती है, और दुबारा मसूरिका उस व्यक्ति को पीड़ित नहीं कर पाती।

३) युक्तिकृत रोगक्षमता (Artificial immunity)

कृत्रिम उपाय योजना से भी युक्तिपूर्वक शरीर में रोग प्रतिकार शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

विशिष्ट रोगाणु वा उनका विष (Toxin) उत्तरोत्तर क्रमश: बढ़ती हुयी, मात्रा में सूचिवेध से (Injection) घोड़े के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है, और इस तरह उसके शरीरस्थ रक्त में उस रोग का प्रतिविष (Antitoxin) तैयार कर लिया जाता है।

फिर उस घोड़े का रक्त, निकालकर उस रक्त की लसिका (Serun) छोटी-छोटी प्रणलियों में (Ampules) सुरक्षित रुप से संग्रहित कर ली जाती है, जिसका उपयोग उस विशिष्ट रोग के विरुद्ध मनुष्य शरीर में किया जाता है।

| | |
|---|---|
| अनागत रोगविषका प्रतिबन्ध<br>तथा आगत व्याधि का प्रतिकार | ये महत्वपूर्ण उद्देश्य इस लसिका चिकीत्सा पद्धति से (Serum Therapy) साध्य किये जाते हैं। |
| मसूरिका (Small Pox)<br>व्याधि के<br>प्रतिबन्धार्थ | गो-मसूरिका से (Cow-Pox) आक्रान्त किये गये गाय के बछड़े के स्तनों से निकलने वाले स्राव (Seretion) की सूचि बस्ति (Vaccination) दी जाती है। |

इस प्रकार से इस युतिकृत रोगक्षमता उत्पन्न करने की चिकीत्सा के कारण अनेक भयंकर रोगों से मनुष्य मात्र का बचाव करने में चिकीत्सा शास्त्र (Medicine) को सफलता प्राप्त हो गयी है।

| आयुर्वेद ने | ओज वा उसके कार्यभूत बल को | रोगानिग्राहक वा रोगप्रतिबन्धक | का नाम दिया हुआ दिखाई देता है। |
|---|---|---|---|

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्चते
स चैव ओज: स्मृत: काये।

– च०सं०सू० १७.

विशिष्टवंश एवं प्रतिकारक्षमता –

कुछ विशिष्ट जाति या वंशों में कुछ विशिष्ट रोगों के बाबत विशेष प्रतिकारक्षमता का होना दिखाई देता है।

| | |
|---|---|
| संतुलित-पौष्टिक आहार<br>नियमित जिवन<br>दिनवर्या, निशाचर्या, ऋतुचर्या } इ० का योग्य अनुशीलन<br>आहार विरादि बाबत } प्रज्ञापराध न करने वाला<br>कफ प्रकृति व्यक्ति<br>सत्वबल प्रधान व्यक्ति<br>{सत्व=मन/शरीर का नियन्ता प्रणेता शरीरस्थ मन ही होता है। मन यदि पर्याप्त बलवान हुआ तो साधारण सा शरीरयष्ठिवाला दुबला पतला आदमी भी बलसंपन्न तथा बलसंपन्न साबित होता है।} | इन बातों पर शरीरस्थ रोगप्रतिकारक शक्ति अवलंबित रहती है। |

# त्वचा

संपूर्ण शरीर त्वचा से व्याप्त। इसके द्वारा अंतस्थ कोमल इन्द्रियों की

| | |
|---|---|
| आधात<br>बाह्य गंदगी<br>रोगाणु<br>विभिन्न विष | आदि से<br>उत्तम रूपेण<br>रक्षा की<br>जाती है। |

महर्षि चरक के अनुसार त्वचा छः आवरणों से युक्त होती है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार त्वचा सात आवरणों से युक्त होती है।

| | |
|---|---|
| आधुनिक शरीर<br>के अनुसार | त्वचा छः आवरणों<br>से युक्त होती है। |

| | |
|---|---|
| आधुनिक शारीर<br>के अनुसार | बाह्यत्वचा (Epidermis) (यह ४ आवरणों से युक्त)<br>अन्तस्त्वचा (Dermis) (यह २ आवरणों से युक्त) |

त्वक् स्थान में भ्राजक पित्त स्थित होता है। जिसके कारण -

| | |
|---|---|
| अभ्यंग<br>स्वेदन<br>अवगाह<br>लेपन | इ० में<br>प्रयुक्त द्रव्यों<br>का पाक<br>कर |

| | |
|---|---|
| त्वचा में<br>क्रांति स्निग्धता | उत्पन्न<br>की जाती है। |

तथा

शरीरोष्मा (Body Temprature) कायम रखा जाता है।

प्राणि शरीर का समस्त बाह्य पृष्टभाग त्वचा से आवृत्त होता है।

| | |
|---|---|
| शवपरीक्षण में (Desection) बाह्य त्वचा<br>अन्तः त्वचा | इ० का प्रत्यक्ष<br>परीक्षण किया जा सकता है। |

त्वचा के नीचे मेदोधरा कला (Superficial facia) और उसके नीचे मांसधरा कला (Deep facia) का दर्शन होता है।

स्वेदोवह स्रोतसका एक मूल वा उत्पत्ति स्थान मेद {त्वक्स्थ मेदोबहुल आभ्यंतर भाग} होता

है, और इसका दूसरा सिरा–

लोमकूप (त्वचा का बाह्य पृष्टभाग) होता है।

त्वचा पृष्टभाग पर असंख्य लोमकूप तथा स्वेदो वह स्रोतों के मुख दिखायी देते हैं।

**अन्त स्त्वचा में -**

स्वेद ग्रंथि **(Sweat glands) (Sudori ferous glands)** होती है, जिनके चहुँ ओर केशिकाओं का गहरा जाल बिछा होता है।

यहाँ उत्पन्न स्वेद में ९९% जलभाग तथा 1% घन भाग होता है।

**स्वेदस्थ घन भाग में** – युरिया-सैंधवादिकी प्रधानता होती है।

इस प्रकार अंतर्गत इन्द्रिय - वृक्क - फुफ्फुस - यकृत इ० की तरह शरीरस्थ मलविसर्जन संस्था का **(Excretory system)** त्वचा यह महत्वपूर्ण अङ्ग होता है।

स्वेद के द्वारा } शरीरस्थ त्वचा { क्लिन्न, मृदु, सुकुमार, कार्यक्षम } रखी जाती रहती है।

स्वेंद के ही द्वारा } शरीरोष्मा नियमन **{Maintamance of Bodytemperature}** } किया जाता है।

विशेष उष्ण वातावरण में स्वेद ज्यादा प्रमाण में प्रवृत्त होकर त्वचा को शीत रखा जाता है।

तो विशेष शीत वातावरण में स्वेदावरोध संपादित होकर शरीरांतर्गत उष्मा को बाहर निकलने न देने का कार्य सम्पादित किया जाता है।

त्वचा के भीतर अनेकानेक सूक्ष्म स्नेहग्रंथियाँ **(Sebaseous glands)** स्थित होती हैं, जिनका स्नेह स्राव **(Sebum)** लोमकूप ऊर्ध्व भाग में स्रावित होता रहता हैं, तथा त्वचा के बाह्य पृष्टभाग पर आता रहता है

जिसके द्वारा { त्वचा, केश, लोम } को स्निग्ध रखा जाता है।

लोम एवं केश ऊर्ध्व भाग में मज्जा तंतु अनुपस्थित रहते हैं **(Absence of nerve fibres)**, जिससे ये लोम वा केश (बाल) कैंची से काट देने पर भरी वेदना की कोई संवेदना नहीं हो पाती।

इन लोम केशों के मूल अन्त: त्वचा में स्थित होते हैं और वे मज्जा तंतुओं से वेष्टित होते हैं। अत: लोम एवं केशों के खीचें जाने पर दुःख संवेदना की अनुभूति होती है।

| लोम-केश मूल | केशिकायें (Capillaries)<br>मज्जा तंतु (Nerve fibres) | इ० से वेष्टित होते है |
|---|---|---|

–जिससे लोम-केशादि का पोषण होता है

और लोमकेशादि के खींचे जाने पर दुःख संवेदना का ज्ञान होता है।

अन्तस्त्वक् एवं बहिस्त्वक् मध्यवर्ती कोषों में

रंग द्रव्य (Melanin) उपस्थित रहता है, जिससे त्वचा को सामान्य रंगप्राप्ति (कृष्णवर्ण-ताम्रवर्ण-श्यामवर्ण इ०) होती है।

त्वचा के भीतर यह रंगद्रव्य (Melanin) जितने ज्यादा प्रमाण में होता है उतना त्वचा का वर्ण काला होता है तथा यह रंगद्रव्य त्वचा में जितना कम होता है उतनी त्वचा गौरवर्णीय होती है।

| नासाग्र<br>नेत्रपलकों का ऊर्ध्वभाग<br>अुँगलियों का पिछला<br>हिस्सा जननेंद्रिय | स्थानीय<br>त्वचा<br>विशेष संवेदनक्षम<br>होती है। |
|---|---|

सबसे ज्यादा मोटा त्वचा का बाह्य स्तर

पैरों के तलुये – एड़ियाँ इन स्थानों में होता है। यहाँ की त्वक् स्थानीय संवेदना अन्य भागीय त्वचा की तुलना में खूब अल्प होती है।

| शरीर पर उपस्थित | त्वचा के आवरण के कारण | बाह्य धूलि<br>गन्दगी<br>रोगाणु | इ० का प्रवेश शरीरान्तर भाग में स्थित अति महत्वपूर्ण इन्द्रियों तक नहीं हो पाता। |
|---|---|---|---|

| त्वचा के रूक्ष हो जाने के कारण | कण्डु (Pruritis), संवेदना-ह्रास (loss of sensation)<br>त्वक् विदार {त्वचा में दरारें पड़ना-त्वचा फट जाना}<br>इ० दिखायी देता है।<br>वात प्रकृति की व्यक्ति की त्वचा में<br>उपर्युक्त विकृतियाँ परिलक्षित होती हैं। |
|---|---|

| कफ प्रकृति व्यक्ति की त्वचा | स्निग्ध<br>सुकुमार<br>उत्तम संवेदनशील दिखाई देती है। |
|---|---|

| | |
|---|---|
| पित्त प्रकृत्ति व्यक्ति की त्वचा | उष्ण स्पर्शिय (पित्त के उष्ण गुण के कारण)<br>अति स्वेद प्रवृत्ति से युक्त<br>उत्तम स्निग्धता युक्त {पित्त के स्निग्ध गुण के कारण} |

पामा (Seabies)

विचर्चिका {Eczema}

दद्रु (Ringworm)

विभिन्न कुष्ठ (Leprosy, Leucoderma ete.)

| | |
|---|---|
| रूक्ष त्वचा<br>सविदार त्वचा<br>कामला में त्वचा का पीला पड़ जाना<br>संवेदना-हास-संवेदनानुपस्थिति<br>चिमचिमायन (Tingling Sensation)<br>(त्वचा में चीटियाँ रेंगने जैसी अनुभूति) | इ०<br>विकार<br>त्वक् स्थान<br>में दर्शनिय<br>होते<br>हैं। |

## अस्थि

विभिन्न प्राणियों में शरीराकार विभिन्नता इन अस्थियों के आकार भिन्नता वश होती है।

ऊपर से सुंदर-आकर्षक दिखायी देने वाला शरीर अस्थियों का कंकाल मात्र होता हैं। अस्थिकंकाल पर मेद-मांस-त्वचा के आवरण से अस्थि कंकाल का भयावह दर्शन लुभावनी सुदंरता में परिर्वतित हो जाता है।

प्राणि शरीर के समस्त घटकों में अस्थि सबसे ज्यादा आघातक्षम एवं टिकाऊ घटक होता है।

| | | |
|---|---|---|
| शरीरस्थ समस्त अस्थियाँ | आरंभावस्था में | तरुणास्थि स्वरूपीय ही होती हैं {शिरः कपालास्थि इ० कुछ अपवाद} |

इसी कारण से आघात के कारण प्रौढ़ व्यक्तियों की तरह बच्चों में अस्थिभङ्ग (Fracture) नहीं हो पाता।

पेड की पतली सी हरी डाली (शाखा) को खूब झुकाने से वह टूटती नहीं किन्तु उसमें चीर पड़ी हुयी दिखायी देती है, बस ! यही प्रक्रिया आघात (Trauma) के कारण बच्चों की अस्थि में दिखायी देती है। (Green stick fracture)

तरुणास्थीनि नम्यते ।

सु०सं०नि० १५

नम्यते वक्रीभवन्ति एतेन वक्रलक्षणं भग्नमुक्तम् ।

–डल्हण

अस्थि का बाह्य भाग - धन संघातमय (Compact or dense tissues)

तथा

इस बाह्य भाग का निचला हिस्सा — सुषिर संघातमय {Spongy tissues} होता है।

अस्थि बाह्य(ऊपरका) पृष्ट भाग — अस्थिधरा कला से {Periostium} व्याप्त होता है, जिसमें से सिरायें एवं रक्तवाहिकाओं का आवागमन होता रहता है।

प्रौढ़स्थियों में 50% जलीयांश तथा शेषघनभाग में — 67% निरीन्द्रिय(Inorganic), 33% सेन्द्रिय(Organic) अंश होता है।

अस्थि की बीच वाली खाली (Hallow) जगह में — अस्थिमज्जा (Bone marrow) होती है। रक्तस्थ लाल कणिकाओं की (RBC) निर्मिति इसी अस्थिमज्जामें होती है। इस अस्थिमज्जा के द्वारा अस्थिपूरण कार्य संपादित किया जाता है।

लंबाकार-गोल
चपटी-बेर की गुठली की तरह छोटी
अनियमिताकार(Irregular)
— ऐसे विभिन्न आकारों की अस्थियाँ शरीर में स्थित होती हैं।

विभिन्न अस्थि (Bones) तथा तरुणास्थियों से (Cartilages) मिलकर शरीर का ढाँचा (Skeleton) बना हुआ होता है।

❖

# विकृति विज्ञान

**हीन-मिथ्या-अतियोग -**

**अतियोग**

- **काल** - ग्रीष्म में झुलसा देने वाली असहनीय धूप
  शीत में ठिठुरा देने वाली ठण्ड़
  वर्षा में लगातार भीषण वर्षा का होना तथा
  हप्ते-हप्ते तक सूर्यदर्शन ही न होना।
- **अर्थ (विषय)**
  - रुप - खूब तीव्र रोशनी में पढ़ना, खूब बारीक काम घंटों तक करना। टी०वी०/सिनेमा दर्शन अति प्रमाण में
  - गन्ध - उग्र। बेहोशी लाने वाली गंध का सेवन।
  - शब्द - दीर्घकाल तक जोर-जोर से भाषण या गायन या झगड़ना
  - रस - अतिअम्ल-अति कटु-अति मधुरादि रसों का प्रदीर्घ काल तक अति प्रमाण में सेवन।
  - स्पर्श - अतिशीत-अति उष्ण इ० का त्वचा को स्पर्श
- **कर्म**
  - कायिक - शक्ति से ज्यादा बोझ उठाना इ० कार्य अतिव्यायाम-बलवान से कुश्ति लड़ना इ०
  - वाचिक - खूब जोर-जोर से भाषण-भगड़ना वा गाना
  - मानसिक - चिन्ता-क्रोध-शोक-कामादि भावों के वशीभूत हो उनका अतिरेक करना।

हीनयोग
काल -
ग्रीष्म में मामूली धूप पड़ना
वर्षा में बरसात ही न होना
शीत वा उष्मा का शरीर को संपर्क न होने देना।
अर्थ
शब्द - अति मंद स्वर में दीर्घकाल सुनना बिल्कुल ही न सुनना
स्पर्श - शीत-उष्ण-स्निग्धादि
रुप - गांधारी की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर रहना। सतत् नेत्र बंद ही रखना। अति मंद रोशनी में पढ़ने का यत्न।
रस - सतत एक रससेवी बने रहना। विभिन्न रसों के उपयोग से वंचित रहना।
गन्ध - विभिन्न गन्धों का उपयोग ही न लेना।
कर्म
कायिक - काम वा परिश्रम से शरीर को पूर्णत: वंचित रखना।
मानसिक - चिन्ता-क्रोध-शोक-भय इ० का सर्वथ: अभाव (अति सुखासिनता)
वाचिक-बिल्कुल ही न बोलना सदा ही मौन व्रत रखना।
मिथ्यायोग
काल -
ऋतु विपर्यय होना।
शीत ऋतु में बरसात होना।
ग्रीष्म में शीत पड़ना।
अर्थ
शब्द-कभी खूब जोर की कर्कश ध्वनि दीर्घकाल सुनना तो कभी अति मंद स्वर दीर्घकाल सुनने का यत्न।
स्पर्श-चाय पीने पर एकदम अतिशीत आइस्क्रिम खाना त्वचा को अति ठंडा स्पर्श देने पर उस पर अति उष्ण स्पर्श
रुप-कभी तीव्र प्रकाश मे तो कभी अति मंद रोशनी में दिर्घ काल तक पढना।
गन्ध-बीभत्स-उबकाई लाने वाली दुर्गन्ध का सेवन
रस-कभी खूब अम्ल तो कभी अतिक्षार इस प्रकार रसों का अनियमित सेवन।
कर्म
१. कायिक कभी परिश्रम तो कभी सोये ही रहना एकदिन अतिव्यायाम तो दो दिन लेटे ही रहना दुर्बल ने अति बलवान से कुश्ती इ० लड़ना
२. वाचिक कभी खूब जोर-जोर से घंटों तक बोलना तो उस पर दो-दो दिन मौन ही रखे रहना।
३. मानसिक अति शोकग्रस्त के द्वारा खूब चिन्तन अति काम भावना के वशीभूत हो दुर्बलने खूब संभोग करना।

**कालार्थ क्रर्मणांयोगोहीन मिथ्याति मात्रका:**
**सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्येक कारणम् ।**

**-अ० ह० सू०**
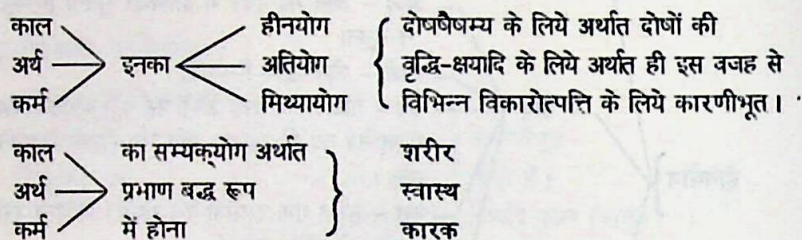
उदा:- १) वर्षा ऋतु में योग्य समय में योग प्रमाण में बरसात होना, ग्रीष्म में उचित उष्मा ऋतु के अनुसार होना। ऋतुस्वभाव के अनुसार शीत ऋतु में उचित शीतावभास ।

२) कान-नासा-त्वचा-नेत्र

इ० का योग्य उपयोग करना, जिससे उनकी शक्ति या क्षमता का उचित अपयोग संपादित हो सके तथा उनपर अनुचित तनाव नहीं पड़ पाये।

३) दौड़ना-व्यायाम-व्यवाय कर्म **(Sexual intercourse)**

निद्रा-इ० में प्रमाणबद्धता तथा नियमितता का होना।

सम्यक् योग {काल-अर्थ-कर्म का} के कारण } शरीर में दोष साम्य स्थापित रखा जाकर { शरीर निरोगी एवं कार्यक्षम रखा जाता हैं।
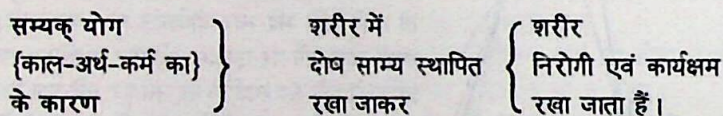
**अर्थेरकात्मेसंयोग: काल: कर्म च दुष्कृतम्**
**हीन मिथ्यातियोगेन भिधते तत् पुनास्त्रिधा ।**

**-अ० ह० सू० १२-**

❖

# प्रज्ञापराध

योग्य- अयोग्य, अच्छा-बुरा, हितकर-अनहितकर इ० का विचार करना यह प्रज्ञा अर्थात बुद्धि का कार्य है।

मन यह बुद्धि के आधीन होता है तथा सदा-सर्वदा हितकर काम ही ईन्द्रियों के द्वारा व संपादित करवाता रहता है।

किन्तु मन के अप्राकृत वा चंचल बन जाने पर प्रज्ञा वा बुद्धि का उस पर रहनेवाला अंकुश वह निकाल फेंकता है तथा (विषय लोलुप बनकर) बुद्धि विपरीत कार्यो का संपादन वह इन्द्रियों से करवाने लगता है, जिससे दोषवैषम्य (दोषों की विषमता) उत्पन्न होकर विविध रोगोत्पत्ति के लिये शरीर में योग्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्रावतन भोग {जन्मजन्मान्तर के सुकृत-दुष्कृतों के अनुसार अच्छें बुरे फल} भोगने के खातिर मनयुक्त सूक्ष्म शरीर में स्थित आत्मा अनेकानेक योनियों में भटकता रहता है–इस धारणा के अनुसार आत्मा को उन रोगादि के दुःख भोगों को भोगना होता है अतः मन चंचल {अप्राकृत-[अकृत} बन बुद्धि का अंकुश दूर फेंककर इन्द्रियों से असामान्य रोगकारक आवरण करवाता है।

अमुक करने का परिणाम हानिकारक-भयानक स्वरूपीय होगा-इस तरह से बुद्धि द्वारा सूचना प्राप्त होने पर भी विपरीत आवरण करना यह बुद्धि का अपराध ही है। इस तरह से आहार विहारादि बाबत बुद्धि से किया हुआ यह बैर ही प्रज्ञापराध कहलाता है।

संसार में अनेकानेक भयानक दुखदायी रोग दिखायी देते हैं। उनमें से बहुसंख्य रोग तो इस प्रज्ञापराधके कारण ही मनुष्य स्वयं ही आमंत्रित करता रहता है।

अतः बुद्धि का उचित उपयोग कर-चंचल मनपर संयम की लगाम कसी हुयी रखकर सतत संतुलित-विचारपूर्ण आचरण से मनुष्य अनेकानेक रोगों से अपने आपको निश्चित ही दूर रख सकता है। यदि प्रज्ञापराध न हो तो कुछ नाममात्र ही रोग बचे रह जायेंगे।

आयुर्वेद न इस सत्य को हजारों वर्ष पूर्व ही स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित कर दिया था।

| | |
|---|---|
| दिनचर्या,<br>निशाचर्या,<br>ऋतुचर्या,<br>ऋतुमतीचर्या<br>प्रसूताचर्या | आदि का सुस्पष्ट वर्णन कर इसका ईमानदारी से पालन करने वाले मानव नित्य स्वस्थ रोगमुक्त रहने बाबत आयुर्वेद का स्पष्टतः प्रतिपादित सिद्धान्त वास्तव में कितना महत्वपूर्ण है। |

इन बातों को मखोल उड़ाकर चंचलता-अविचार से चाहे जैसा आचरण करने वाले लोग सदा सदा रोगों से ही घिरे हुये रहते हैं।

स्वत: की प्रकृति का विचार न करते हुये चाहे जैसा खाना, तिव्र धूप में था असहनीय शीत में दीर्घ काल रहना, सर्दी-जुकाम आदि से पीड़ित होने पर भी दही सेवन, शितसवेनादि करना, शक्ति को सहन न हो पानेवाले कामों को जानबूझकर करते रहना, चाहे जहाँ, चाहे जिस अनजान व्यक्ति से लैंगिक संबंध बना लेना, अग्निमांद्य होने पर भी पचन के लिये भारी चीजें {केवल जिव्हालौल्य के वशीभूत ही} खूब खाना, अम्लपित्त से पीड़ित होने पर भी अम्ल-तिक्ष्ण-उष्ण-कट्वादि का मनमाना सेवन करते ही रहना-अैसे अनेकानेक उदाहरण इसके लिये दिये जा सकते हैं, जिसके कारण असात्म्यज-संसर्गज आदि अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

फिरंग-उपदंश<br>विचर्चिका-अम्लपित्त<br>स्थौल्य (मुटापा)-आमाशयविद्रधि<br>प्रतिलोम क्षय } अैसी अनेकानेक भयंकर व्याधियों को प्रज्ञापराध के कारण मानव अकारण निमंत्रण देता हुआ दिखायी देता है।

आज अचिकीत्सेय माना जानेवाला तथा जिसके नाम मात्र से ही मानव मात्र को कँपकँपी छूटने लग जाती है अैसा अेड्स् (Aids) नामक महाभयानक साक्षात कालरूप व्याधि इस प्रज्ञापराधज आचरण से ही तो उत्पन्न हो पाता है। संयम-नियमों को तोड़ मरोड़कर फेंक देना-केवल प्रज्ञापराध ही करते रहना-कामादि भावों के वशीभूत होकर चाहे जहाँ चाहे जिससे लैंगिक संबंध स्थापित कर लेना आदिअकरणीय कर्मो के कारण यह रोग लाखों करोड़ों को अपने कराल जबड़ों में लेता जा रहा है।

असात्मेन्द्रियार्थ संयोग<br>प्रज्ञापराध, परिणाम (दुष्ट काल)<br>(ऋतुओं का हिनमिथ्यातियोग) } ये ही विभिन्न रोगोत्पत्ति के लिये कारणीभूत होते हैं।

**इत्यसात्म्येन्द्रियार्थ संयोग: प्रज्ञापराध: परिणामश्चेति**

**त्रयस्त्रिविध विकल्पा हेतवो विकाराणाम्।**<br>**समयोग युक्तासु प्रकृतिर्हितवो भवन्ति।**

– च० स० सू० ११-

दोष प्रकोप
- स्वाभाविक (कालकृत)
  - वात-रूक्षादिगुण-वर्षाऋतु के शीतगुण से संयुक्त होकर
  - पित्त-उष्णदिगुण-शरद ऋतु की उष्णता से संयुक्त होकर
  - श्लेष्मा-स्निग्धादिगुण-बंसत ऋतु के उष्ण गुण से संयुक्त होकर
- अस्वाभाविक (प्रज्ञापराधज)
  - मन की चचंचलता के कारण तथा असंयम की वजह से मन चाहे जैसा स्वैराचरण करने के कारण शरीरस्थ दोष संचय की और वृद्धि होकर दोष प्रकोप संपादित हो जाता है।

दोषवैषम्य {दोषों का विषम हो जाना}
स्वतंत्र रूप से {दोष पृथक्त: वृद्धि} (३)
वातवृद्धि
पित्तवृद्धि
कफवृद्धि
संसर्गज (द्वंद्वज)
दो दोषों की समान वृद्धि के के कारण (३)
वात-पित्त
वात-कफ
पित्त-कफ
एक दोष की अधिकता से (६)
वात वृद्ध-पित्त वृद्धतर
पित्त वृद्ध-वात वृद्धतर
कफ वृद्ध-पित्त वृद्धतर
पित्त वृद्ध-कफ वृद्धतर
कफ वृद्ध-वात वृद्धतर
वात वृद्ध-कफ वृद्धतर
सान्निपातरूपेण दोष दुष्टि {तीनों दोषों की वृद्धि हो जाना
एक दोष के आधिक्य से (३)
कफ वृद्ध-वातपित्ताधिकवृद्ध
पित्त वृद्ध-वातकफाधिकवृद्ध
वात वृद्ध-कफपित्ताधिकवृद्ध
दो दोषों के आधिक्य से (३)
कफपित्तवृद्ध-वाताधिक वृद्ध
वात-कफवृद्ध-पित्ताधिक वृद्ध
वात-पित वृद्ध-कफाधिकवृद्ध
तीनों दोषों की समान वृद्धि (१)
तीनों दोष एक से बढ़ एक प्रमाण में हुयी दोष दुष्टि (६)
वात वृद्ध-पित्त वृद्धतर-कफ वृद्धतम
वात वृद्ध-कफ वृद्धतर-पित्त वृद्धतम
पित्त वृद्ध-कफ वृद्धतर-वात वृद्धतम
पित्त वृद्ध-वात वृद्धतर-कफ वृद्धतम
कफ वृद्ध-वात वृद्धतर-पित्त वृद्धतम
कफ वृद्ध-पित्त वृद्धतर-वात वृद्धतम
=२५ दोषदुष्टिप्रकार।

पृथक त्रीन बिध्दी संसर्ग स्त्रिधा तत्र तु तान्नव
त्रिनेव समया वृध्दया षडेकस्या निशायने।

-अ० ह० सू० १२-

त्रयोदश समस्तेषु षड्ह्योकानि शयेन्तु
एक तुलनाधिकै पट् च तारतम्य विकल्पनात्।

-अ० ह० सू० १२-

दोष क्षय के भी

इसी प्रकार कुल २५ प्रकार होते हैं।

वायु—प्रावृट्काले वर्षा काले वा प्रकुप्यति
शीतेन युक्ता रूक्षाद्या: कोपं (वायो:) कुर्वन्ति।

-अं० ह० सू० १२-

आदान दुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बल:
स वर्षा स्वानिलादीनां दूषणै बाध्यते पुन:।

-च० सं० सू० ६-

पित्त— वर्षाशीतो चितांगनां सहसैवार्क रश्मिभि:
तप्ता नाम: चितं पित्तं प्राय: शरदि कुप्यति।

-च० सं० सू० ६-

पित्तं शरदकाले प्रकुप्यति
उष्णेन युक्ता स्तीक्ष्णाद्या: कोपं पित्तस्य कुर्वते।

-अ० ह० सू० १२-

श्लेष्मा—हेमन्ते निचीता: श्लेष्मा दिनकृद् भामिरीरित:
कायाग्नि बाधते रोगांस्तत: प्रकुप्यते बहून्।

-च० सं० सू० ६-

श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति।
उष्णेन युक्ता स्निग्धाद्या: कोपं कुर्वन्ति श्लेष्मण:।

-अ० ह० सू० १२-

❖

# अप्राकृत वा विषम दोषावस्था
# (दोषवृद्धि-क्षयादि)

दोषक्षय- I. उस दोष के कथित प्राकृत कर्म के विषय में-ह्रास दिखायी देना दोषक्षय कहलाता है।

II. जिस दोष का शरीर में क्षय संपन्न होता है उस दोष के विपरीत गुणीय आहारविहार की व्यक्ति को इच्छा होती है।

उदा- उष्ण-तीक्ष्ण-कटु इ० गुणयुक्त आहार की इच्छा होना धूप में बैठने की इच्छा होना।

**ये पित्तक्षय के लक्षण।**

III. जिस दोष का शरीर में क्षय संपादित होता है उस दोष के विपरीत गुणीय दोष कर्मों में वृद्धि हुयी दिखायी देती है।

उदा- श्लेष्मक्षय की स्थिति में त्वक्-मुखादि में रूक्षतानुभूति शरीर लाघवानुभूति अर्थात कफ के विपरीत गुणीय वात दोष के कर्मों में (या लक्षणों में) वृद्धि हुयी दिखायी देती है।

**वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते**
**कर्मण: प्राकृताध्दाविवृध्दिर्वापि विरोधिनाम्।**

-च० सं० सू० १८-

**क्षीण: जहति लिङ्गं स्वं समा: स्व कर्म कुर्वते।**

-च० सं० सू० १७-

## दोष वृद्धि-

I. उस दोष के कथित (शास्त्रोक्त) प्राकृत गुण लक्षण कर्मों में वृद्धि हुयी लक्षित होती है।

II. जिस दोष की वृद्धि होती है उस दोष के विपरीत गुणीय दोष के गुण-लक्षण-कर्म में -ह्रास हुआ दिखायी देता है।

III. जिस दोष की शरीर में वृद्धि होती है उस दोष गुणों के विपरीत गुणीय आहार विहारादि की व्यक्ति को इच्छा होती है। तथा उस दोष के समगुणीय आहार विहार बाबत अनिच्छा उत्पन्न हो जाती है।

उदा- वातवृद्धि में- त्वचा रूक्षता-नेत्र मुखादि में रूक्षता उत्पन्न होना अर्थात

नेत्र-मुखादि में स्निग्धता, जो कफ का गुणधर्म है उसका-ह्रास हो जाना। स्निग्ध-उष्ण पदार्थ सेवन की इच्छा होती है अर्थात वातवृद्धि में-वात के रूक्ष शीतादि जो गुणधर्म उनके विषय में अप्रीति। वात गुण विपरीत स्निग्ध उष्णादि सेवन की इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

**दोष प्रकृति वैशेष्यं नियतं वृद्धि लक्षणम्**
**दोषाणां प्रकृति र्हानि वृद्धिश्चैव परीक्ष्यतें।**

-च० सं० सू० १७-

**दोषा: प्रवृध्दा: लिङ्गं स्वं दर्शयन्ति यथा बलम्।**

-च० सं० सू० १७-

वृद्धि / क्षय > दोषों की ये दोनों स्थितियाँ } अप्राकृतस्वरूपीय होती हैं।

अत: ही ये अवस्था यें स्थास्थ्यहर वा रोगात्पादक कहलाती हैं।

**दोष क्षय के सामान्य कारण-**

अति व्यायाम-अल्प वा अपर्याप्त आहार

अनाहार

रूक्षाहार-अनियमिताहार

चिन्ता-शोक-भय

रात्रौ जाग्रण

शुक्र / कफ / रक्त } का शरीर से ज्यादा प्रमाण में निष्कासन हो जाना।

भूतोपघात-ऋतुपरिणाम

**व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्प प्रमिताशनम्**
**वातातपौभयं शोको रूक्षपानं प्रजागर:।**
**कफ शोणित शुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्**
**कालो भूतोऽपघातश्च ज्ञातव्या: क्षय हेतव:।**

-च० सं० सू० १७-

| क्षयं स्थानं वृद्धिं | दोषाणां त्रिविधा गतिः | |
|---|---|---|
| | | दोष प्राकृत प्रमाण में स्वस्थान में ही स्थित रहकर उनके द्वारा प्राकृत कर्म संपादित किये जाना<br>स्थानं या प्राकृत स्थिति |
| | दोष प्राकृत प्रमाण<br>दोष गुण<br>दोष संपादित कर्म | इनमें ह्रास हुआ दिखायी देता है। इसके विपरीत उस दोष के विपरीत गुणीय दोष के गुण कर्मादि में वृद्धि दिखायी देती है।<br>–क्षय– |
| | दोष प्राकृत प्रमाण<br>दोष गुण<br>दोष संपादित कर्म | इनमें लक्षणीय वृद्धि हुयी दिखायी देती है इसके विपरीत उस दोष के विपरीत गुणीय दोष के गुणकर्मादि में ह्रास हुआ दिखायी देता है।<br>–वृद्धि– |

**क्षयं स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।**

-च० सं० सू० १७-

| | |
|---|---|
| शरीर में विकृति वा रोग लक्षणों को उत्पन्न करने की क्षमतादोष | दोष की क्षयावस्था में नहीं होती क्योंकि क्षयावस्था प्राप्त अल्पबलीय हो जाता है अत: जो स्वयं ही अल्पबल है उसके द्वारा दूष्यादिकी दुष्टिअथवा रोगात्पत्ति इ० संभव नहीं होती । |

क्षीण हुये दोषों के प्राकृत गुण कर्मो में सिर्फ -हास हुआ दिखायी देता है।

{अर्थात फिर भी इससे शरीर में संपादित होनेवाले प्राकृत कार्यो में कुछ हदतक तो बिगाड़ उत्पन्न होता ही है तथा कष्टकारक स्थितियाँ भी उत्पन्न हो ही जाती हैं।

| | |
|---|---|
| दूष्यादि की दुष्टि सम्पादित करना–<br>रोगोत्पत्ति संपादित करना | यह तो वृद्ध दोषों के द्वारा ही संपादित होता है। क्योंकि दोष वृद्धावस्था में दोष गुण कर्मादि में वृद्धि हो जाती है। तथादोष बलिष्ट बना हुआ हो जाता है। |

दोष प्रमाण में ज्यादा वृद्धि हो जाने की स्थिति में वह स्वस्थान में समा नहीं पाता अत: फैलकर (प्रसर) अन्य पराये स्थानों में स्थानान्तरण कर देता है (स्थानसंश्रय) तथा

धातु-उपधातु मलादि दूष्यों की दुष्टि कर देता है, जिससे ज्वरादि रोगोत्पत्ति संपादित हो जाती है।

इसके विपरीत **दोष क्षय की स्थिति में-** अल्पबल बना दोष स्थानसंश्रय भी कर नही पाता और दूष्यों की दुष्टि भी कर नही पाता अत: क्षय प्राप्त दोष रोगोत्पत्ति नहीं कर पाता।

क्षीण बने दोष अपने प्राकृत गुणों में तथा प्रमाण में भी हीन बन जाते हैं अत: उनमें विकारोत्पादक शक्ति ही नहीं रह पाती।

**लिङ्ग स्वं ..हतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृति लिङ्ग**
**क्षय व्यातिरिक्तं विकार कर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति।**

-चक्र-

वृद्ध दोष उन्मार्गगामी होकर-दूष्यों को दुष्ट कर रोगोत्पत्ति संपादित कर देते हैं।

दोष की क्षयावस्थायें वह क्षीण दोष रोगोत्पत्ति नहीं कर पाता, किन्तु उसके विराधी गुणीयदोष की उससे वृद्धि हो जाने के कारण उसके द्वारा रागोत्पत्ति कर दी जाती है-ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है।

**आयुर्वेद आचार्यों ने दोष विषमता की स्थिति को ही रोगावस्था कहा है।** इसके अनुसार दोषक्षय की अवस्था भी तो विषमावस्था ही होती है, जिनका उपचार करना आवश्यक हो जाता है।

आचार्य रामरक्षक पाठक के मतानुसार कुछ विशिष्ट विकार उस उस दोष के क्षय के कारण ही उत्पन्न होते रहते हैं।

**उदा-वातक्षय से-** मन्दचेष्टता-अल्पवाक्,अप्रहर्ष-मूढसंज्ञता, अग्निविषमता

**पित्त क्षय से-** मंदोष्मता-निष्प्रभता, अनियत तोद-स्तंभ

**कफ क्षय से-** अतंर्दाह-आमाशयशून्यता, संधिशिथिलता, श्लेष्माशयशून्यता इ०

आचार्य रामरक्ष पाठक आगे कहते हैं-

**तद्वतही 'क्षीणा वर्धयितव्या:'-** यह चिकीत्सा का सूत्र जो वर्णित किया हुआ दिखायी देता है, वह 'दोष क्षय से रोग नहीं हो पाते' जैसा मानने से निरर्थक ही कहलाया जायेगा।

चरक संहिता सूत्रस्थान अ० १७ में-

'क्रियन्त: शिरषीय अध्याय-में- क्षीण हुये दोषों से उत्पन्न होनेवाली २५ व्याधियों का स्पष्ट निर्देश किया हुआ दिखायी देता है।

तद्वतही दोष-धातु-क्षय के जो कारण-लक्षण एवं चिकीत्सा का स्पष्ट विवेचन चरक-सुश्रुत-वाग्भट तीनों संहिता ग्रंथों में-उपलब्ध हो जाता है।

दोषों के प्राकृत कर्मो में ह्रास एवं तत्‌विरोधी गुणवृद्धि दर्शित होने पर उसके क्षय का अनुमान कर लेना चाहिये।

## वात क्षय लक्षण-

मन्द चेष्टता {क्रिया क्षमता एवं चेष्टाओं में-ह्रास}

अल्पवाक् {बोलनेकी क्रिया वायु के द्वारा संपादित की जाती है। अत: वाक् क्रियाकर वह वायु ही जब क्षीण हो जाये तो उसका कार्य वाणी में भी-ह्रास स्वाभाविक ही कहा जायेगा}

अप्रहर्ष

मूढ़संज्ञता (ज्ञान वायु के ही द्वारा )

प्रसेक {वातक्षय में वायु की रूक्षता में कमी आ जाना अर्थात् ही तद्विपरीत स्निग्धता की वृद्धि संपन्न हो जाना}

अरूचि-हूल्लास {मिचलाहट Nausea }

अङ्गसाद (बदन टूटना)

अग्निवैषम्य {अग्निको संधुक्षित (प्रज्वलित) कर उसको कार्यक्षम रखने का कार्य वायु का ही है}

श्लेष्वृद्धि {श्लेष्मा यह वात के विपरीत गुणधर्मीय दोष। वात का क्षय होना अर्थात् तद्विपरीत कफ गुणधर्म की वृद्धि होना होता है।}

श्वसन-ह्रास-चेष्टा-ह्रास-उत्साह-ह्रास

धातुसमगति-ह्रास-मलोत्सर्जन क्रिया-ह्रास,

विविध शारीर क्रिया-ह्रास {मन नियमन-ह्रास मन का चंचल बनना क्योंकि शरीर का नियन्ता-प्रणेता मन तो मन का नियन्ता-प्रणेता शरीरस्थ वायु दोष होता है।}

हर्ष-उत्साह-ह्रास-

प्रस्पंदक (हृदयादि) अवयवों की क्रियाओं में-ह्रास, धातु पूरण कार्य-ह्रास-सारकिट्ट पृथक्करण क्रिया-ह्रास संक्षेप में देखा जाय तो शरीर में वायु के द्‌वारा जो जो कर्म संपादित किये जाते हैं उन सबमें, वातक्षय की स्थिति में -ह्रास हुआ दिखायी देता है।

| | |
|---|---|
| वातगुणधर्मों के विपरीत गुणीय आहार-विहार सेवन | वातक्षय का प्रधान कारण |

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्प प्रतिमाशनम्
वातातपौभयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः।

-च० सं० सू० १७-

कफशोणित शुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्
कालोभूतोपघातश्च ज्ञातव्यः क्षय हेतवः।

-च० सं० सू० १७-

| | |
|---|---|
| वातक्षय का उपचार | वायु दोष के गुणयुक्त लघु-रूक्ष-शीतादि गुणीय आहार-विहार सेवन। |

## वातवृद्धि लक्षण-

| | |
|---|---|
| वायु के रूक्ष<br>लघु<br>शीत<br>खर<br>चल | गुणधर्मों में वृद्धि हुयी दिखायी देना वायुवृद्धि कहलाती है। |

त्वक्‌रूक्षता-त्वक्‌पारूष्य-

वाणी कर्कशता-देहकार्ष्ण्य-अङ्गस्फुरण

{शरीर वर्ण काला पड़ जाना} (अङ्ग फड़कना)

उष्णप्रीति-बल-हास

{शरीर बल कफ के आधीन होता है। वात वृद्धि का अर्थ है कफ का क्षय}

निद्रा-हास {निद्रा यह शरीरस्थ कफ की स्थिति के ऊपर निर्भर रहती है।}

अनुत्साह-मलरूक्षता विबन्ध

मज्जाशोष-{मज्जा कफसम गुणी या वात वृद्धि में कफ क्षय हो जाता है अतः मज्जशोष}

विबन्ध [constipation]

इन्द्रियोपघात

अस्थिशुष्कता-आनाह-प्रलाप

भ्रम (चक्कर - vertigo)

आटोप (पेट फूला हुआ तथा गुडगुड़ाहट से युक्त)

शोक- भय- दैन्य ।

वृद्धस्तु कुरुतेऽनिल: ।
कार्श्य कार्ष्ण्योष्ण कामित्व कम्पानाह शकृद ग्रहान्
बल निद्रेन्द्रिय भ्रंश प्रलाप भ्रम दीनता: ।

-अ० हृ० सू० ११-

वात वृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्य कार्ष्ण्य गात्रस्फुरण मुष्णकामिता ।
निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढ वर्चस्त्वं च ।।

-सु० सं० सू० १५-

अन्य बलत्वं उत्साहहानि: ।

-डल्हण-

कार्श्य कार्ष्ण्य गात्रकंप स्फुरणोष्णकामिता संज्ञा निद्रानाश
बलन्द्रियोऽपघातास्थिशूल मज्जाशोष मलसङ्गाध्मानाटोप
मोह दैन्य भय शोक प्रलापदिभि: वृद्धो वायु: पीडयति ।

-अ० सं० सू० १९-

वात वृद्धि में वायु के प्राकृत कर्मों में वृद्धि हो जाती है ।

अंग संकोच,

शिर--नासा-नेत्र-ग्रीवा-स्कंधादिका विनमन

सन्धिचेष्टामन्दता

संधिभेद (संधियों को तोड डालने जैसी संधियों में असह्य पीड़ा)

हस्त
पाद } का ग्रह । (जकड़ जाना)
शिर

प्रलाप-रोमांच-खञ्जत्व (लँगड़ापन)

पंगुत्व (दोनों पैर लंगड़े वा क्रियाहीन हो जाना)

अनिद्रता-कुब्जत्व (कुबड़ निकल जाना)

अंगशोथ शुक्र } का क्षय
आर्तव (-हास)

कर्मेन्द्रियाँ } प्राकृत क्रियाओं में
ज्ञानेन्द्रियाँ कमतरता आ जाना।

मूढ़गर्भता-मृतगर्भता-वन्ध्यत्व

विकारयुक्त गर्भ

स्पर्श-हास-कंप-अंगभेद

श्रम {थकान-Tiredness}

आक्षेप (convulsions) -शूल

णेद् {सूइयाँ चुभोने जैसी तिव्र पीड़ा}

मनोभ्रम (Delusion)

दैन्य-शोक-प्रलाप इ०

उसी तरह आवरणादि के कारण कुपित वायु { अनेकानेक विकारों को उत्पन्न करने वाला हो जाता है।

कुपितास्तु खलु शरीरे नानाविधैर्विकारैरूपतपाति,
बलवर्ण सुखायुषा मुपघाताय भवति, मनोव्याहर्षयति,
सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादमत्यति
कालं वा धारयति भय शोक मोह दैन्याति
प्रलापान् जनयति प्राणांश्चोपरूणाद्धि।

-च० सं० सू० १२-

संकोचः पर्वणां स्तंभो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि
लोभहर्षः प्रलापश्च प्राणि पृष्टो शिरोग्रहः।
खाञ्जं पाङ्गुल्यं कुब्जत्वं शोषोऽङ्गनामनिद्रता
गर्भशुक्र रजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता।
शिरानासाक्षि जत्रुणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्
भेदस्तोदोऽतिराक्षेपो मोहश्चायास एव च।

एवं विधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः
हेतुस्थान विशेषाश्च भवेद्रोग विशेषकृत ।

-च॰ स॰ चि॰ २८-

## वातवृद्धि के कारण
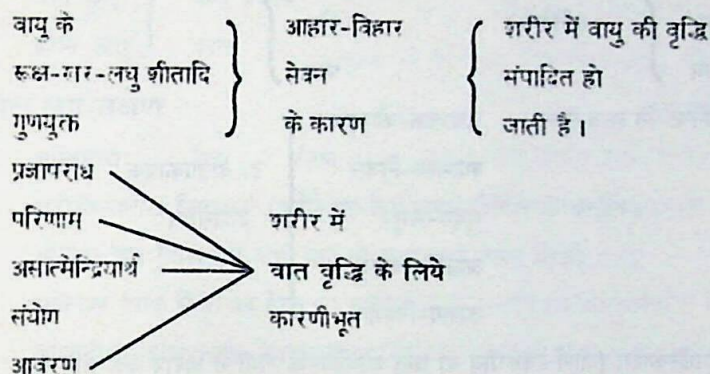
## वात प्रकोप के कारण-

बलवान के साथ युद्ध-अति व्यायाम
अति व्यवाय-अति अध्यशन-ऊँचाई से गिरना
खूब पैदल चलना-अंग प्रपीडन-आघात
खूब लम्बी दौड दौड़ना-अल्पाहार
प्रतरण-तिव्रगामी यान में यात्रा
अनाहार-जाग्रण-अति भारवहन
ऊँट-घोड़ा-हाथी इ॰ की लम्बी सवारी
शुष्क शाकसेवन-अध्ययन-धातुक्षय

कटु, तिक्त, कषाय } अति सेवन ।
रुक्ष, लघु, शीत } अति सेवन ।

शुष्कमांस सेवन-विषमाशन-वेगधारण
कनिष्ट निःसत्व-वातप्रकोपकर आहार-विहार अतिसेवन ।

विषमोपचार-दोषातिस्रवण-रक्तातिस्रवण

मलातिस्रवण

| | | | |
|---|---|---|---|
| चिन्ता<br>शोक<br>भय<br>काम | आदि का अतिरेक। | मल<br>मूत्र<br>स्वेद<br>कास | इ० वेगों का अवरोध |

| | | |
|---|---|---|
| कनिष्ट-निःसत्व सेवन | उघालक-कोरदूषक<br>श्यामाक-निवार<br>मुद्ग-मसूर<br>आढकी-चणक<br>कलाय-निष्पाव | इ० वातप्रकोपक द्रव्यसेवन |

रोगातिकर्षण {जीर्ण स्वरूपीय या धातु शोषकारक रोगों से शरीर कृश होने से}

दुःखासन (एक ही स्थिति में (कष्टकर) अधिक काल खड़े रहना इ०)

दुःखशय्या-आम दोष

{शरीर में आम संचिति से स्रोतसावरोध और स्रोतसावरोध के कारण वात संचार में बाधा आने के कारण वात प्रकोप}

मर्मोपघात-तृणधान्यसवेन-तृषिताशन {खूब प्यास लगने पर पानी पीने के बजाय खाद्य सेवन}

वमन, विरेचन — इ० शोधनाति योग।

विषाहार — विरूद्धान्न सेवन

विष्टंभि सेवन — शुष्काहार

निग्रह

{तिव्र भावनाओं पर (कामादि) जबरन नियमन के कारण}

काफी देर तक, लगातार, ऊँचे स्वर में — भाषण अथवा गायन

अति उत्कुंठा-साहस कर्म (अपनी शक्ति से ज्यादा काम करना)

क्षुधिताम्बुपान {खूब भूख लगी हुयी होने की स्थिति में खूब पानी पीना} खूब वजनदार अश्म-शिला इ० काफी देर तक उठा उठाकर फेंकना। क्रियाति योग। करीर-तुम्ब-कलिंग-तिर्भट-शालुक-आम्वत-तिन्दुक इ० का अति सेवन।

| | |
|---|---|
| अपरात्र<br>वर्षा ऋतु<br>ग्रीष्म ऋतु | वात प्रकोप<br>काल |

## पित्त क्षय लक्षण

अग्निमाद्य शैत्य स्तंभ

शरीरोष्मामांद्य-निष्प्रभता (शरीर का तेज यह कर्म पित्त के आधीन)

अनियत दाह {शरीर में कभी यहाँ तो कभी वहाँ जलन होना}

अविपाक {पाक क्रिया यह पित्त का कार्य}

अङ्गगौरव-नखशुक्लता-नेत्रशुक्लत्व

अरोचक {पित्त क्षय के कारण अग्निमांद्य और अग्निमांद्य के कारण अरोचक}

स्तंभ-अनियत तोद {कभी यहाँ तो कभी वहाँ शरीर में सूई चूभने जैसी पीडा}

कंप-अंगपारूष्य {पित्त का स्निग्ध गुण क्षीण हो जाने के कारण}

**स्तंभ शैत्यानियत तोद दाहारोचका विपाकाङ्ग पारूष्यकंप**

**गौरव नखनयन शोक्ल्यादिभिः पित्तम्।**

**कर्मणः प्राकृताध्दानि।**

-अ० सं० सू० १९-

**पित्ते क्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च।**

-सु० सं० सू० १५-

**पित्ते (क्षीणे) मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः।**

अ० हृ० सू० ११-

तद्वतही पित्त के प्राकृत कर्मों का ह्रास एवं तत्विरूद्ध गुण वृद्धि हुयी दिखायी देती है।

दर्शन हानि {रूपालोचन-यह पित्त का कार्य होता है।}

पचन-ह्रास {पाचक पित्त यह जाठराग्नि रूप ही होता है।}

क्षुधाल्पना-तृष्णा-ह्रास {पित्त के उष्ण गुण के -ह्रास हो जाने से}

देह मार्दव -ह्रास {पित्त के स्निग्ध गुण-ह्रास के कारण}

प्रभाहानि {दिहस्थ प्रभा-तेज यह पित्त के आधीन}

मन:प्रसाद-ह्रास मेधा-ह्रास

प्राकृत वर्णहानि {देह प्राकृत वर्ण यह पित्त के आधीन}

शौर्यहानि-हर्षहानि-प्रसादहानि

रागहानि {राग-रंजन कार्य यह पित्त के आधीन}

ओजोन्ह्रास ।

**राग पक्ति ओज स्तेजो मेंधोष्मकृत**
**पिंत्तं पंचधा प्रविभक्तं अग्निकर्मणोऽनुग्रहं करोति ।**

**-सु० सं० सू० १५-**

**दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुतृष्णा देहमार्दवम्**
**प्रभा प्रसादौ मेधा च पित्तकर्मणाऽविकारजम् ।**

**-च० सं० सू० १८-**

**पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रात्वमुष्मण:**
**प्रकृत-विकृत वर्णौ शौर्यं क्रोधं हर्षं मोंहं**
**प्रसादमित्ये एवमादिनी चापराणि द्वंद्वानि ।**

**-च० सं० सू० १२-**

## पित्त क्षय कारण-

## पित्त वृद्धि लक्षण–

त्वक् पीतता-दाह-भ्रम

तम (आँखों के आगे अंधेरा छा जाना)

अल्पनिद्रा-मूर्च्छा

बलहानि, इन्द्रिय क्षमता हानि

| | | |
|---|---|---|
| मल<br>मूत्र<br>नेत्र | } पीतता। | तृषा<br>क्रोध<br>ओजो विस्त्रंस |
| ग्लानि- | | शीताहार विहार प्रीति |

शरीरस्थ पित्त के } प्राकृत गुण-कर्म में वृद्धि हो जाना } { पित्त वृद्धि कहलाती हैं।

**पित्त वृद्धौ पीतावभासता संताप: शीतकामित्वमल्पनिद्रता**

**मूर्च्छा बलहानि: विण्मूत्रनेत्रत्वं च।**

सु॰ सं॰ सू॰ १५-

**पीतत्व ग्लानि इन्द्रिय दौर्बल्यौजो विस्त्रंस शीताभिलाष**

**दाह तिक्तास्यता तृण्मूर्च्छाऽल्पनिद्रता क्रोधादिभि: पित्तं वृद्धं पीडयति।**

-अ॰ सं॰ सू॰ १९-

## पित्त प्रकोप लक्षण–

पाक-स्वेद-कण्डु

पूति (**Pus formation**) -दाह

क्लेद-स्राव-अम्लोद्गार

शुक्लारूणवर्जित वर्ण-धूमोद्गार

दरण (विदारण)-राग (**Redness**)

विस्फोट-अम्लरस-कटुरस

प्रलाप-मूर्च्छा-दौर्गन्ध्य

औष्ण्य-कोथ (सड़ने की प्रक्रिया)

मद-विसरण-अरति (पीड़ा)

तृष्णा-तिक्तरसता-अतृप्ति

पाण्डुरहित अन्य वर्णता।

तमः प्रवेश (अन्धेरे प्रविष्ट हो जाने जैसी अनुमति)

**दाहोष्ण्य पाकस्वेद क्लेद कण्डु स्राव रागा यथास्वं च**

**गन्धवर्ण रसाभितिर्वर्तनन पित्तस्य कर्माणि,**

**तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवसेत्।** –च.सं.सू. २०–

**पित्त के नानात्मज विकार भी इन्हीं में समाविष्ट हो जाते हैं।**

ओष – प्लोष – दाह – दवथु

धूमोद्गार – अम्लोद्गार

विदाह – अंतर्दाह – अंगदौर्गन्ध्य

अतिस्वेद – उष्माधिक्य – अंसदाह

अंगावदरण – शोणित क्लेद – मांसक्लेद

त्वक् – मांसदाह – रक्तपित्त – रक्तमण्डल

रक्तविस्फोट – रक्तकोष्ठ – नीलिका

चर्मदल – हारितत्व – हारिद्रता

तिक्तास्यता – पूतिमुख(मुखदौर्गन्ध्य) – अतृप्ति

तृष्णाधिक्य – अरति – हारित मूत्रता

हरीत पीतनेत्रता – हरित वर्चस्त्व (वर्चस्=पुरीष)

गल-अक्षि<br>गुद-मेंढू (Penis) } का पाक।

## पित्त प्रकोपक कारण :–

पित्तगुणीय<br>आहार-विहारातिसेवन<br>के कारण<br>क्रोध-शोक-भय } शरीर में पित्त का प्रकोप संपन्न हो जाता है।

आयास (अति परिश्रम)-मैथुनाधिक्य

उपवास-विदग्धता

| | | |
|---|---|---|
| कटु<br>तीक्ष्ण<br>उष्ण<br>विदाही | अन्नपान<br>अतिसेवन। | मध्यान्ह<br>अर्धरात्रि<br>शरद ऋतु<br>वर्षा ऋतु |

तिलतैल – पिण्याक – कुलथी

सर्षप – अतसी – हरितशाक – अन्नपच्यमानावस्था

मत्स्य – अज – आविक आतपसेवन

गोधा मांस – दधि – कूर्चिका – अग्निसेवन

सौविरक – सुराविकार रज – तृष

अम्लपान क्षार – शुक्त – ईर्ष्या

मूत्र (गोमूत्रादि) निष्पाव, अजीर्ण मैथुन

आम्रातक-धान्याम्ल क्षुत्‌रोध

अम्लिका –(इमली) पीलु तृट् रोध

भल्लातक – मरिच

आदि का अति सेवन।

| | | |
|---|---|---|
| पित्त वृद्धि-प्रकोपादि<br>का<br>विचार करते समय | याकृत पित्त का भी<br>विचार (Bile) | किया जाना अनिवार्य<br>हो जाता है। |

–क्योंकि पित्तवृद्धि से रक्त का मल जो याकृत पित्त उसकी भी वृद्धि होकर उससे दुष्टि वा व्याधिलक्षणों की उत्पत्ति होती है।

**याकृत पित्त–यकृत में उत्पन्न होकर यकृत अधोभाग में स्थित पित्ताशय (Gall baladder) में संचित होता है।**

–और इस प्रकार धातुपाकादिजन्य जो मल रुधिर में संचित हुये रहते हैं वे यकृत में

पहुँच जाते हैं।

प्रतिहारिणी सिरा द्वारा लाये गये रक्त में स्थित इन मलों का यकृत में यकृत के द्वारा विघटन किया जाकर उससे पित्त(Bile) निर्मिति की जाती है।

अन्नपचन काल में– याकृत पित्त वाहिनी (Hepatic duct) के द्वारा पित्त ग्रहणी में (Duodenum) लाकर छोड़ा जाता है।

याकृत पित्त– किंचित पीत-लाल-भूरा-हरिताभ होता है।

पित्त गंध कस्तुरीवत्।

पित्त रस-तिक्त-मधुर

पित्त प्रतिक्रिया (Reaction) – क्षारीय (Alkaline) इसमें– पित्त के रंजक (Bile Pigments) युरिया, युरिक ॲसिड इ॰ होते हैं।

युरिया अन्त में वृक्कों के द्वारा(Kidneys) रक्त से अलग निकाल दिया जाकर मूत्र के द्वारा शरीर के बाहर उत्सर्जित कर दिया जाता है।

## याकृत पित्त कर्म–

विशेषतया स्नेहों के पचन कार्य में अग्न्याशय रस का सहायक बनना। आन्त्रस्थ जीवाणुनाश, पक्वान्न (सारभाग) आचूषण कार्य में मदद। स्थूलान्त्रस्थ अपकर्षणी गति को उत्तेजित करना।

कफ प्रकोपादि के कारण पित्तवह स्त्रोतसावरोध [ Obstruction in Hepatic Duct] जिससे हरदम की तरह अन्नपचन के समय पित्त ग्रहणी में पहुँच नहीं पाता तथा पुन: आचूषित कर लिया जाता है, जिससे वह सर्वाङ्ग में रक्त के साथ प्रक्षेपित कर दिया जाता है।

जिससे–नख<br>
नेत्र } पीतता–<br>
मूत्र } हारिद्र वर्णता

मलवर्ण तिलपिष्टनिभवर्चस् (पीसे हुये गीले तिलों की तरह के रंग का अर्थात रंगहीन) इसी को शाखाश्रित कामला (Obstructive jaundice) कहते हैं।

इस स्थिति में पित्त क्षांत्र में न पहुँच पाने के कारण––

स्नेहद्रव्य पाचन } योग्य रूप में नहीं<br>
एवं आचूषण } हो पाता।

तथा वे द्रव्य अपक्वावस्था में ही मल के साथ बाहर उत्सर्जित हो जाते है।

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्च: सृजति कामली<br>
श्लेष्मणारूद्ध मार्गं यत् पित्तं कफहरैर्जयेत्<br>
कफ संमूर्च्छितो वायु: स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली<br>
हारिद्र नेत्र त्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरा:।

-च॰ सं॰ चि॰ १६-
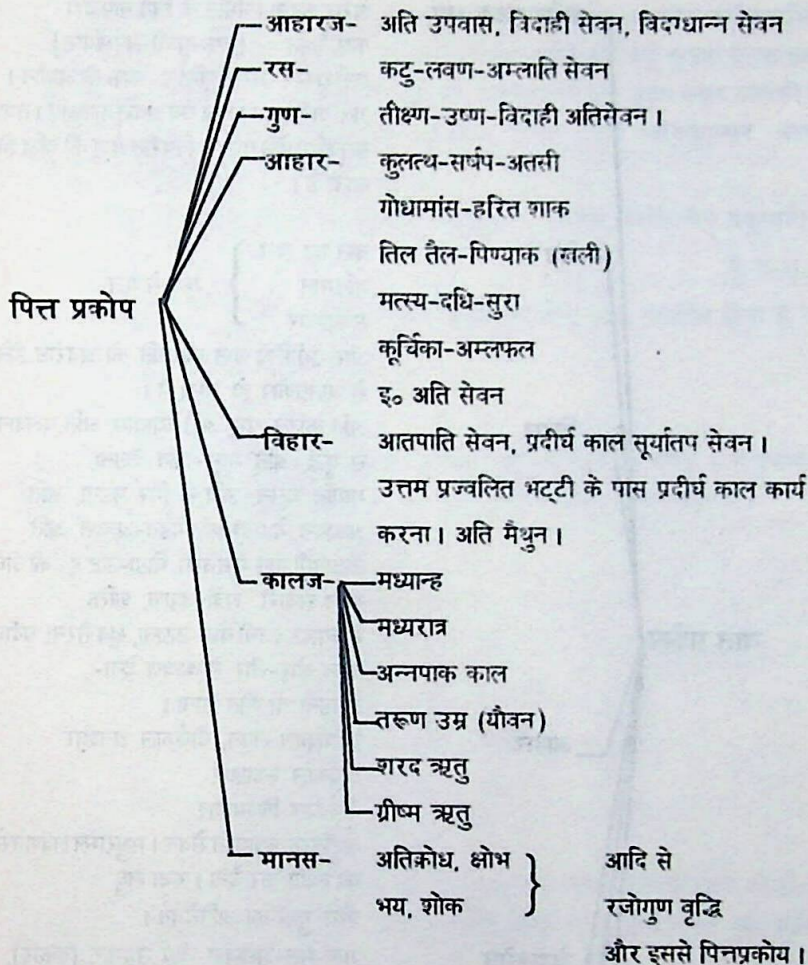
**क्रोध शोक भयायासोपवास विदग्ध मैथुनोपगमन कटु अम्ल लवण।**
**तीक्ष्णोष्ण लघु विदाही तिल तैल पिण्याक कुलत्थ**
**सर्षपातसि हरितशाक गोधामत्स्याजविक मांस,**
**दधि तक्र कूर्चिका सौविरक सुराविकार अम्लफल**
**कट्वर प्रर्वात्तिभि: पित्तं प्रकोपमापद्यते तदुष्णै:**
**उष्ण काले च मेघान्ते च विशेषत:।**
**मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीरत्यन्नें च प्रकुप्यति।**

-सु० सं० सू० २१-

शरीर घटक निर्मिति के लिये कफदोष कारणीभूत {कफ-पृथ्वी अप्‌भूयिष्ट} शरीराकार-शरीर पुष्टि इ० कफ के आधीन। अत: शरीर घटकोंका क्षय अर्थात् कफक्षय। तथा कफक्षीण होने पर तद् विपरीत वायु की वृद्धि हो जाती है।

वात यह चल, गतिमान, सर्वदेहचर } गुणों से युक्त
और इसीलिये वात की गति को अवरोध होने से वातप्रकोप हो जाता है।

अति कठिन श्रम, अति व्यायाम, अति बलवान से युद्ध, अति मैथुन-अति दौड़ना, मार्गति चलन, ऊँचे से गिर पड़ना, अति अध्ययन, देहाङ्गअतिपीडन-आघात, अति तीव्रगामी यान में सवारी, घोडा-ऊँट इ० की दीर्घ काल सवारी, रात्रों जाग्रण, शक्ति से ज्यादा वजनी बोझ उठाना, खूब तैरना, प्रदीर्घ काल जोर-जोर से भाषण देना-झगड़ना वा गीत गाना।

प्रदीर्घकाल लंघन, दीर्घकाल अनाहार
दीर्घकाल रूक्षाहार
दीर्घकाल विषमाहार
कटुतिक्त कषायाति सेवन। मधुराम्ल लवण रसों का त्याग कर देना। रूक्ष लघु शीत गुणों का अतिसेवन।

मल-मूल-अधोवात-वीर्य उद्गार (डकार), छींक, तृषा-क्षुधा, निद्रा, कास, श्रमश्वास इ० वेगों का अवरोध करना।

प्रात: - सायं - अन्नपचनोत्तर काल, तूफानी हवा-बुढ़ापा-वर्षात्रृतु।

चिन्ता-भय-शोक-कामाति पीडितता इ० के कारण-
रजोगुण वृद्धि एवं तत् गुणीय वात की भी वृद्धि संपन्न।

तत्र बलवद् विग्रहाति व्यायाम व्यवाय अध्ययन प्रपतन प्रधावन प्रपीडनाभिघात लंघनालवन तरण रात्रिजागर भारहरण गज तुरग रथ पदातिचर्या कटु कषाय तिक्त रुक्षलघु शीतवीर्य शुष्क शाक वल्लूर वरकोद्यालक कोरदूष श्यामाक नीवार मुद्ग मसूर ढाणकी हरेणु कलाय निष्पाव अनशन विषमाशव वातमूत्र पुरीष छर्दी क्षवथूद्गार बाष्पवेग विधातादिभिर्वायु: प्रकोपमापद्यते।

स शीत प्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषत:। प्रत्युपस्य परोहम् जीर्णेऽन्नेच प्रकुप्यति।।

सु०नं०सू० २१.

शरीर में वात का प्रकोपण तथा प्रशमन ये क्रियायें किस तरह संपादित होती हैं ?

जिन्हें वात प्रकोपक द्रव्य कहा गया है

उनके सेवन से -

उनका कार्य एक दम साक्षात वायु पर सम्पादित नहीं होता तो इस प्रकार वात प्रकोपक के सेवन से शरीर में वात प्रकोपणार्थ योग्य भूमि वा वातावरण तैयार किया जाता है।

अर्थात् उस शरीरावयव में रूक्षता

लघुता
कठिनता
खरत्व
शीतता
विशदता
सुषिरता

} इ॰ उत्पन्न करते हैं।

वायु का उन स्थानों से होकर संचरण होते समय उन स्थानों में उसके गुणों की ही (लघु रूक्ष खरादि) उपस्थिति होने के कारण "वृद्धि: समानै: सर्वेषां" - न्याय से उसकी वृद्धि (प्रकोप) हो जाती है।

वात प्रकोपणानि खलु रुक्ष लघु शीत दारूण

खर विशद सुषिर कराणि शरीराणाम्।

तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वांऽऽप्या मान: प्रकोपमापद्यते।

वात प्रशमनानि पुन: स्निग्ध गुरुष्ण श्लक्ष्ण मृदुपिच्छिल घन कराणि शरीराणाम्।

तथा विधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते।

व०सं०सू० १२

**एतेनैदुक्तं भवति - यद्यपि वायूना वात कराणां वातशमनानां वा तथा संवन्धो नास्तिख तथाऽपि शरीरसंबधैस्तैर्वातस्य शरीरचारिण: संबंधोभवति ।**

**– चक्रपाणि**

वातशमन करने वाले द्रव्य भी इसी प्रकार अप्रत्यक्षत: वायु का प्रशमन सम्पादित करते रहते हैं-प्रत्यक्ष रुपेण नहीं ।

अर्थात् वे वातशामक द्रव्य शरीर में पहुँचकर स्निग्धता-उष्णता-श्लक्ष्णता-घनता-मृदुता- पिच्छिलता- उस उस अङ्ग में उत्पन्न कर देते हैं।

इस तरह स्निग्ध, उष्ण, श्लक्ष्णादि } गुणों से युक्त अङ्ग अर्थात्
वात गुणों के विपरीत भूमि वा वातावरण।

अत: अब ये वात विपरीत गुणों से युक्त बने हुये अङ्ग वायु के आश्रय एवं वायु की गुणवृद्धि के अनुकूल नहीं रह जाते। अत: इन स्थानों से गुजरते हुये वायु की शक्ति क्षीण हो जाती हैं -अर्थात् ही वात प्रकोप का शमन हो जाता है।

**वायु के प्रकोपक एवं शामक महाभूत**

**भूतजो वारिजै द्रव्यै: शमं याति समीरण:**
**वियत् पवन जाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुत: ।**

सु०सं०सू० ४१

**वात प्रकोपक एवं शामक रस: -**

**कटुतिक्त कषाया वातं जनयन्ति**
**मधुराम्ललवणांस्त्वेन शमयन्ति।**

च०सं०वि० १

स्वाद्वम्ल लवणा वायुं जयन्ति
कटु तिक्त कषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्।

च०सं०सू० १

आमाशयस्थ प्रकुपित वायु:–

| | | | |
|---|---|---|---|
| आम-पच्यमानाशय में यदि वायु का प्रकोप रहा | नाभि पार्श्व उदर | शूल | छर्दि पिपासा उद्गार |
| | श्वास | कंठशोष | -कास |
| | मोह | मुखशोष | |
| | (चक्कर आना) | विषूचिका | |

हृद्ग्रह (Pseudo Angina) उस स्थान में स्तंभ-तोद ऊर्ध्वगत रक्तपित्त इ०

हृन्नाभि पार्श्वोदररूक्-तृष्णोद्गार विषूचिका:
कास: कंठास्य शोषश्च श्वासश्चामाशयाश्रिता:।

च०सं०चि० २८

वायूरामाशये क्रुद्धच्छर्द्यादीन् कुरुते गदान्
मोहं मूर्च्छां पिपासाञ्च हृद्ग्रहं पार्श्व वेदनाम्।

सु०सं०नि० १

छर्द्यादीनीति आदि शब्दान् रुज: पार्श्वोदर हृत्स्तंभ तोदादिका ग्राह्या: अथवा ऊर्ध्वगरक्त पित्तादिका:।

डल्हण

पक्वाशयस्थ प्रकुपित वात

आन्त्र कूजन -नाभिशूल -आटोप
आनाह -मूत्रपुरीष सकष्ट प्रवृत्ति।

| | |
|---|---|
| पार्श्व पृष्ट त्रिक् जंघा पिंडिका | शूल |

मल
मूत्र } सङ्ग
अधोवात

पक्वाशयस्थोऽन्त्र कूजं शूलं नाभौ करोति च
कृच्छ्रमूत्र पुरीषत्वमानाहं त्रिक् वेदनाम्।

सु०सं०नि० १

चकाराद् वात विण्मूत्र सङ्ग जङ्घोरूत्रिक् पार्श्व पृष्टादीन् प्रति शूलञ्च कुरुते।

डल्हण

कोष्ठगत कुपित वात

(उरो-उदरगुहा) स्थान में प्रकुपित वात के कारण

| | |
|---|---|
| मलमूत्रावरोध | -आंत्रवृद्धि |
| हृद्रोग | -गुल्म |
| अर्श | -पार्श्वशूल |

तत्र कोष्ठाश्रित दुष्ट निग्रहो मूत्रवर्चसो:
वध्न (आंत्रवृद्धि) हृद्रोग गुल्मार्श: पार्श्वशूलं च मारुते।

च०सं०चि० २८

गुदस्थित प्रकुपित वात

अधोवात
पुरीष } अवरोध।
मूत्र

आध्मान (Flatulance)
अश्मरी
मूत्रशर्करा शूल

पृष्ट
त्रिक्
जंघा } इन स्थानों में तीव्र शूल।
पिण्डिका

ग्रहो विण्मूत्र वातानां शूलाध्मानाश्म शर्करा:
जंघोरूत्रिकपात पृष्टरोग शोषौ गुदस्थित:।

च०सं०चि० २८

ज्ञानेन्द्रिय स्थानों में प्रकुपित वातः–

| प्रकुपित वात | ज्ञानेन्दिगयों में प्रविष्ट होकर | उनकी विषयग्रहण क्षमता को | नष्ट कर देता है। |
|---|---|---|---|

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः।

सु०सं०नि० १

सर्वाङ्गगत कुपित वात संचार से–

अङ्गस्फुरण (फड़कना), अङ्गभंजन (शरीर फाड़ देने जैसी तीव्र वेदना)

सन्धिशूल

स्तम्भ {सन्धियों में जकड़न, सन्धि क्रिया नाश}

आक्षेप (Convulsions)

सुप्ति {संवेदना-हास, संवेदना नष्ट होना-Loss of sensation, numbness}

शोफ -शूल

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फूरण भञ्जने

वेदनाभिः परीताश्च स्फूटन्तिवास्य सन्धयः।

च०स०चि० २८

स्तंभनाक्षपेणस्वाप शोफ शूलानि सर्वगः।

सू०सं०नि० १

त्वक् स्थित कुपित वात

त्वचा में {रसधातु में (डल्हण)} वात प्रकोप के कारण–

सुप्ति {त्वक् बधिरता - (Numbness)}

त्वक् विवर्णता, त्वक्स्फुटन (त्वचा फटना)

विमविमायन {त्वचा में चिटियाँ चलने जैसी संवेदना (Tingling Sensation)}

त्वक् विदार, त्वगारुणत्व

त्वक् स्फुरण, त्वचा के छिलके निकलना।

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते

आतन्यते स रागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले।

च०सं०चि० २८

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमचुमायनम्

त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम्।

सु०सं०सू० १

रक्तगत कुपित वात–

तीव्र शूल अरूचि पिटिका

भोजनोत्तर शरीरस्तंभ-विवर्णता

देहस्तंभ {बदन खूब गरम गरम महसूस होना}

रूजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशतारुचिः

गात्रेचा रुंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले।

च०सं०चि० २८

व्रणांश्च रक्तगः (कुर्यात्)।

सु०सं०नि० १

मांस-मेद स्थानीय प्रकुपित वात–

प्रकुपित वात के मांसधातु स्थित } होने से { सशूल ग्रंथि उत्पन्न।

प्रकुपित वात के मेद धातु में स्थित होने से } व्रणरहित मन्द वेदनायुक्त ग्रंथि उत्पन्न। तथा लकड़ी से खूब पीटे जाने जैसा बदन दर्द करना।

ग्रन्थिन् सशूलान् मांस संश्रिताः

तथा मेदस्थितः कुर्यात् ग्रंथिन् मन्दरूजोऽव्रणान्।

सु०सं०सू० १

गुर्वङ्ग तुद्यतेऽत्यर्थ दण्डमुष्ठिहतं यथा
सरूक् श्रमितमत्यर्थं मांस मेदोगतेऽनिले।

च०सं०चि० २८

**प्रकुपित वात अस्थि एवं मज्जागत–**

अस्थिशोष {अस्थियों में मज्जा की स्निग्धता विद्यमान होती है वात प्रकोप में वायु के रूक्षगुणाति प्रकोपण से उस स्निग्धता का ह्रास}

प्रभेद

{अस्थियों को तोड़ने जैसा उनमें तीव्र शूल}

मज्जाशोष - निरन्तर शूल

पर्वभेद - सन्धिशूल - मांसक्षय

बलक्षय - निद्रानाश

सतत तीव्र शूल।

**भेदोस्थि पर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षय:**

**अस्वप्न: सन्तत: रूक् च मज्जास्थि कुपितेऽनिले।**

च०सं०चि० २८

**अस्थि शोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रित्:**

**तथा मज्जगते रूक् च न कदाचित् प्रशाम्यति।**

सु०सं०नि० १

**शुक्रगत प्रकुपित वात–**

शुक्र अप्रवृत्ति (रुक्षता वृद्धि के कारण)

शुक्र शीघ्र पतन (**Early discharge of semen or Permature ejaculation**)

चिरात् शुक्रप्रसेचन, ग्रंथितशुक्र,

विवर्ण शुक्र - अन्य प्रकार की शुक्रविकृतियाँ।

गर्भस्राव (**Miscarriage**)

गर्भपात (**Abortion**)

गर्भाकार विकृति (**Abnormal foctus**)

निश्चित काल से बहुत ज्यादा काल तक गर्भ गर्भाशय में ही रहना।

**अप्रवृत्ति: प्रवृतिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले**

सु०सं०नि० १

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा
विकृति जनयेच्चापि शुक्रस्थ: कुपितोऽनिल: ।

च०सं०चि० २८

स्नायुगत प्रकुपित वात–

स्नायु (कण्डरा) स्तंभ (क्रियाहीनता)

बाह्यायाम (पिछली तरफ शरीर झुक जाना)

अंतरायाम (अंदर की तरफ अर्थात् सामने की तरफ शरीर का झुक जाना)

(धनुर्वात (Tetanus) में इस तरह शरीर टेढा होकर कड़ा या कठोर बन जाता है। (क्रियाहीनता))

खल्ली कुब्जता (कूबड़ निकल जाना)

सर्वाङ्गवध {समस्त अङ्ग में स्तंभ वा क्रियाहीनता (Complete Paralysis)}

एकाङ्गवध {एकाङ्गघात- अर्धाङ्गघात पक्षाघात}

स्तंभ (Rigidity) कम्प

शूल - आक्षेप (Convulsions)

बाहयाभ्यान्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च
सर्वाङ्गिकाङ्ग रोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिल: ।

च०सं०चि० २८

स्नायु प्राप्त: स्तंभकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ।

सु०सं०नि० १

| | | |
|---|---|---|
| | आकुंचन | इ० वात रोगों का |
| आयुर्वेद के अनुसार | प्रसारण | आश्रय स्थान |
| | आयाम | कण्डरा |
| | स्तंभ | होती हैं। |

आधुनिक क्रियाशारीर के अनुसार- ये कर्म पेशियों के(Muscles) होते हैं।

सिरागत प्रकुपित वात–

सिरास्थानीय प्रकुपित वात के कारण–

सिराशूल सिराकौटिल्य

{सिरायें कठिन एवं टेढ़ीमेढ़ी हो जाना} (Vericose veins)

सिराये बारीक हो जाना, शोफ, सिराफुल्लता

सिरासुप्ति अल्पवेदना

शुष्कता सिरास्पंदन

शरीरं मन्दरुक् शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा

सुप्रप्तास्तन्व्यो महत्वो वा सिरावाते सिरागते ।

कुर्यात् सिरागत: शूलं सिराकुञ्चन पूरणम् ।

सु०सं०नि० १

सिराकुञ्चन कुटिला सिरेति लोके वदन्ति ।

डल्हण

प्रकुपित सन्धिगत वात–

सन्धिशूल (हलचल करते समय)

संधिस्पर्शासहयता (Tenderness)

संधि भीतर से फूली हुई होने जैसी अनुभूति ।

वातपूर्णदृतिस्पर्श: शोथ: सन्धिगतेऽनिले

प्रसारणा कुञ्चनयो: प्रवृतिश्च संवेदना ।

च०सं०चि० २८

हन्ति सन्धिगत: सन्धिन् शूलशोफौ करोति च

सु०सं०नि० १

हन्तीत्यादि एतेन प्रसरणाकुञ्चन योरभावयुक्त: ।

डल्हण

## पित्त विकारों में याकृत पित्त की महत्ता–

पित्त प्रकोपक कारणों से याकृत पित्त की अधिक प्रमाण में उत्पत्ति तथा प्रकुपित कफादि के कारण वह याकृत पित्त ग्रहणी में पूर्णत: पहुँच न पाने के कारण वह रक्त से मिलकर – समस्त शरीरगामी बनकर विविध विकृति लक्षणों को उत्पन्न कर देता है ।

| | |
|---|---|
| त्वक्-नख<br>नेत्र-मुख<br>दन्त-स्वेद<br>लालास्राव इ० में | पीतता उत्पन्न । |

अथवा
अपूर्ण पाक हुआ
यकृत पित्त (हरितवर्णिय) } नखादि को अपना हरित वर्ण प्रदान करता है।

इस पित्त के आधिक्य
के कारण {रस-रक्त में} } लालारस भी
तिक्त रसीय बन जाता है।

यह याकृत पित्त–

आन्त्रस्थ अपकर्षणी गति को उद्यिप्त करता है।

उससे आन्त्रस्थ अन्न-मल (किट्ट) इ० आंत्र में वेग से आगे आगे खिसकते जाते हैं।

जिसके कारण {अन्न तथा मल पर्याप्त काल आंत्र में टिक न पाने के कारण}

मलस्थ जलीयांश का आंत्र में योग्य शोषण न हो पाने के कारण पुरीष शिथिलतायुक्त एवं द्रव रूप में प्रवृत्त होने लगता है।

अन्न आंत्र में पर्याप्त काल न रह पाने के कारण उस पर अग्नि का {अन्न पचन करने वाले पाचक रसों का} योग्य कार्य न हो पाने के कारण अपक्व स्थिति में ही अन्न आगे सरक जाता है तथा अन्त में मल के साथ अपक्वान्न उत्सर्जित कर दिया जाता है।

धातुओं में तक्राम्ल का संचय हो जाता हैं, जिससे क्लमोत्पत्ति (Fatigue) ।

आमाशय रसीय अम्लांशों के (Hydrochloric acid) अधिकता के कारण–

अम्लोद्गार - अति तृषा, गले में तथा छाती में तीव्र जलन, अंतर्दाह, अरति, दवथु हृदय धड़धडाना (Polpitations) इ० उत्पन्न। (Hyperclorhydria)

पित्त की अधिकता के कारण एवं पित्त विदग्ध बन जाने के कारण यह अम्लपाक संपादित होता है, जिससे पित्त की वृद्धि होती है।

विदग्धान्नपान
अपक्वान्नपान
अत्यम्ल सेवन } इ० के कारण
भी अम्ल
विपाक संपादित होता है।

## श्लेष्मा–प्राकृत कार्य

**सन्धिश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण वल स्थैर्यकृत्**
**श्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदककर्मणानुग्रहं करोति।**

सु०सं०सू० १५

स्नेहोबन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् । क्षमा धृतिरलोभश्च कर्मकर्माविकारजम् । ।

च०सं०सू० १८

दादर्य शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिमोहमेवादिनि चापराणि द्वंद्वानीति ।

च०सं०सू० १२

कफक्षय की स्थिति में } कफ के उपर्युक्त प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है।

श्लेष्मा -क्षय कारण

श्लेष्मा की विपरीत गुणधर्मीय वायु दोष शरीर में स्थित होता है । अत: श्लेष्म क्षय की स्थिति में स्वभाविक रुप से वायु गुण की वृद्धि हो जाती है।

अति परिश्रम अति व्यायाम अति व्यवाय

मार्गाति चलन चिन्ता शोक

खूब वजनदार चीजों की प्रदीर्घ काल तक उठा पटक करना। अति शुष्कान्त सेवन, अनशन

तिल
उषण
कषाय } अति सेवन।

इ० वात प्रकोपक हेतुओं के कारण श्लेष्मा का क्षय हो जाता है।

प्रज्ञापराध
परिणाम {काल-ऋतु}
असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग } ये श्लेष्मक्षय के लिये कारणीभूत।

श्लेष्मा वृद्धि - लक्षण :–

त्वक्-मल-मूत्रादि शुक्लता

शैत्य - अङ्गगौरव तन्द्रा

स्थैर्य {स्तंभ, बदन में जकड़ाहट की अनुभूति}

आलस्य अङ्गजाडय

प्रसेक–निद्रा–स्थौल्य

सन्धि विश्लेष {संधियाँ शिथिल (ढीली) पड जाना}

मूर्च्छा श्वास कास

अग्निसाद {साद=नाश। भूख ही न लगना}

हृल्लास {Nausea- मिचलाहट}

स्रोतोपिधान गात्र गौरव इ०

श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्यं गौरवमवसाद सन्धिविश्लेषं च।

सु०सं०सू० १५

श्वेत्य शैत्य स्थौल्यालस्य गौरवाङ्गसाद स्रोत: पिधान

मूर्च्छा तन्द्रा निद्रा श्वासं कास प्रसेक हृल्लास

अग्निसाद सन्धिविश्लेषादिभि: श्लेष्मा (वृद्ध: पीडयति)।

श्वेतत्यशैत्य श्लथांगत्वं श्वासकासाति निद्रता। –अ.स.सू १९–

अ०हृ०सू० १२

श्लेष्म प्रकोपज विकार–

श्वेत्य–शैत्य–काण्डु

स्थैर्य (बदन जकड़ जाना) उत्क्लेध

गौरव–स्नेह–सुप्ति

क्लेद, उपदेह {बदन पर गीला कपड़ा लपेटा हुआ सा या बहुत मोटी परत वाला लेप लगा हुआ जैसा महसूस होना}

वन्ध माधुर्य {मुँह मीठा मीठा सा लगना}

तृप्ति {हरदम पेट भरा हुआ सा लगना, भोजन में रूचि न होना}

तन्द्रा (आँखें नींद से बोझिल)

काठिण्य {हाथ पैर इ० अवयवों के लचीलेपन में कमी आ जाना}

स्तैमित्य मलाधिक्य, प्रसेक (लाला स्राव)

शोफ(Oedema) अपक्ति (अपचन) आलस्य

मुँह में मधुर-लवण रसानुभूति।

निद्राधिक्य

च०सं०सू० २०

मुख प्रलेप श्वेतावलोकन उष्णेच्छा

तिक्त कामित्व शुक्रबाहुल्य बहुमूत्रता

अचैतन्य मन्दबुद्धिता –शांगधर संहिता–

**श्वेत्य शैत्य कण्डु स्थैर्य गौरव स्नेह स्तंभ सुप्ति**

**क्लेदोपदेह बंध माधुर्य चिरकारित्वानि श्लेष्मण: कर्मणि।**

च०सं०सू० २०

**श्लेष्म प्रकोप के कारण**

अव्यायाम–अपरिश्रम

दिवास्वप्न–अचिंता

शोक, दुःख, क्रोध — इ० का अभाव। आलस्य

रात्रौ उत्तम निद्रा

मधुर, अम्ल, लवण — अतिसेवन /

शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, अभिष्यन्दी — द्रव्यों का अतिसेवन

यवक नैषव माष

महाफल गोधूम सर्पि

तिलविकृति दधि दुग्ध

कृशरा (खिचड़ी) पायस–(खीर) वसा

आनूप एवं औदक मांस

वल्लीफल (उदा-अंगूर)- मृणाल-कशेरूक

— इ० का अति सेवन।
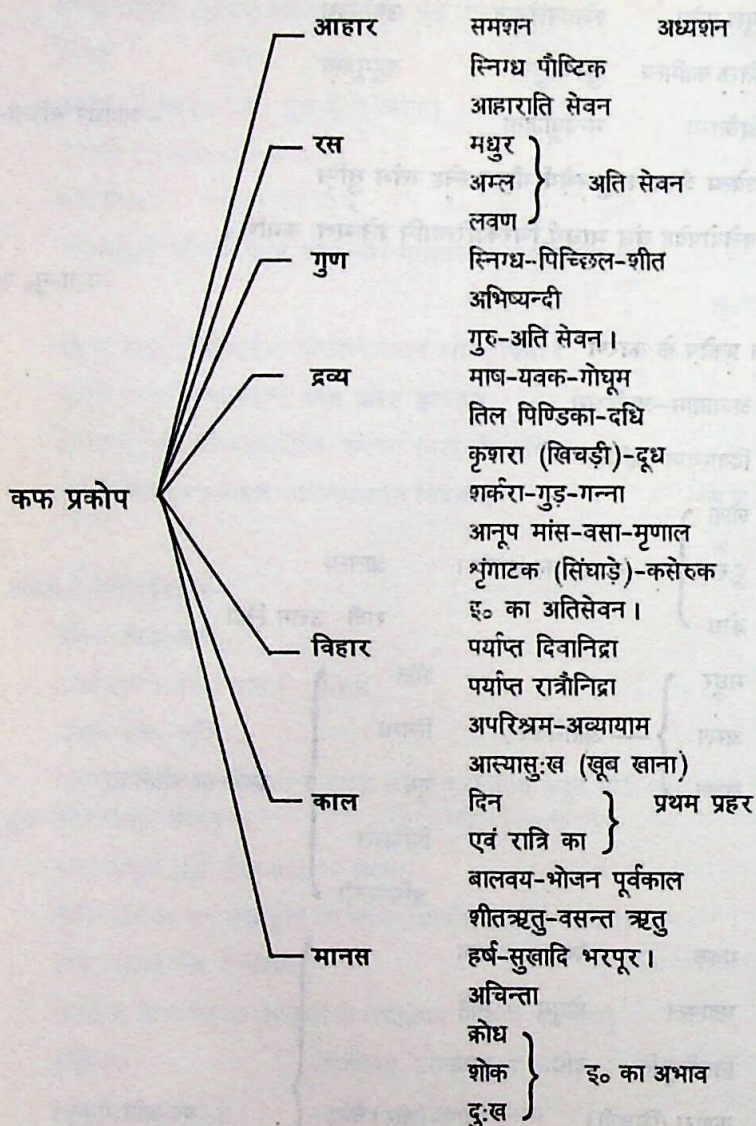
**दिवास्वप्न अव्यायाम आलस्य मधुराम्ल लवण शीत स्निग्ध गुरु पिच्छिलाभिष्यन्दी हायन यवक नैषधोत्कट माष महामाष गोधूम तिलपिष्ट विकृति, दुग्ध-कृशरा पायसेक्षु विकारांनौदक मांस वसा, बिस मृणाल कसेरुक शृंगाटक मधुर वल्लीफल समशन अध्यशन प्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते।**

स शीतैः शीत काले च वसन्ते च विशेषतः। पूर्वाह्ने च प्रदोषे च भुक्तमात्रे च कुप्यति।। गुरुमधुर रसाति स्निग्ध दुग्धेषु भक्ष्य द्रवदधि दिन निद्रा पूप सर्पिः प्रपूरैः।

तुहिन पतन (ओस पड़ना) काले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते।

-च०सं०चि० ३१

-मा० नि० -मधुकोषटीका
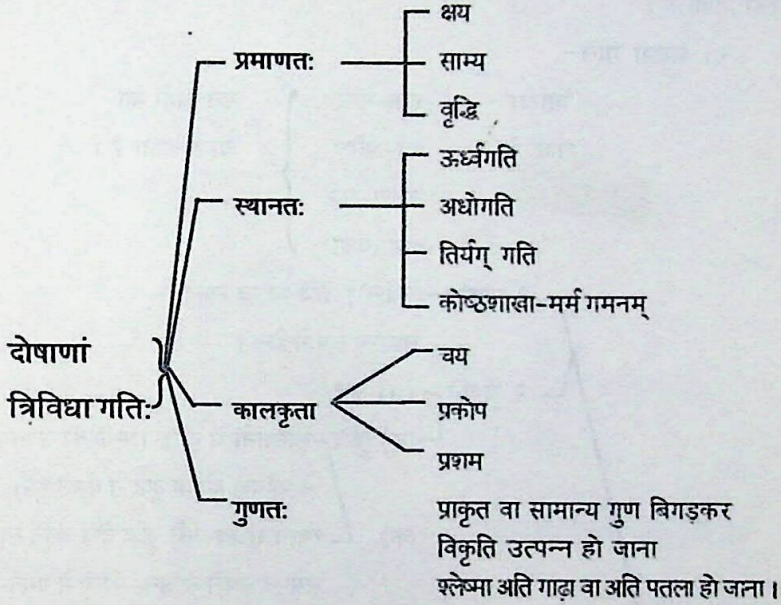
दोषाणां द्विविधा गतिः — प्राकृति (स्वास्थ्य कारक), वैकृति (रोग कारक)
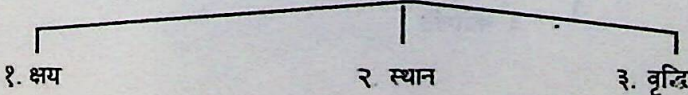
१) कोष्ठगति कोष्ठ में पञ्चदश अङ्ग।

**पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि तद्यथा नाभिश्च हृदयं च क्लोमं च यकृच्च प्लीहाच्च वृक्कौ च बस्तिश्च पुरीषाधारश्च आमाशयश्च पक्वाशयश्च उत्तरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलांत्रं च वपावहनञ्चेति।**

-च०सं०शा० ७

प्रकुपित दोष जब इन स्थानों में जाते हैं तब उनके इस मार्ग को आभ्यन्तर रोग मार्ग कहा जाता है।

२) शाखा गति–
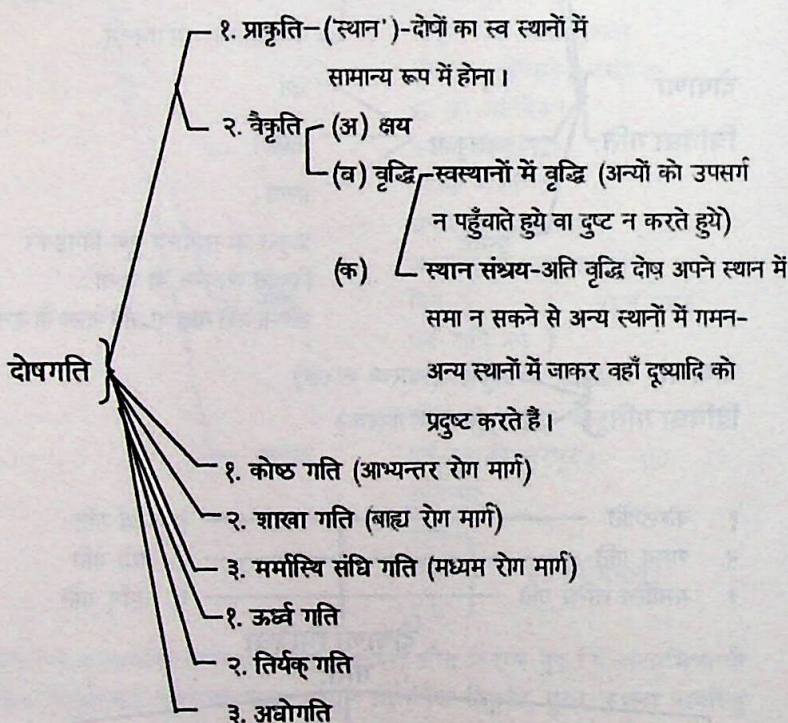
| | |
|---|---|
| ऊर्ध्वगति– रक्तपित्त वा छर्दी में जब प्रकुपित दोष की ऊर्ध्वगति होती है | उससे ऊर्ध्वग रक्तपित्त छर्दी( वमन Vomiting) आदि विकार उत्पन्न होते हैं। |

अधोगति

प्रकुपित दोषों की जब अधोगति (Down wards) होती है तब–

प्रवाहिका-ग्रहणी

अधोग रक्त पित्त-अतिसार

अधोग अम्लपित्त इ० विकार उत्पन्न।

तिर्यक् गति

प्रकुपित दोषों की तिर्यक् गति के कारण– ज्वर-मन्दाग्नि इ० विकार उत्पन्न।

| | |
|---|---|
| दोषों की अपने ही स्थानों में (स्वस्थान) वृद्धि | चय-कहलाती है। |

| | | |
|---|---|---|
| स्व स्थान में बहुत ज्यादा वृद्धि हो जाने पर | दोष फैलकर पराये स्थान में (अन्यस्थान) जाकर | तत् स्थानीय दूष्यादि की दुष्टि कर देता है। तब उसे प्रकोप कहा जाता है। |

चयोवृद्धि स्वधाम्नेव कोपस्तून्मार्ग गामिता।

-अ०हृ०सू० १२.

गतिः कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते
गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या।

-च०सं०सू० १७

क्षयं स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः
ऊर्ध्व चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा।

-च०सं०सू० १७

त्रिविधा चापरा कोष्ठ शाखा मर्मास्थि सन्धिषु
चय प्रकोप प्रशमाः पित्तादीनां यथ क्रमम्।।
भवन्त्येकैकशः षटसु कालेष्व भ्रागमादिषु।

-च०सं०सू० १७

| दोष | चय | प्रकोप | प्रशम |
|---|---|---|---|
| वात | ग्रीष्म | वर्षा | शरद |
| पित्त | वर्षा | शरद | हेमन्त |
| कफ | शिशिर | वसन्त | ग्रीष्म |

वायु

चय=ग्रीष्म ऋतु में। चय कारण-ग्रीष्म ऋतुजन्य आहार लघु-रूक्ष अत: तत् समगुणीय रूक्षलघु गुणीय वायु का संचय।

किन्तु ग्रीष्मस्थ उष्मा यह वायु के शीत के विपरीत गुणीय होने के कारण वायु का ग्रीष्म में प्रकोप नहीं हो पाता।

प्रकोप-वर्षा ऋतु में। प्रकोप कारण-वायु का संचय पहले ही (ग्रीष्म में) हुआ तैयार रहता है, वर्षा ऋतु की शीतता प्राप्त होते ही वायु का प्रकोप हो जाता है।

शमन-शरद ऋतु में। शमन कारण-शरद ऋतु की उष्णता वात के शीत गुण के विपरीत गुणीय होने के कारण शरद में वायु का शमन हो जाता है।

पित्त

चय-वर्षा ऋतु में। चय कारण-वर्षाऋतुजन्य अन्न जल अम्लविपाकी अत: तत्सममान गुणीय पित्त का संचय इस ऋतु में संपादित होता है। किंतु वर्षा ऋतुस्थ शीतता पित्त के विपरीत गुणीय होने के कारण इस ऋतु में पित्त का प्रकोप नहीं हो पाता।

प्रकोप-शरद ऋतु में। प्रकोप कारण-पित्त का संचय पूर्व की ऋतु में अर्थात् वर्षा में तैयार हुआ रहता ही है। शरद ऋतुस्थ उष्णता से पित्त की बलवृद्धि होकर उसका प्रकोप हो जाता है।

शमन-हेमन्त ऋतु में। शमन कारण-हेमन्त की शीतता पित्त के विपरीत गुणीय होने से हेमन्त में पित्त का शमन हो जाता है।

श्लेष्मा

चय-शिशिर ऋतु में। चय कारण-शिशिर ऋतुजन्य अन्न जल स्निग्ध एवं शीत अत: तत्सम गुणीय श्लेष्मा की वृद्धि होकर उसका संचय संपादित होता है। किन्तु शिशिरस्थ शीतता कफ का प्रकोप नहीं होने दे पाती।

प्रकोप-वसंत ऋतु में। प्रकोप कारण-वसंत के पहले की शिशिर ऋतु में श्लेष्मा का संचय तैयार हुआ रहता है। वसन्त की उष्मा से कफ का विलयन होकर उसका प्रकोप हो जाता है।

शमन-ग्रीष्म ऋतु में। शमन कारण-ग्रीष्मस्थ-उष्णता लघुता-रूक्षता ये श्लेष्मा गुण विपरीत अत: श्लेष्म शमन हो जाता है।

## ऋतु - दोष चय प्रकोप प्रशमादि

वात का संचय ←ग्रीष्म→ श्लेश्मा शमन

वात का प्रकोप ←वर्षा→ पित्त संचय

वात का शमन ←शरद→ पित्त प्रकोप

हेमन्त पित्त शमन।

शिशिर कफ संचय।

वसन्त कफ प्रकोप।

चय प्रकोप प्रकोप प्रशमा वायोर्ग्रीष्मादीषु त्रिषु
वर्षादीषु तु पित्तस्य श्लेष्मण: शिशिरा दिषु।

-अ०हृ०सू० १२

चीयते लघुरुक्षाभिरौषधिभि: समीरण:
तद्विधस्त विधे देहे कालस्योण्यान्न कुप्यति
अद्भिरम्ल विपाकाभि रोषधिभिश्च तादृशम्।

-अ०हृ०सू० १२

पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यत:
चीयते स्निग्धशीताभिरूदकोषधिभि: कफ:
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति।

-अ०हृ०सू० १२

ऋतु परिणाम के कारण उत्पन्न दोष वैषम्य टालने की खातिर

| | | | |
|---|---|---|---|
| १) वर्षा ऋतु एवं शीत ऋतु में | मधुर अम्ल लवण | रस सेवन से | वात प्रकोप टल जाता है कारण ये रस वात गुण के विपरीत। |
| २) वसन्त ऋतु में | तिक्त कटु कषाय | रस सेवन से | कफ प्रकोप टल जाता है क्योंकि ये रक्त श्लेष्म गुण विपरीत। |

| | | | |
|---|---|---|---|
| शरद ऋतु एवं वसन्त ऋतु में | रूक्षाहार सेवन | शरद में-पित्त प्रकोप एवं वसन्त में कफ प्रकोप | संपादित हो जाता है। |

रूक्षता यह गुण श्लेष्मा एवं पित्त दोनों के गुणों के विपरीत अत: कफ प्रकोप एवं पित्त प्रकोप इससे टल जाते हैं।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १) ग्रीष्म ऋतु एवं शरद ऋतु में | शीत सेवन | शीतता यह गुण ग्रीष्म एवं शरद ऋतुस्थ | उष्णता के विपरीत गुणीय |

अत: सुखकारक/ तद्वत ही शरद में होने वाले पित्त प्रकोप पर भी शीत गुण सेवन यह प्रभावी उपाय साबित होता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| २) अन्य ऋतुओं में अर्थात् | वर्षा हेमन्त शिशिर वसन्त | इन ऋतुओं में | उष्णाहार सेवन सुखकर एवं स्वास्थ्य कारक साबित होता है। |

कारण उष्णाहार विहार

| | |
|---|---|
| १} वर्षा हेमन्त शिशिर | ऋतुओं की शीतता के विपरीत गुणीय होता है। |
| २} वर्षा ऋतु में | वात प्रकोप तो उष्णाहार विहार वात के शीत गुण विपरीत होने से वात प्रकोप टल जाता है। |
| ३} शिशिर ऋतु | कफ संचिति की ऋतु। |

कफ वाश्लेष्मा-शीत गुणीय तो उष्णाहार विहार-श्लेष्म गुण विपरीत

अत: इससे श्लेष्म वृद्धि (संचय) टाली जा सकती है।

| | | |
|---|---|---|
| ४} वसन्तु ऋतु | श्लेष्म प्रकोप श्लेष्मा का काल | यह शीत। |

अत: उष्णाहार विहार श्लेष्म गुण विपरीत होने के कारण संभावित-श्लेष्म प्रकोप इससे टाला जा सकता है।

३) अन्य ऋतुओं में अर्थात्
ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, शिशिर — इन ऋतुओं में स्निग्धान्न पान प्रयोग

ग्रीष्म रूक्ष गुणीय अत: वातसंचय काल

वर्षा रूक्ष गुणीय अत: वात प्रकोप काल

अत: वात विपरीत गुणीय स्निग्धान्नपान

उपकारक एवं दोषवैषत्य को टालने वाला — साबित होता है।

हेमन्त एवं शिशिर में — शरीरस्थ जाठराग्नि उत्तमत: प्रदीप्त

अत: स्निग्धान्नपान — शक्ति एवं बलवर्धक साबित होता है।

**शीते वर्षासुचाद्यां स्त्रीन् वसन्ते अन्त्यान् रसान् भजेत्**
**स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्त कषाय करान्।**

अ०हृ०सू० ३

**शरद् वसन्तयो रूक्षं शीतं धर्मधनान्तयो:**
**अन्नपानं समासेन विपरीत मतोऽन्यदा।**

-अ०हृ०सू० ३

## कालकृत दोषगति–

शरीरस्थ दोषों का — उस उस ऋतु के अनुसार — स्वाभाविक चय प्रकोप प्रशमादि का — संपादित होना

दोषों की कालकृता गति कहलायी जाती है।

गति: कालकृता चैवा चयाद्या पुनरुच्यते
गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या।

-च०सं०सू० १८

उदा- प्राकृतिक कफ को शरीर का बल
तो वैकृतिक कफ को शरीर का मल कहा जाता है। } कहा जाता है।

प्राकृतिक कफ को शरीर का ओज
तो वैकृतिक कफ को शरीर का पाप } संबोधित किया गया है।

रसादि शुक्रान्तानां धातूनां यत् खलु परं तेज:
तत् खल्वोज: तदेव बल मित्युच्यते।

-सु०सं०सू० १५

दोष दुष्टि वा विकृति २ प्रकार की
- दोष-गुण-प्रमाण में वृद्धि होना।
- दोष-गुण-प्रमाण में ह्रास होना।

दोषों की यह विषमता ही समस्त रोगों के लिये कारणीभूत होती है,

और इसीलिये चिकीत्सा करते समय चिकीत्सक की दृष्टि इस दोषदुष्टि पर ही होनी चाहिये।

जिस तरह तप्त धृत से दग्ध होने में (जल जाने में) वास्तविकत: धृत जिम्मेदार नहीं होता तो धृत में स्थित वह अग्नि कारणीभूत होती हैं, उसी तरह रोगों को कारणीभूत दोषदुष्टि होती है।

-च०सं०सू० २९

जिस तरह विश्वस्थ समस्त स्थावर जंगम द्रव्य ये सत्व-रज-तम- के ही विकार होते हैं उसी तरह

समस्त निज रोग ये वात, पित्त, कफ } दुष्टि से ही उत्पन्न विकार होते हैं।

-च०सं०सू० २८

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार आंगन्तुज एवं मानस } रोगों का मूल भी वातादि त्रिदोष ही होते हैं।

मानस रोगों में आरंभ में मनोदुष्टि होती है, किन्तु बाद में शरीर दोष दुष्टि भी सम्पादित हो जाती है।

उदा- क्रोध से पित्त प्रकोप

| | | |
|---|---|---|
| भय | भावातिरेक के | सम्पादित हो |
| शोक | कारण | |
| काम | वात प्रकोप | जाता है। |

| | | |
|---|---|---|
| दोष वैषम्य संपादित न हुआ | तो | सम्यक् रूपेण संपन्न होते रहते हैं। |
| अर्थात | शरीरगत | जिससे सुख प्रसन्नतादि की |
| दोष स्थिति प्राकृत रही | कार्य | प्राप्ति होती रहती है। |

**यही स्वास्थ्य अथवा आरोग्य कहलाता है।**

**सुखसंज्ञकं आरोग्यं विकारो दुःखमेव च।**

-च० सं० सू० ९-

**विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरूच्यते।**

-च० सं० सू० ९-

| | | | |
|---|---|---|---|
| दोष | समस्थिति में | | इसी |
| धातु | एवं | होना | स्थिति को |
| मल | प्राकृत क्रियाकारी | | स्वास्थ वा |
| अग्नि प्राकृत होना {अत्यग्नि-मंदाग्नि इ० न होना} | | | आरोग्य |
| आत्मा | | | कहा |
| इन्द्रियाँ | प्रसन्न होना | | जाता है। |
| एवं मन | | | |

**समदोषाः समाग्निश्च समधातुः मलक्रियाः**
**प्रसन्नात्मेंन्द्रिय मनः स्वस्थइत्यभिधीयते।**

दोष वैषम्य के बिना रोगस्थिति संभव नहीं होती। अतः दोष वैषम्य को ही आयुर्वेद ने रोग कहा है।

**नास्ति रोगो बिना दोषैर्यस्मात् तस्मात् विचक्षणः**
**अनुक्तमणि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधि मुपाचरेत्।**

-सु० सं० सू० ३५-

दोषदुष्टि- संचय-प्रकोपादि अवस्थायें } सम्प्राप्ति अवस्था।

निपरीत आहार विहारादि के कारण दोषवृद्धि बढ़ती जाकर दोषदुष्टि की उत्तरोत्तर गंभीर अवस्थायें उत्पन्न होती जाती है।

| प्रज्ञापराध के कारण लगातार शुरू रहने वाले विपरीत आहार-विहारादि के कारण उत्तरोत्तर वृद्धिगंत होने वाली दोषदुष्टि | संचय<br>प्रकोप<br>प्रसर<br>स्थान संश्रय<br>व्यक्ति<br>भेद | ये ही सम्प्राप्ति की छः अवस्थायें और ये ही चिकीत्सा के पट् क्रिया काल। |
|---|---|---|

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम्

व्यक्ति भेंद च यो वेत्ति दोषाणां स भवेभ्दिषक्।

-अ० हृ० सू०-

प्रकुपित दोष शरीर में संचारित होते समय यदि शरीर के किसी भी अंग में-कहीं भी कोई कमजोरी वा त्रुटि न हो तो रोगोत्पत्ति हो ही नहीं पाती।

किन्तु यदि शरीर के किसी अंग में कोई कमजोरी वा त्रुटी (खवैगुण्य) उत्पन्न हुयी रही तो संचारी प्रकुपित्त दोष द्वारा उस अंग में संचार करते समय उस अंग में रागोत्पत्ति वह प्रकुपित दोष कर देता है।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्

यत्र सङ्ग ख वैगुण्यः व्याधिस्तत्रोऽप जायते।

-सु० सं० सू० २४-

स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः

स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरूते बहुन।

-च० सं० सू० १८-

| | | |
|---|---|---|
| चय<br>प्रकोप<br>प्रसर<br>स्थानसंश्रय<br>व्यक्ति<br>भेद | इस सम्प्राप्ति को<br>पूर्ण<br>होने के लिये | वही दोष प्रकोपक आहार-विहार<br>(प्रज्ञापराध) सतत शुरू रहना<br>जरूरी होता है। यदि वह दोषप्रकोपक<br>आहार विहार बीच में ही<br>बंद हो गया तो आगे की अवस्थायें<br>पैदा ही नहीं हो पाती।<br>इसे ही-**सम्प्राप्तिभङ्ग** कहा जाता है। |

इसीलिये चिकीत्सक के द्वारा जो **पथ्ययोजना** की जाती है। वह पथ्ययोजना प्रकुपित दोष के विपरीत गुणीय होती है जिसके द्वारा उस प्रकुपित दोष का बल कम हो जाता है।

चया वस्था में यदि अैसा पथ्य किया जाय आगे की प्रकोपावस्था उत्पन्न ही नहीं होती।

अथवा

प्रकोपावस्था में वैद्य निर्देशित {प्रकुपित दोष के विपरीत गुणीय} पथ्य योजना यदि अमल में लायी गयी

तो उस प्रकुपित दोष की आगे की स्थानसंश्रयावस्था ही उत्पन्न नहीं हो पाती।

अत: इस तरह **सम्प्राप्तिभंग करना ही उस रोग की चिकीत्सा** बन जाती है।

**सम्प्राप्तिभंगमिति चिकित्सा।**

दोष दुष्टि की संचय-प्रकोपादि अवस्थायें किस प्रकार संपादित होती हैं-यह समझाने के लिये अग्निपर तपकर उफनने वाले दूध का दिया हुआ दुष्टान्त अत्यंत समर्पक ऐसा ही
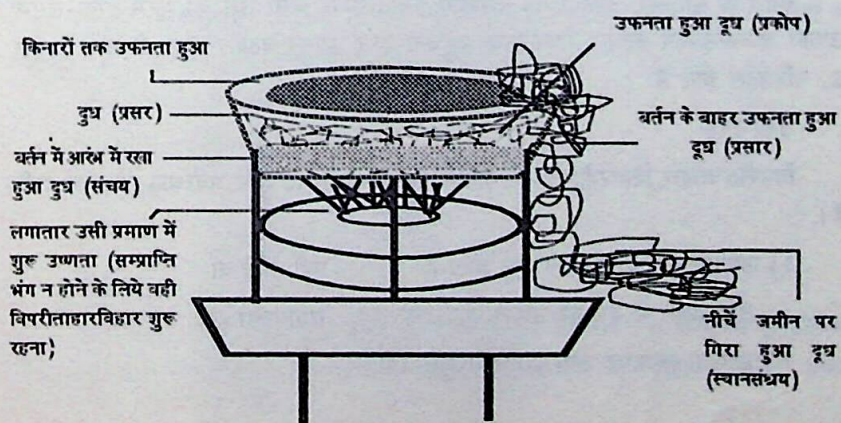
बर्तन में दूध तपाने के लिये रखा। नीचे से अग्नि देना आरंभ किया। दूध गरम होकर उसका उफनना शुरू हो जाता है। यह उफनना आरंभ में दूध के मूल स्तर तक ही होता है-संचयवस्था।

बर्तन के नीचे की अग्नि पूर्ववत् उसी तरह शुरू रखी। अब दूध का उफनना स्पष्टत: दिखायी देने लगा है।

-प्रकोपावस्था।

बर्तन के नीचे की अग्नि कम न होने देते हुये पूर्ववत् शुरू ही रखी, जिससे अब बर्तन के ऊपरी किनारे तक दूध का उफान पहुँचता हुआ दिखायी दिया।

-प्रसरावरावस्था।

बर्तन के नीचे अग्नि उसी प्रकार शुरू रखी जिससे किनारे से नीचे उफनकर दूध जमीन पर गिरा।

-स्थान संश्रयावस्था।

बर्तन के नीचे की अग्नि बीच में ही यदि कम कर दी गयी तो दूध का उफान बढ़ता जाना दूध उफनकर नीचे जमीन पर गिरना आदि आगे की अवस्थायें दिखायी नहीं देती।

१) दूध के बर्तन के नीचे की अग्नि — अर्थात् — विपरीताहारविहारादि, जिसके कारण दोष की-चय-प्रकोप प्रसरादि अवस्थायें उत्पन्न होती हैं।

२) बर्तन में का दूध-अर्थात्-दोष

बर्तन के दूध पर उष्णता का परिणाम होता जाकर जैसा उस का गरम होना-उसमें उफान आना-उफान बढ़कर किनारेतक पहुँचना-फिर उफान बढ़कर बर्तन से नीचे गिरना इ० परिवर्तन होते हैं

उसी तरह

विपरीत आहार विहारादि के कारण दोष की चय-प्रकोपादि दुष्टि अवस्थायें संपादित होती हैं।

३) उष्णता से दूध उफनना शुरू होता है तथा बर्तन में दूच का उफान बढ़ जाता है — यही वृद्धि वा चयावस्था।

४) उष्णता लगातार उसी प्रमाण में शुरू रही

बर्तन के नीचे की उष्णता कम कर देने से जैसे दूध में उफान आना-उफान बढ़ता जाना-दूध नीचे जमीन पर गिरने लगना-इ० अवस्थायें दिखायी नहीं दे सकती उसी तरह उसी विपरीत आहार विहारादि का उसी प्रकार लगातार शुरू रहना जरूरी होता है और तभी प्रकोप-प्रसरादि दोष दुष्टि की अवस्थायें संपादित हो पाती हैं।

१) दोष चयावस्था-

'वृद्धिः समानैः सर्वेषां'- इस न्याय से दोष समगुणीय आहार-विहार के कारण दोषों की वृद्धि होकर वह स्वस्थान में ही संचित होता जाता है।

इसे ही संचय वा चयावस्था कहते हैं।

उदा- उरःस्थान
(फुफ्फुस)
तथा
आमाशय
} ये श्लेष्मस्थान

स्निग्ध-गुरू-शीत-श्लक्ष्ण आहार से तथा अचिन्ता-सुख-अपरिश्रम इ० से श्लेष्म वृद्धि होकर उरःस्थान एवं आमाशय इन श्लेष्म स्थानों में श्लेष्मा की वृद्धि संपादित होकर

वृद्ध श्लेष्मा वहाँ संचित होता है।

और इसके कारण स्निग्ध-गुरू-शीतादि के लिये अप्रीति उत्पन्न होकर तत्‌विरूद्ध रूक्ष-लघु-उष्णादि गुणों की इच्छा होती है। पसन्द-नापसन्द उत्पन्न होने की प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण चयावस्था में ही दोष का स्वाभाविक (Natural) प्रतिकार किया जाकर पुन: दोषसाम्यावस्था प्रस्थापित हो जाती है।

**संचयावस्था-** यह रोगोत्पत्ति की (संप्राप्ति की) तद्वतही चिकीत्सा की भी प्रथम पादान या अवस्था इसे **प्रथम क्रियाकाल**-कहते हैं।

**संचय रूप-** १) उस दोष के प्राकृत वा मूलभूत लक्षणों में वृद्धि हुयी दिखायी देती है।

२) उस दोष गुणों के विपरीत गुणीय आहार विहार की इच्छा होती है।

उदा- पित्त वृद्धि होने पर शीतादि पदार्थो की इच्छा उत्पन्न।

दोषों के प्रमुख स्थान कोष्ठाश्रित ही होते हैं।

अ) आमाशय में-श्लेष्मा
ब) पच्यमानाशय में-पित्त
स) पक्वाशय में-वात
} स्थित होते हैं।

उस उस दोष संचय के लक्षण उस उस स्थान में प्रकट हो जाते हैं।

| | |
|---|---|
| **१) वातसंचय में-** | कोष्ठ स्तब्धतानुभूति |
| | कोष्ठ पूर्णतानुभूति |
| **२) पित्त संचय में-** | शरीरोष्मा वृद्धि |
| | पीताव भासता इ० |
| **३) श्लेष्म संचय में-** | आलस्य-अंग गौरव |
| | भोजन अनिच्छा इ० |

**तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्ण कोष्ठता**
**पीतावभासता-मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवं आलस्यं**
**चयकारण विद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति**
**तत्र प्रथम क्रियाकाल: ।**

**-सु० सं० सू० ११-**

## उन उन विशिष्ट ऋतुओं में ही उन विशिष्ट दोषों का संचय क्यों?

१) वायु के रूक्षादि गुण } जब { तद्विपरीत उष्णता इस गुणधर्म से } संयुक्त होते है। तब { वायु का संचय होता है।

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य प्रखर होता है (उत्तरायण) अत: उष्णता ज्यादा होती है, जिससे शरीरस्थ स्निग्धता का ह्रास होकर शरीर में रूक्षता बढ़ जाती है।

ग्रीष्मस्थ द्रव्यभी रूक्षगुणयुक्त बने रहते हैं।

अत: रूक्ष लघु खर सूक्ष्मादि } वायु के गुणों की वृद्धि स्वाभाविक रूप से हो जाती है।

जिससे शरीर में इन गुणों का प्रमाण अर्थात ही वायु का प्रमाण बढ़ जाता है।

किन्तु ग्रीष्मस्थ उष्णता यह वायु के शीत गुणधर्म विपरीत अत: ग्रीष्मस्थ उष्णता शरीर में वृद्ध {संचित हुये} वायु का प्रकोप नहीं होने दे पाती।

२) वर्षा ऋतु में ओषधिद्रव्य एवं खाद्य द्रव्य } अम्लविपाकी हो जाते हैं।

तथा सूर्य दक्षिणायन होता है।

इस कारण शरीर में स्नेह प्रमाण की वृद्धि होती है।

वर्षा ऋतु की } अम्ल विपाकी द्रव्यों के कारण } पित्त के { अम्लता तीक्ष्णतादि गुणों की } वृद्धि हो जाती है।

यही पित्त की वृद्धि (संचय) कहलाती है।

किन्तु वर्षा ऋतु जन्य शीतता, पित्त दोष के विपरीत गुणीय होने के कारण वर्षा ऋतु में पित्त का प्रकोप नहीं हो पाता।

३) हेमन्त ऋतु में सूर्य दक्षिणायन होता है } तथा { वातावरण में शीतगुण की वृद्धि हुयी रहती है।

हेमन्त ऋतु यह विसर्गकाल।

अत:

शरीर में शीतला, मन्दता, स्निग्धतादि } श्लेष्म गुणों की वृद्धि हो जाती है।

यह समस्त स्थिति श्लेष्मा के समगुणीय होने के कारण शरीर में श्लेष्मा की वृद्धि (संचय) होती है।

किन्तु हेमन्त ऋतु की शीतता के कारण कफ का स्कंदन हुआ {खूब गाढ़ा} रहता है और उष्णता के बिना श्लेष्मा का यह स्कंदन दूर नहीं हो पाता अत: {उष्णता के अभाव में} हेमन्त ऋतु में श्लेष्मा का प्रकोप नहीं हो पाता।

## दोष प्रकोप

उस दोष संचय के लिये आहारविहारादि जो हेतु कारणीभूत हुये थे वे उसी तरह शुरू रहने पर उससे उस दोष के गुणों में और भी वृद्धि होकर उसकी शक्ति बढ़ जाती है।

इसे ही दोषप्रकोप कहा जाता है।

उस दोष का वह प्राकृत स्थान उस दोष से आपूर्त (पूरा भर जाना) हो जाता है तथा वह दोष उन्मार्गगामी होने की स्थिति में पहुँच जाता है।

१) श्लेष्मप्रकोप– आलस्य, अंगगौरव में वृद्धि, प्रसेक अनन्नाभिलाषा-तन्द्रा।

२) वायुप्रकोप– कोष्ठ में वात का संचार-तोद- आध्मान, आटोप {आंत्र कूजन युक्त पेट फूला हुआ}

३) पित्तप्रकोप– तृष्णा-दाह। -द्रव-पीत-मल प्रवृत्ति अथवा वृद्ध प्रकुपित पित्त

रसगामी बनकर कामला व्याधि के लक्षण प्रगट कर देता है।

प्रकोपावस्था— यह रोगोत्पत्ति की (सम्प्रप्ति की) { दूसरी सीढ़ी अथवा अवस्था

तथा

रोग चिकीत्सा की { द्वितिय सीढ़ी अथवा द्वितीय क्रियाकाल।

**कोपस्तु वृद्धि रेवाधिक्य दोषस्य स्वस्थानात् स्थानान्तर गमनम्।**

**तेषां प्रकोपात् कोष्ठ तोद संचारणाम्धिका पिपासा**

**परिदाहश्च विद्वैष हृदयोत्क्लेदस्य जायते।**

**तत्र द्वितिय क्रियाकाल:।**

-सु० सं० सू० ११-

**कोपस्तून्मार्गगामितालिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोग संभव:।**

-अ० हृ० सू० १२-

## ३) दोष प्रसरावस्था

जिस दोष प्रकोपक आहार बिहार के कारण दोष की चय प्रकोप अवस्था संपन्न हुयी वही दोष प्रकोपक आहार विहार उसी तरह शुरू रहने से उस दोष की शक्ति और बढ़कर वह दोष प्रसरावस्था को प्राप्त हो जाता है।

प्रसरावस्था में दोष प्रमाणाति वृद्धि-हो जाने के कारण अब वह अपने स्वयं के स्थान में समा नहीं पाता और अन्य स्थान में गति-करने के लिये इसी कारण वह उद्युक्त हो जाता है।

अन्य स्थान में गमन करने के लिये-'गति' अनिवार्य ही होती है और गति यह वात का प्रधान गुणधर्म होता है। अत: यह दोष प्रसरावस्था वायु के चल वा गतिभानता के कारण ही संभव हो पाती है।

सुराबीज-पिष्ट एवं जल के मिश्रण में जिस प्रकार फसफसाने की क्रिया उत्पन्न हो जाती है {उसमें फेन आता है। (उफान आता है)} जिससे वह बर्तन के खाली बचे हुये भाग में भी

फैल जाता है, इसी तरह की यह क्रिया दोष प्रसर की स्थिति के विषय में भी समझनी चाहिये।

इसी के लिये फूटे हुये बाँध का उदाहरण भी दिया हुआ दिखायी देता है। फूटे हुये उस बाँध में से जल बह कर जैसे आस पास के प्रदेश में फैल जाता है उसी तरह प्रकुपित दोष के फैलने के बारे में समझना चाहिये।

शरीर के जिस अङ्ग में वा भाग में दौर्बल्य (ख वैगुण्य) होगा उस अंग में यह प्रसर स्थितिस्थ दोष रोगोत्पत्ति कर पाता हैं

**दोष प्रसरावस्था–** यह रोगोत्पत्ति की (सम्प्राप्ति की) } तिसरी सिढ़ी अथवा तृतियावस्था

तथा इसे ही चिकीत्सा का तृतिया क्रियाकाल कहा जाता है।

इसी काल में यदि योग्य चिकीत्सोपाय कर लिये जाँय (दोष शमन के उपाय) तो आगे की गंभीर अवस्थायें टाली जा सकती हैं।

प्रकोप एवं प्रसर } इन दोनों अवस्थाओं का अन्तर्भाव { आचार्यचरक एवं सुश्रुतने } दोष प्रकोपावस्था में ही किया हुआ दिखायी देता है।

**४) स्थान संश्रय–**

संचय-प्रकोप-प्रसर अवस्थायें प्राप्त होने के लिये जो विपरीत आहार-विहार किया गया था उसी के उसी तरह शुरू रहने की स्थिति में दोष का बल और बढ़कर व स्थासंश्रयावस्था को प्राप्त होता है।

इस अवस्था में वह प्रकुपित दोष अन्य स्थान में {अपने स्थान को छोड़ दूसरे पराये स्थान में} जाकर वहाँ {यदि ख वैगुण्य उस स्थान में उपस्थित हुआ} रोगोत्पत्ति कर देता है।

'ख वैगुण्य' के उस स्थान में न रहने पर उस स्थान में रोगोत्पत्ति न कर पाने की स्थिति में वह प्रकुपित दोष उसी स्थान में लीन हुआ रहता है तथा रोगोत्पत्ति के लिये योग्य संधि एवं काल की राह देखता रहता है।

प्रसरावस्था प्राप्त प्रकुपित दोष का परिणाम समस्त शरीर में अनुभूत होता है, किन्तु ख-वैगुण्य युक्त स्थान में यह परिणाम विशेष रूपेण दिखायी देता है।

स्थान संश्रय— यह रोगोत्पत्ति की (सम्प्राप्ति की) } चतुर्थ सिढ़ी या चतुर्थावस्था तथा चिकीत्सा का यह चतुर्थ क्रिया काल कहलाता है।

प्रकुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्
यत्र सङ्ग ख वैगुण्यः व्याधिस्तत्रोऽपजायते।

-सु० सं० सू० २४-

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा
युगपत् सर्वतोऽजस्त्र देहे विक्षिप्यते सदा।
क्षिप्यमाणः स्व वैगुण्यात् रसः सज्जति यत्र सः
तस्मिन् विकारं कुरूते स्वे वर्षामिव तोयदः।
दोषाणामऽपिश्चैवस्यादिकदेश प्रकोपणम्।

-च० सं० चि० १५-

५) व्यक्ति (व्याधि) अवस्था–

सम्प्राप्ति का अन्तं दोष-दूष्य संमूर्च्छना में होता है।

स्थान यह { दोष, धातु, मल } के स्रोतसों में से { कोई भी हो सकता है।

१) स्थान वैगुण्य
२) दोष प्रकोप } ये दो बातें { स्थानदुष्टि के लिये अनिवार्य होती हैं।

यह { दुर्बल वा विगुणयुक्त वा ख वैगुण्य युक्त } स्थान { रोग का अधिष्ठान बंन जाता है।

उदा- पित्त के प्रकुपित हो जाने पर

पित्त के उष्ण-तीक्ष्ण गुणों के कारण } रक्त धातु प्रदुष्ट हो जाता है।

फिर प्रकुपित पित्त एवं दुष्ट रक्त } दोषदूष्य संमूर्च्छना सम्पादित होती है।

और रक्तपित्त नामक व्यक्तिकरण वा व्याधि उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार दोष एवं दूष्य } इन्हें { रोग के समवायिकारण } कहते है

तथा दोष-दूष्य संमूर्च्छना } को { रोग का असमवायिकारण कहा जाता है।

व्यक्ति अवस्था में- प्रकुपित दोष के द्वारा दूष्यों को प्रदुष्ट करने का कार्य कर लिया गया होता है। {दोष-दूष्य संमूर्च्छना हुयी रहती है}

दोष-दूष्य संमूर्च्छना और उससे उत्पन्न } क्रिया प्रतिक्रियादि में से { स्थान एवं स्रोतो दुष्टि की विशेष स्थिति उत्पन्न होती है।

यही व्यक्ति अवस्था अथवा व्याधि की व्यक्तावस्था होती है।

इसी में से ज्वर-विसर्प-विद्रधि अतिसार-उदर-शोफादि व्याधियों का व्यक्तिकरण होता है।

उदा- उदर रोग में- उदारायामवृद्धि संपादित होती है

अतिसार में-गुदमार्गेण मलसह द्रवधातु निःसरित होता है।

ज्वर में-देह-मन एवं इन्द्रियाँ इनका सन्ताप होता है।

रोग का अधिष्ठान स्वरूप वह स्थान जिस धातु से गठित होता है उस धातु पर प्रकुपित दोष गुणोंका परिणाम हुआ दिखायी देता है।

उदा-पित्त के उष्ण-तीक्ष्ण गुणोंके कारण-

उस धातु में दाह पाक उष्मावृद्धि } संपादित हुयी दिखायी देती है।

वातके शीत-लघु-रूक्ष सूक्ष्मादि गुणों के कारण-

धातु एवं धातुगत स्रोतसों में-

स्त्रंस-व्यध-स्वाप-संकोच इ० कार्य संपादित होकर उसके परिणाम दिखायी देते हैं।

श्लेष्मा के-गुरू-मन्द-स्निग्धदि गुणों के कारण-

उस धातु में शोफ-जाड्यादि संपादित होते है।

स्थान संश्रयित वैषम्ययुक्त वा विकृत दोष का परिणाम उस-उस धातु वह स्रोतसपर सम्पादित होकर तत्क्षण ही उस धातु का नाश सम्पादित नहीं हो पाया फिर भी उससे आगे निर्मित होनेवाला धातु भी विकृत होकर रोगसातत्य कायम रहता है।

रोग सम्प्राप्ति की व्यक्ति यह पंचमावस्था तो चिकीत्सा का यह पंचम क्रियाकाल माना जाता है।

दोषाणां संचयः कोपः प्रसरः स्थान संश्रयः

व्याधि व्यक्ति रितिज्ञेयः परिणाम परम्परा।

दोषाणां वातादीना लपलक्षणेंन आगन्तु विषाणां च

शरीर प्रविष्ठानां संचयादिर्व्याधिव्यक्ति पर्यन्ता

परिणाम परम्परा ज्ञेया।

तत्र संचयः प्रकोपश्चेति। बुद्धिरेवावस्थाद्भवं

ततः प्रसरः सर्वत्र शरीरे ततो हृदय-यकृतप्लीह

फुफ्फुस वृक्कौ आदिस्थानेषु एकस्य एकाधिकस्य

वा दोषस्य संश्रयः स्थान संश्रयेण ततो व्याधि

व्यक्ति प्रकाराः स्वै लिङ्गैः सेयं परिणामः।

दोष-दूष्यसंमूर्च्छना विशेषो व्याधिः

अथ ऊर्ध्व व्याधिदर्शनं वक्ष्यामः

शोथ-अर्बुद-ग्रंथि-विद्रधि-विसर्प-प्रभूतिनां

प्रव्यक्त लक्षणता ज्वरातिसार प्रभृतिनां च तत्र

पंचम क्रियाकालः।

-सु० सं० सू० २१-

दोष-दूष्य संमूर्च्छना से धातु का मूल प्राकृत स्वरूप बदलकर धातु के द्रव्यगुण कर्मो का नाश संपादित हो जाता है।

धातु विनाश का यह स्वरूप उस उस प्रकुपित दोष उस उस अंश के अर्थात गुण के अनुसार होता है।

उदा- वात प्रकोप यदि रूक्ष गुण के कारण सम्पादित हुआ है तो धातु पर (अवयवों पर) वायु के रूक्ष गुण का परिणाम होकर वह धातु रूक्ष-शुष्क हो जाता है तथा उस धातु से घटित अवयवों का भी शोष संपादित हो जाता है।

–राजयक्ष्मा में ·फुफ्फुसों पर

–यकृद्दाल्युदर में यकृत पर

(cirrhosis of liver)

–वातज ग्रहणी में-लध्वन्त्र के पच्यमानाशयश्रित ग्रहणी पर।

इस शुष्कता के परिणाम मरणोत्तर परीक्षा में (Post mortem Exam.) स्पष्टत: देखे गये हैं।

स्थान संश्रयित कफ के कारण–धातुओं में क्लेद एवं मल भाग की वृद्धि होकर धातुओं में शोथ-गौरव श्वेतवर्णता इ० परिणाम प्रत्यक्षत: देखे जा सकते हैं।

**६) भेदावस्था–** रोग सम्प्राप्ति की अन्तीम अर्थात षष्ठावस्था उसी तरह यह चिकीत्सा अति महत्वपूर्ण षष्ठ क्रिया काल कहलाता है।

गंभीर दोष-दूष्य संमूर्च्छना के कारण स्पष्टत: प्रकट हुआ रोग चिरकालत्व (chronic) की तरफ प्रवृत्त होता है। इस अवस्था में भी पर्याप्त एवं सुयोग्य उपाययोजना यदि उपलब्ध न हुयी तो वह व्याधि असाध्यस्वरूपीय बन जाता है।

**अत: ऊर्ध्व प्रसरं वक्ष्याम:।**

**तेषामेभिरान्तक विशेषै: प्रकुपितानां पर्युषित किण्वोदक**

**पिष्टसमवाय इवोद्रिक्तांना प्रसरो भवति।**

**तेषां वायुर्गतिमत्वात् प्रसरण हेतु: सत्यपि अचैतन्ये।**

**सहि रजोगुणभूमिष्ट, रजश्च प्रवर्तक सर्व भावानां यथा**

**महानुदक संचयोऽति प्रवृध्द: सेतुमवदार्यापरेणोंदकेन**

**व्यामिश्र: सर्वत: प्रधावति, एवं दोषा कदाचित्**

**एक देशो द्विश:। समस्ता: शोणित सहितावाऽनेकधा प्रसरन्ति।**

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।

दोषोविकार नभसि मेघवत् तत्र कुर्वति। नात्यर्थं कुपितश्चापि

लीनों मार्गेषु तिष्ठति। निष्प्रत्यनीक: कालेन हेतु मासाद्य

कुप्यति: एवं प्रकुपितानं प्रसरतां वायोविभार्गगमनाटोपौ

ओष चोष परिदाह धूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादा

च्छर्दीश्चेति श्लेष्मणों लिंगानि भवति। तत्र तृतिय क्रिया काल:।

-सु० सं० सू० २१-

वायु की जैसी तथा जिस तरफ गति होती है उसी तरफ वर्षा के मेघ वायुद्वारा ले जाये जाते हैं, उसी तरह प्रसरावस्था के प्रकुपित दोष वात दोष के द्वारा शरीर में विकीरित कर दिये जाते हैं।

**वायुप्रसर** वायु का विमार्गगमन हो जाता है।

**विमार्गगमन**–प्राकृतिक व स्वाभाविक मार्ग के बजाय अस्वाभाविक या अप्राकृत रूप से अलम ही किसी मार्ग से दोष-धातु-मलादि का वहन होना

| | |
|---|---|
| उदा–मल<br>मूत्र<br>शुक्र<br>आर्तव<br>अपान | इनकी प्रकृतित: अधोगति होती है जिससे समय के समय पर वे शरीर से उत्सर्जित हो जाते हैं। |

किन्तु ऐसा न होते हुये यदि–

| | |
|---|---|
| दोष<br>धातु<br>मलादि की | विपरीत गति हो जाती है– |

–तब उसे विमार्गगमन कहा जाता है।

**विर्मागामी वायु के कारण–**

मलमूत्रादि सङ्ग (अवरोध) होता है तो क्वचित वे ऊर्ध्वगामी (विपरीत गति) हो जाते हैं।

तो कभी पक्वाशय-बस्त्यादि स्थानों में फूलने की क्रिया (पुरीष-मूत्रादि के सङ्ग के कारण) हो जाती है।

यही बात आर्तव वा गर्भ के बाबत भी होती है। उनका भी सङ्ग होकर गर्भाशय पर तनाव पड़ जाता है।

आनाह-(flatulance), आटोप कफ-पित्त क्षय

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारूतः श्लेष्मण क्षये
स्थानानादाय गात्राय यत्र तत्र विसर्पति।
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमोदौर्बल्य मेव च।
प्रकृतिस्थं यदा वातं श्लेष्मपित्त परिक्षये
कुर्यात् शीतकं गौरवं ज्वरम्।

-च० सं० सू० १७-

प्राकृतेषु धातुषु दोषाः न अवरोहयन्ति।

-सुश्रुत-

प्रतिरोगन्निति क्रुध्दा रोगोधिष्ठान गामिनी
रसायनी प्रपद्याशु दोषो देहे विकुर्वति।

-अ० हृ० नि० १-

## पित्त प्रसरावस्था-

ओष-चोष-परिदाह-

धूमायन अंग धूँएँ में लिपटा हुआ होने जैसी अस्वस्थ-बैचेनी पूर्ण अनुभूति।

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रसरावस्था प्राप्त प्रकुपित पित्त | उष्ण-तीक्ष्ण गुणातिवृद्धि के कारण | जिस स्थान में पित्त का प्रसर सम्पादित होता है। | वह स्थान दग्ध हो जाता है |

प्रथम पित्तवृद्धि-फिर प्रकोप-इन्हीं अवस्थाओंसे ही सिर्फ पित्तका प्रसर होता है ऐसा नहीं है तो

प्राकृत कफ क्षय के कारण वात प्रकोप होकर प्रकुपित वात के द्वारा प्राकृत पित्त का आशयायकर्ष-

सम्पादित किया जाकर उस प्रकुपित वान के द्वारा प्राकृत पित्त जबरन खींचकर जहाँ जहाँ ले जाया जाता है वहाँ वहाँ पित्त प्रकोपवत् लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

**कफ प्रसर—**

इ० उत्पन्न।

श्लेष्मा की वृद्धि-प्रकोपादि होकर जिस तरह कफ प्रसर होता है उसी तरह-

पित्तक्षय के कारण
सम्पादित वात
प्रकोप के कारण } प्रकुपितवात के द्वारा प्राकृत कफ का आशयायकर्ष कर दिया जाता है।

इस प्रकुपित वात के द्वारा वह प्राकृत कफ बलात् शरीर में जहाँ जहाँ खींचकर ले जाया जाता है वहाँ वहाँ कफ प्रकोपवात् लक्षण दिखायी देते हैं।

**दोष विकृति एवं मन्दाग्नि—**

चय
प्रकोप
प्रसरादि } दोषों की विषमावस्था { शरीर में मंदाग्नि के कारण ही उत्पन्न हो पाती है।

शरीरस्थ जाठराग्नि के प्राकृत रहने पर चयावस्था में ही दोषों की वृद्धि कम हो जाती है तथा उस प्राकृत जाठराग्नि के द्वारा शरीर में दोष साम्य की स्थिति रखी जाती है।

किन्तु अग्निमांद्य के कारण दोषों में सामत्व उत्पन्न होकर उन अप्राकृत सामदोषों की वृद्धि उसी तरह बढ़ती जाती है, जो उत्तरोत्तर दु:खप्रद साबित होती है।

—इसे ही प्रथमादोषदुष्टि के नाम से जाना जाता है।

**रोगा: सर्वेऽ पि मन्देऽग्नौ।**

-अ० हृ० सू० ११-

**तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धि: क्षयोद्भव:।**

-अ० हृ० सू० ११-

प्रथमां दोषदुष्टि च केचित आमस्य सम्भवम्।
प्रकृतिस्थं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली
कर्षेत्-कुर्यात् तदा शूलं स शैत्य स्तंभ गौरवम्।

-च० सं० सू० १७-

स्थान संश्रयित पित्तज व्याधि:-

| | |
|---|---|
| पित्त त्वचा में जाने से | विस्फोट-मसूरिका इ० |
| पित्त रक्त में जाने से | विसर्प-दाह इ० |
| पित्त मांस में जाने से | मांसकोथ |
| पित्त मेद में जाने से | सदाह ग्रंथि-अतिस्वेद तृषा-वमन इ० |
| पित्त अस्थि में जाने से | अस्थिदाह-नख नेत्र पीतता |
| पित्त शुक्र में जाने से | पूति शुक्र-पीतसर शुक्र |
| पित्त सिरागत हो जाने से | क्रोध-सन्ताप |
| पित्त स्नायुगत होने से | तृषा |
| पित्त कोष्ठ में जाने से | अति तृषा-अतिदाहादि। |

पितं त्वचि स्थितं कुर्यात् विस्फोटक मसूरिका:
रक्ते विसर्प दाहं च मांसे मांसाव कोथनम्।
सदाहन मेदसि ग्रंथित स्वेदातृट वमनम् भृशम्
अस्थिदाहं भृशमग्नि हारिद्र नख नेत्रताम्।
पूति पीताव भासं च शुक्रं शुक्रसमाश्रितम्
सिरागतं क्रोधतापं प्रलापं स्नायुगं तृषम्,।
कोष्ठमं महतृड्दाहान् व्यापिनोऽन्यांश्च यक्ष्मण:।

-अ० सं० सू० १९-

स्थान संश्रयित कफज व्याधि-

| | |
|---|---|
| प्रकुपित श्लेष्मा के त्वचा में स्थान संश्रय से- | त्वक् स्तंभ, त्वक् पांडुरता |
| प्रकुपित श्लेष्मा के रक्त में स्थान संश्रय से- | पाण्डुरोग |

प्रकुपित श्लेष्मा के मांस में स्थान संश्रय से- आर्बुद-अपचि ई०। गीले वस्त्र से समस्त शरीर लिपटा हुआ होने जैसी कष्ट कर अनुभूति, अङ्गगौरवानुभूति

| | |
|---|---|
| प्रकुपित श्लेष्मा के मेद में स्थान संश्रय से– | स्थौल्य (Obesity) प्रमेह |
| प्रकुपित श्लेष्मा के अस्थि में स्थान संश्रय से– | अस्थिस्तब्धतानुभूति |
| प्रकुपित श्लेष्मा के मज्जा में स्थान संश्रय से– | नेत्र निस्तेजता |
| प्रकुपित श्लेष्मा के शुक्र में स्थान संश्रय से– | शुक्र संचिति, गौरवानुभूति |
| शिर: स्थान में कफ संश्रय हो जाने से– | शिरोगौरव, ऊर्ध्वजत्रुगत अवयव बधिर होने जैसी अनुभूति |
| स्नायु स्थान में कफ संश्रय हो जाने से– | सन्धिशून्यतानुभूति |
| कोष्ठ स्थान में कफ संश्रय हो जाने से– | उदराकार वृद्धि, जाठराग्नि की मंदता, अरोचकता इ० |

श्लेष्मा त्वचि स्थित: कुर्यात् स्तंभ श्वेतावभासताम्
पाण्ड्वामयं शोणितगो मांससंस्थोऽर्बुदाऽपचि।
आर्द्रचर्मावनध्दाभगात्रताचाति गौरवम्
मेदोग: स्थूलतां मेहमस्थ्नां स्तब्धत्वमास्थिग:।
मज्जग: शुक्लनेत्रत्वं शुक्रस्थं शुक्र संचयम्
विबन्धं गौरवं चाति शिरस्थ: स्तब्ध गात्रताम्।
स्नायुग: सन्धिशून्यत्वं कोष्ठगो जठरोन्नतिम्
औरोचक विपाको च तांस्तांश्च कफसंभवान्।

-अ० सं० सू० १९-

स्थान वैगुण्य में से → धातु विगुणता
तथा धातुविगुणता से → स्थान वैगुण्य
तथा स्थानवैगुण्य आश्रय से प्रकुपित दोष का स्थान संश्रय
इस क्रम से रोगनिर्मिति प्रक्रिया शरीर में शुरू रहती है।

विमार्गग वातकर्म–

विभार्गस्यहय युक्ता या रोगै: स्वस्थान कर्मजै:
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च।

दोष की स्थान संश्रयावस्था } यह रोग की पूर्वरूपावस्था होती है।

जिस स्थान वा स्रोतो विगुणता के आश्रय से दोष-सङ्ग को प्राप्त होते हैं-उसे स्थान संश्रभावस्था कहते हैं

| | | | |
|---|---|---|---|
| चय<br>प्रकोप<br>प्रसर | अवस्थाओं में | प्रकुपित<br>दोष के | सार्वदैहिक<br>लक्षण दिखायी<br>देते हैं। |

-किन्तु स्थान संश्रयावस्था में रोग के पूर्वरुप प्रकट हो जाते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| स्थान संश्रयित प्रकुपित दोष · | एक वा अनेक धातु<br>वा मलादि को | प्रदुष्ट कर देते हैं। |

यही दोष-दूष्य संमूर्च्छना होती है और इसी में से रोग के पूर्वरुप (predisposing symptoms) व्यक्त हो जाते हैं।

**स्थानसंश्रयिण: क्रुध्दा: भावि व्याधिप्रबोध क्रम**

**दोषा: कुर्वन्ति यल्लिंगं पूर्वरुपं तदुच्यते।**

-च० सं० नि० १-

**दोषा: दुष्टा: रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान्**

**मला: मलायनानि दूषयन्ति यथास्वं लेष्वतों गदा:।**

-अ० हृ० सू० ११-

## श्लेष्म नानागत वा नानात्मज विकार–

{इनका समावेश श्लेष्म प्रकोपज लक्षणों में हो जाता है।}

तृप्ति-तन्द्रा-निद्राधिक्य-गुरूगात्रत्व

आलस्य-मुखमाधुर्य-लालास्राव

स्तैमित्य {समस्त शरीर गीले कपड़े से लपेटा हुआ होने जैसी-कष्टप्रद अनुभूति}

शीताग्निता-श्वेताव भासता

कण्डु-गलगण्ड-श्वेतमूत्रता

उपदेह {हाथ पर कुछ लिपटा हुआ है-पैरों पर उसी तरह का अवयव चिपका हुआ है, पूरे बदनपर मानो कुछ मोटा आवरण लिपटा हुआ है-इस प्रकार की कष्ट प्रद अनुभूति।}

हृदयोपलेप-अपक्ति-श्लेष्मोद्गीरण

कंठोपलेप-अति स्थौल्य-श्वेतनेत्रता

गुरुगात्रत्व-लालास्राव-मलाधिक्य

धमनीप्रतिचय-उदर्द-श्वेतवर्चस्त्व

-च० सं० सू० ३०-

## दोष वैषम्य–

**वयोऽहो रात्रि भुक्तानां वे अन्त्य मध्यादिगः क्रमात्।**

-अ० हृ० सू० १-

वातवृद्धि
- वय-अन्त्यकाल (वृध्दत्व)
- दिन-अन्त्यकाल (अपरान्ह)
- रात्रि-अन्त्यकाल (उत्तररात्रि)
- भोजन-अन्त्यकाल (पचनोत्तर)
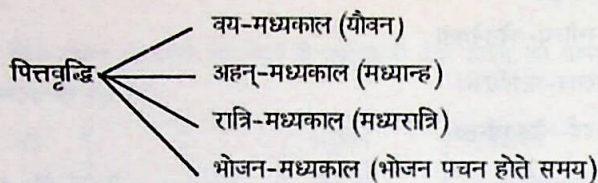
**दोष-संचय-प्रकोप-शमनादि-**

वायु-
१) वायु के रुक्षादि गुण + उष्ण गुण = वात संचय
२) वायु के रुक्षादि गुण + शीत गुण = वात प्रकोप
३) स्निग्धादि गुण + उष्ण गुण = वात शमन

**उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्**
**शीलेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः ।**

-अ० हृ० सू० १२-

पित्त-
१) पित्त के तीक्ष्णादि गुण + शीत गुण =पित्त संचय
२) पित्त के तीक्ष्णादि गुण + उष्ण गुण =पित्त प्रकोप
३) मन्दादि गुण + शीत गुण =पित्त शमन ।

**शीलेन युक्ता स्निग्धाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते**
**उष्णेन कोपं मन्दाद्याः शमं शीतोप संहिताः ।**

-अ० हृ० सू० १२-

श्लेष्मा-
१) कफ के स्निग्धदि गुण + शीत गुण = श्लेष्म संचय
२) कफ के स्निग्धादि गुण + उष्ण गुण = श्लेष्म प्रकोप
३) रुक्षादि गुण + उष्ण गुण = श्लेष्म शमन

**शीलेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मण श्चयम्**
**उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रुक्षादयाः शमम् ।**

-अ० हृ० सू० १२-

## दोषों का चय-प्रकोप-प्रशम एवं ऋतु-
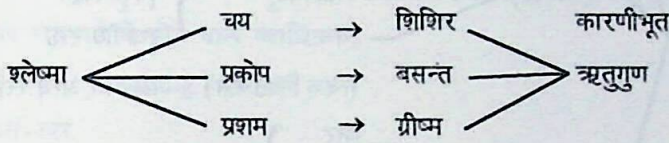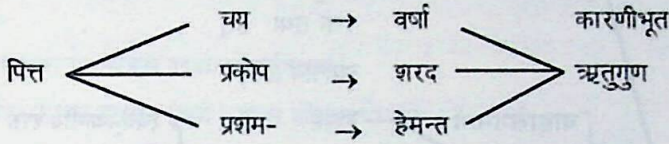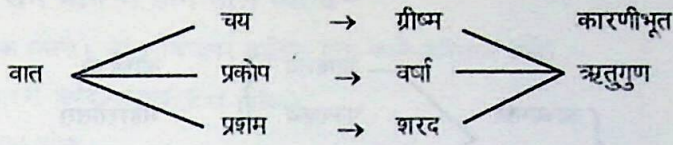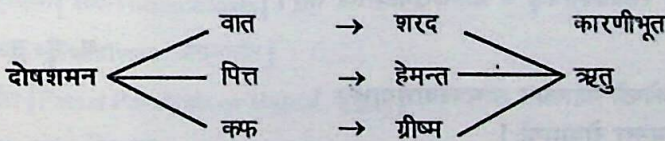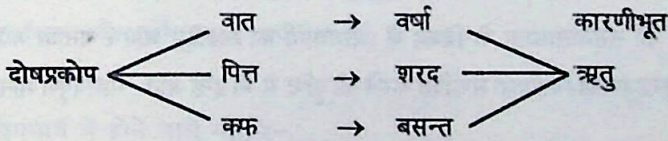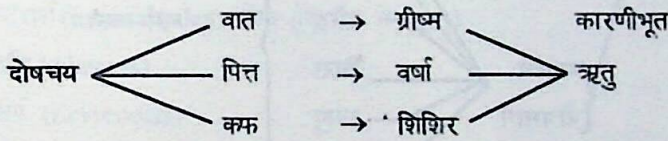
**चय प्रकोप प्रशमा वायोर्ग्रीष्मादीषु त्रिषु**

**वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु।**

**-अ० हृ० सू० १२-**

## तिन रोगमार्ग तथा उनमें होने वाले व्याधि–
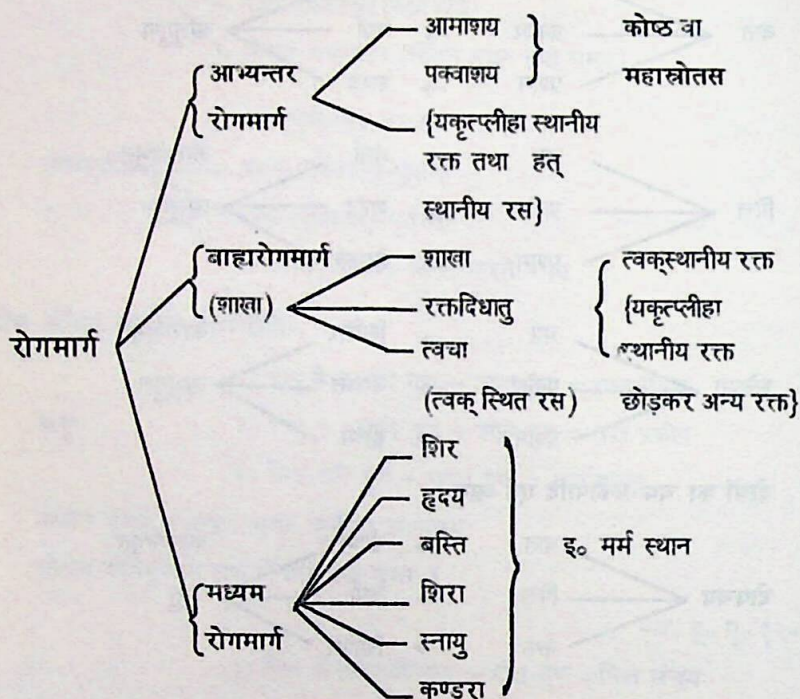
व्याधि की साध्यासाध्यता के विषय में रोगमार्गो का अप्रतीम महत्व बताया गया है। उसी तरह सफल चिकीत्सा संपादित करने की दृष्टि से भी इन्हें अति- महत्वपूर्ण माना गया है।

**शाखा रक्तादयस्त्वक् च बाहयरोगायनंहि तत्।**

**-अ० हृ० सू० १२-**

**अन्त कोष्ठो महास्रोत आमपक्वाशयाश्रय: ।**
**(आभयन्तर रोगमार्गा: )**

**-अ० हृ० सू० १२-**

**शिरो हृदय बस्त्यादि मर्माण्यस्थ्नां च सन्धय: ।**
**(मध्यम रोगमार्गा: )**

**-अ० हृ० सू० १२-**

**बाह्य रोग मार्ग में होने वाले व्याधि–**

मश (मस्से), व्यंग {त्वचापर लालिमा युक्त-काले-हरिताभ धब्बे}

अलजी-अर्बूद-बाह्यार्श(Ext. piles)

गुल्म-शोफ।

इ०

**तदाश्रया मषव्यङ्ग गण्डालज्यार्बुदादयः**

**बहिर्भागश्च दुर्नाम (अर्श) गुल्म शोफादयोगदाः।**

-अ० हृ० सू० १२-

**आभ्यन्तर रोगमार्ग में होने वाले व्याधिः–**

छर्दि (वमन- vomiting )-अतिसार

कास-ज्वर

उदर(Ascites) -श्वास {तमक श्वास Boonchial asthma}

अन्तरार्श(internal piles) शोफ (अंतर्भाग में सूजन)

विद्रधि (Abscess)

विसर्प (Erysepeals)

**तत्स्थाना छर्द्यतिसार कास श्वासोदर ज्वराः**

**अंतर्भागश्च शोफार्शो गुल्म विसर्प विद्राधिः।**

-अ० हृ० सू० १२-

**मध्यम रोगमार्ग में होने वाले व्याधि–**

राजयक्ष्मा [क्षय-Tuberculosis]

पक्षाघात [Paralysis -अङ्गघात]

अर्दिल [Facial Paralysis or Bale's Palasy]

सन्धि-अस्थि-त्रिक्शूल

शिरोरोग-संधि-अस्थि-त्रिक्स्तंभ।

**कोष्ठ**

**स्थानान्यामाग्नि पक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च**

**हृत् उण्डुकः फुफ्फुसश्च।**

# सामान्यज एवं नानात्मज व्याधि

| | | |
|---|---|---|
| वात<br>पित्त<br>कफ | इन तीनों<br>दोषों से | होने वाले व्याधि<br>ये सामान्यज<br>व्याधि कहलाते है। |

अमुक एक ही दोष से ही उत्पति होती हो अैसी स्थिति नहीं होती तो तिनों दोषों से किसी.भी दोष से जिन व्याधियों की उत्पत्ति हो सकती है-उन्हें **सामान्यज व्याधि** कहा जाता है।

उदा- अतिसार व्याधि यह कफज भी हो सकती है।

तो पित्तजभी हो सकती है।

शोफ व्याधि यह कफज भी हो सकती है।

तो पित्तज भी हो सकता है।

उदर व्याधि यह कफज भी हो सकता है।

तो पित्तज भी हो सकती है।

अपस्मार-गुल्मादि व्याधियों का इनमें अंतर्भाव होता है।

**सामान्यजा: इति वातादिभि: प्रत्येकं**

**मिलिलैश्च ये जन्यते।**

-चरक-

**नानात्मज व्याधि–**

कुछ व्याधि ऐसे लेते हैं जो किसी एक अमुकही दोष दुष्टि से उत्पन्न होने वाले इस तरह की उनके विषय में स्थिति होती है उन्हें **नानात्मज व्याधि** कहा जाता है।

उदा- शूल-यह सिर्फ वातप्रकोप से ही उत्पन्न होता है।

दाह-यह सिर्फ पित्त दुष्टि से ही उत्पन्न होता है।

| | |
|---|---|
| आलस्य<br>अङ्गजाडय | इ० सिर्फ श्लेष्म दुष्टि के ही<br>कारण उत्पन्न होते हैं। |

अर्थात दाह यह कफ या वात से उत्पन्न नहीं हो सकता।

आलस्य-अङ्गजाडय-ये पित्त या वात की दुष्टि से उत्पन्न नहीं हो सकते अैसी स्थिति होती है।

इस प्रकार प्रत्येक दोष की दुष्टि के कारण उसके अपने विशेष व्याधि उत्पन्न होते हैं, जो उसको छोड़कर अन्य दूसरे किसी भी दोष से उत्पन्न नहीं हो पाते ऐसी स्थिति होती है तब ऐसे व्याधियों को नानात्मज व्याधि कहा जाता है।

इस प्रकार के नानात्मज विकारों में —
- वायु की दुष्टि से उत्पन्न होने वाले ८० विकार
- पित्त की दुष्टि से उत्पन्न होने वाले ४० विकार
- श्लेष्मा की दुष्टि से उत्पन्न होने वाले २० विकार

निर्देशित किये हुये दिखायी देते हैं।

वात के सबमें ज्यादा व्याधि दिखायी देते हैं। कारण वात यह शरीर एवं मन दोनों का भी-नियन्ता एवं प्रणेता होता है।

वायु यह अन्य दो दोषों की तरह "पङ्गु" नहीं होता।

वायु यह सूक्ष्म एवं गतिमान होने के कारण प्रकुपितवस्था में वह कफ-पित्त का आशयापकर्ष भी संपादित कर अनेक विकृति लक्ष्ण उत्पन्न कर देता है।

वायु के नित्य गतिमान रहने के गुण के कारण—

मार्गावरोध, आवरण } इ० के कारण उसकी गतिमें अवरोध उत्पन्न हो जाने की स्थिति में वह प्रकुपित हो जाता है।

वायु का समस्त शरीर में तथा मन:स्थान में संचार रहता है-अत: अन्य दोषों की अपेक्षा वायु शरीर में सबसे बलवान होने से विशेष व्याधियों को उत्पन्न करने वाला साबित होता है।

**नानात्मजा इति वातादिभिर्दोषान्तर संपृक्तैः जन्यन्ते।**

-चरक-

## कोष्ठगत दोष शाखागत किस प्रकार होते हैं?

कोष्ठगत दोष यदि बलवान रहे तो स्वदुष्टिजन्य विकार वे उत्पन्न कर देते हैं।

लेकिन यदि वे दुर्बल हुये अर्थात् विकार उत्पन्न करने में क्षम न हुये तो योग्य संधि की (दोष बल को बढ़ाने वाली योग्य ऋतु, प्रज्ञापराध इ०)

राह देखते हुये उसी स्थान में लीन हुये रहते हैं। उनका बल बढ़ाने वाला प्रज्ञापराध अथवा की योग्य ऋतुबल प्राप्त होते ही बलवान बन विकार उत्पन्न कर देते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| –व्यायाम के क्षोभ के कारण<br>–अग्निकी प्रखरता के कारण<br>–अहिताहारविहार सेवन से | वायु की<br>प्रेरणा से | कोष्ठस्थ दोष रक्तादि<br>शाखाओं में प्रविष्ठ<br>हो जाते हैं। |

**व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यावचारणात्**
**कोष्ठाच्छाखां मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च।**

-च० सं० सू० २८-

## शाखागत दोष कोष्ठगत किस प्रकार होते हैं?

| | |
|---|---|
| १) वृद्ध दोषों को स्वेदनादि से पतला बनाकर<br>२) दोषों का पाचन कर<br>३) स्नेहन-स्वेदनादि उपायों से स्रोतसों<br>का अवरोध दूर कर<br>४) वायु का निग्रह कर | शाखागत बने हुये<br>दोष पुन:<br>कोष्ठ में<br>आ<br>जाते हैं। |

**वृद्ध्याभिष्यन्दनात्पाकात्स्रोतोमुख विशोधनात्**
**शाखां मुक्त्वा मला: कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्।**

-च० सं० सू० २८-

## दोष परस्पर विरोधी गुणयुक्त होने पर भी वे परस्परको नष्ट क्यों नहीं कर पाते?

शरीर में वातादि दोष परस्पर विपरीत गुणीय होते हैं। इस ऐसी स्थिति के कारण तो उनके द्वारा परस्पर का नाश ही अपेक्षित हो जाता है।

किन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा होते हुये देखा नहीं जाता।

विरोधिता यह कार्य से निश्चित की जाती है। जल एवं अग्नि परस्पर की घोर विरोधी होती हैं। किन्तु यह विरोध सभी जगह लागू करने का यदि प्रयत्न किया गया तो फिर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के आरंभ में (सृष्टि के आरंभ में) "अग्नेराप:"-इस तत्व के अनुसार अग्नि से जल की उत्पत्ति किस तरह संभव हुयी होती?

जल एवं अग्नि से अम्ल रसोत्पत्ति होती है। यदि ऐसा विरोधित्व पूरे रूप में होता तो इस प्रकार जल एवं अग्नितत्व से अम्लरसोत्पत्ति फिर किस प्रकार हो पाती?

दोष स्वरूपत: विरोधी न होने के कारण उनके परस्पर संयोग में कोई अड़चन नहीं आ पाती।

दोषों के प्रभाव नामक शक्ति में सिर्फ परस्पर विरोध होता है–

इस बात को उत्तम रूप से समझने के लिये आमलकी का उदाहरण अति सर्पक है।

विरुध्दैरपिनत्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्
दोषा: सहज सात्म्यत्वात् घोंरं विष महीनिव।

-च० सं० वि० २६-

सर्प के मुख में हरदम भयानक हलाहल वास करता है किन्तु स्वाभाविक सात्म्य कारण वश उस सर्प को उसकी बाधा नहीं हो पाती।
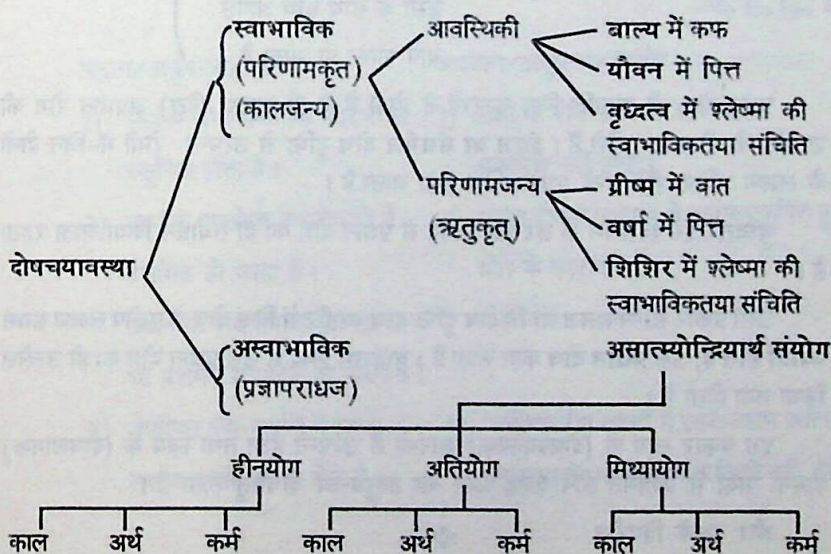
## प्रधान-अनुबन्ध्य दोष-

दोषों का स्वतंत्रतया प्रकुपित होना और इस दोष प्रकोप के शास्त्रोक्त दोषशमन के उपचार करने से यदि उस दोष प्रकोप का शमन हो जाता है तो ऐसे दोष को स्वतंत्र दोष कहते हैं। इसे ही प्रधान दोष भी कहते हैं।

प्रथम रोग की उत्पत्ति जिन कारणों से होती है वे ही कारण (हेतु) अप्रधान रोग की उत्पत्ति के भी कारण होते हैं। द्वंद्वज वा संसर्गज दोष दुष्टि से उत्पन्न रोगों में-जिन दोषों के लक्षण अधिक होंगे उन्हें प्रधान दोष कहा जाता है।

वृध्दतर इस विशेषण के तर इस प्रत्यय से प्रधान दोष का ही संबोधन किया जाता रहता है।

उसी प्रकार सन्निपातज वा त्रिदोष दुष्टिजन्य व्याधि में जिस दोष के प्रकोप लक्षण सबसे ज्यादा होते हैं, उसे प्रधान दोष कहा जाता हैं। वृध्दतम शब्द से उस प्रधान दोष का ही उल्लेख किया गया होता हैं।

इस प्रकार स्वयं के (दोषप्रकोपक) कारणों से उत्पन्न हुआ तथा स्वयं के (दोषशामक) शमनों पायों से प्रशमित होने वाला ऐसा वह अनुबन्ध्य दोषहेतु होता है।

और इसके विपरीत

| | | | |
|---|---|---|---|
| स्थिति वाला<br>अर्थात् स्वयं के दोष<br>प्रकोपण कारणों से<br>प्रकोपण तथा<br>स्वयं के दोष शामक<br>उपायों से शामन होना | ऐसी स्थिति जब<br>दिखायी नहीं<br>देती तब उसे | | (अप्रधान)<br>अनुबन्ध दोषहेतु<br>कहा जाता है। |

**तत्रानुबन्ध्यानुबन्धकृतो विशेषः स्वतंत्रो व्यक्तलिङ्गो**
**यथोक्त समुत्थान प्रशमों भवत्यनुबन्ध्यःतद्वीपरीत-**
**लक्षण स्त्वनुबन्धः।**
**अनुबन्ध्य लक्षण समन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति**
**तत् त्रिकं सन्निपातमाचक्षते द्वयं वा संसर्गम्।**
**अनुबन्ध्यानुबन्ध विशेष कृतस्तु बहुविधो दोष भेदाः**
**एवंमेष संज्ञा प्रकृतोभिषजां दोषेषु व्याधिषु**
**च नानाप्रकृति विशेषः व्यूहः।**

-च० सं० वि० ६-

| प्रधान/अनुबन्ध्य/स्वतंत्र | अप्रधान/अनुबन्ध/परतंत्र |
|---|---|
| १) स्वयं के दोष प्रकोपक कारणों से प्रकुपित्त होता है। | १) स्वयं के दोष प्रकोपक कारणों से प्रकुपित्त नहीं होता। |
| २) स्वयं के शास्त्रोक्त शमनोपायों से प्रशमित हो जाता है। | २) प्रधान दोष के प्रकोपण के कारण प्रकुपित्त हुआ होने के कारण |
| | प्रधान के शमनोपायों से इसका भी प्रशमन संपादित हो जाता है। |
| ३) उपस्थित रोग-लक्षणों में इसके लक्षण सबसे ज्यादा होते है। | ३) उपस्थित रोग लक्षणों में इसके लक्षण प्रधान वा अनुबन्ध्य के प्रकोप लक्षणों के जितने नहीं होते। |

❖

# आवरण

आवरण अर्थात मार्ग में अवरोध। शरीरस्थ त्रिदोषों में– 'पित्तं पङ्गु कफं पङ्गु'– ऐसी स्थिति श्लेष्मा एवं पित्त की होती है। वायु ही सिर्फ चल एवं गतिमान गुणयुक्त तथा उसकी गति शरीर में तथा मन में समस्त जगह होती है।

| | |
|---|---|
| वायु ज्ञानेन्द्रियाँ<br>तथा कर्मेन्द्रियाँ<br>मानसिक क्रियाओं का | प्रवर्तक होता है। अत:<br>नियन्ता-प्रणेता एवं<br>सर्वशक्तिमान इस तरह की<br>महत्ता से युक्त होता है। |

प्रकुपित हो जाने पर यह वायु ही शरीरस्थ पित्त एवं श्लेष्मा जो अपनी प्राकृत स्थिति में अपने स्वयं के स्थान में स्थित होते हैं, उन्हें जबरदस्ती उनके स्थान से खींच निकालकर अपने साथ ले जाता है (आशयापकर्ष)। इससे कष्टकर रोगलक्षणों की उत्पत्ति हो जाती है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| इस प्रकार के<br>नित्य गतिमान<br>सर्वशक्तिमान<br>शरीरस्थ<br>वायु के | संचरण मार्ग में | दोष<br>धातु<br>मल<br>अन्नादि<br>(आम) | में से किसीका<br>अवरोध<br>उत्पन्न हो<br>जाने से | वायु का<br>प्रकोप<br>हो<br>जाता है। |

| | |
|---|---|
| आवरण वर्णन महर्षि चरक<br>एवं आचार्य सुश्रुत ने | वातव्याधि वर्णन के अन्तर्गत |
| तो आचार्य वाग्भट ने → | वातरक्ताधिकार में वर्णन किया हुआ दिखायी देता है।. |

व्याधि की सम्प्राप्ति शरीर में सम्पादित होते समय–

| | | | |
|---|---|---|---|
| दोष-दूष्य<br>संमूर्च्छना के समय | दोष धातु<br>वा मल का | वायु दोष पर<br>आवरण पड़कर | शरीर में वात प्रकोप<br>संपादित होता है। |

| | |
|---|---|
| अत: रोगसम्प्राप्ति में<br>तथा<br>चिकीत्सा शास्त्र में | आवरण को अति महत्वपूर्ण<br>माना गया है। |

१) धातु के क्षीण हो जाने की स्थिति में वायु का प्रकोप हो जाता है।

उसी तरह सर्वांगीण व स्थानीय वायु का पित्त, कफादि दोष, रस रक्तादि धातु, पुरीषादि मल वा स्थानीय वायु वा अन्य वायु के कारण आवरण पड़ जाने से वात का प्रकोप सम्पादित हो जाता है।

जिसका आवरण पड़ा है-वह आवरक

जिसपर आवरण पड़ा है-वह आवृत वा आवरित।

सर्वेष्वेतेषु संसर्ग पित्ताधैरूपलक्षयेत्

वायोर्धातु क्षयात् कोपो मार्गस्थावरणेन वा।

केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिल:

विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्स्यश्वाविरोधत:।

-सु० सं० चि० ५-

तयोर्ध्व गच्छन्नुदान: प्राणो वाऽपानस्याधोगामिनो

गतिनिरोधं कुर्वन्नावरक इत्युच्यते।

अथवा द्वयोमारुतयोरभिमुखमभिसर्पतो र्बलवता

दुर्बलोऽभिभूत: प्रत्यावृत्त: सन्...... आवृत्त इत्युच्यते।

-च० सं० चि० २८-

आवरक स्वरूपीय दोष, धातु, मल इ० के लक्षण विशेष प्रमाण में दिखायी देते हैं।

तो आवृत्त वायु के लक्षण प्राय: क्षीण हुये दर्शित होते हैं।

प्रकुपित

| | | | |
|---|---|---|---|
| अन्य दोषादि के द्वारा तथा स्वयं वायु के अन्य प्रकारों द्वारा | वायु के मार्ग में गतिरोध उत्पन्न होकर | उस वायु की क्रिया मंद होना | आवरण कहलायी जाती है। |

| | |
|---|---|
| प्राण वायु के पित्त द्वारा आवृत्त हो जोने पर | मूर्च्छा-भ्रम-दाह शूल, शीत आहारादि की इच्छा, विदग्ध अन्न का वमन इ० |
| प्राण वायु के कफ से आवृत्त हो जाने पर | विवर्णता-दौर्बल्य शरीरस्थ समस्त कार्यव्यापार शिथिलता तन्द्रा-निष्ठीवनाधिक्य, अरूचि-वमन |
| निःश्वास उच्छ्वास छींक | इ० का अवरोध। |

**प्राणे पित्तावृत्ते छर्दि दाहश्चैवोपजायते**
**दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृत्ते।**

-सु० सं० नि० १-

**मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता**
**छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्त समावृत्ते।**
**ष्ठीवनं क्षवथुदगार निश्वासोच्छ्वास संग्रहः**
**प्राणे कफावृत्ते रूपाण्यरूचिश्छर्दिरिव च।**

-च० सं० चि० २८-

**पित्तावृत्त वात**

दाह-सन्ताप-मूर्च्छा

| | | |
|---|---|---|
| कटु अम्ल लवण उष्ण | सेवन से विदाह | शूल पिपासा भ्रम |

तम- शीतरुचि

**लिङ्ग पित्तावृत्ते दाहस्तृष्णा शूंल भ्रमस्तमः**

-च० सं० चि० २८

**कटुअम्ललवणोष्णेच विदाहः शीत कामिता।**

-अ० हृ० नि० १५

दाह सन्ताप मूर्च्छा; स्युर्वायौपित्ति समन्विते।

सु.सं.नि.१

२) कफावृत्त वात-

शोथ - श्रम (थकान) लंघन-रुक्षता-उष्ण पदार्थ इ. में रुचि।

अंगजाडय-शैत्यामास

कट्ट-तिक<br>कषाय-उष्णादि से } उपशय

शैत्य गौरव शूलानिकटवाद्युपशयोऽधिकम्।

च.सं.चि.०२८

लंघ्नायास रुक्षोष्ण कामिता च कफावृत्ते।

अ.ड.नि. १५

शैत्य शेफ गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृत्ते।

सु.सं.नि-१

३) रक्तावृत्त वात

प्रसुप्ति सूचिभेदनवत् वेदना

स्पर्शद्विष - विविधपित्त विकार

त्वक्<br>मांस } मध्य स्थान में दाहानुभूति

सरक्तिमायुक्त<br>सशूल } शोथ

रक्तावृत्ते सदाहार्तिस्त्वड़ मांसान्तरजो भृशम्<br>भवेत् सराग: श्रवययुर्जायन्ते मण्डलानि च।

– च० सं० चि० २८

सूचिभिरिव निस्तोद: स्पर्शद्वेष: प्रसुप्तता<br>शेषा: पित्तविकारा: स्युमरूिते शोणितान्विते।

– सु०सं०नि० १

४) मांसावृत्त वात –

चिमचिमायन - शोथ

विवर्ण तथा कठिन पीडकायें

कठिनाश्च विवर्णाश्च पीडका: श्वयथुस्तथा
हर्ष: पीपिलिकानां च संचार द्रव भासते।

– च० सं० चि० २८

५) मेदावृत्त वात –

आढयवात {वातरक्त - वातबलासक (Gout)} अरुचि।

कभी यहाँ तो कभी वहाँ इस तरह का स्निग्ध चल शोफ। आढय= अमीर, आराम प्रिय। विलासी - आरामप्रिय लोगों को उनके अपरिश्रम कि कारण होनेवाला अत: आढयवात यह नाम}

चल: स्निग्धो मृदु: शीत: शोफोङ्गे श्वरुचि स्तथा
आढयवात इति ज्ञैय: स कृच्छ्रोमेदसावृत्त:।

– च०सं०वि० २८

६) अस्थ्यावृत्त वात –

उष्णेच्छा - बदन खूब रगड़ लेना, स्पर्शशून्यता - बदन खूब दबवा लेना

ऐसी तिव्र इच्छा, तोद (सूचिका भेदनवत् शूल) अंगमर्द-स्पर्शशून्यता (numbness)

स्पर्शमस्थ्यावृतेतूष्णं पीडं चामिनन्दति
संभज्यते सीदति च सूचिभिरिव तुद्यते।

– च० सं० चि० २८

सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थं अङ्गं सीदति शूल्यते।

– अ० हृ० नि० १६

७) मज्जावृत्त वात –

अङ्गविनमन (बदन झुक जाना) जृम्भा, शूल (दबाने से शूल शमन) रस्सियों से शरीर बाँधकर रखने जैसी कष्टकर अनुभूति

मज्जावृत्ते विनाम: स्याजृंभणं परिवेष्टनम्
शूलं तु पीडयमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्।

– च० सं० चि० २८

८) शुक्रावृत्त वात –

शुक्र अपतन - शुक्र सवेग पतेन (शीघ्र), गर्भाधानार्थ अयोग्य शुक्र, शुक्रचिरात् प्रसेचन

९) अन्नावृत्त वात –

भोजनोत्तर कुक्षिशूल, अन्नपचनोत्तर शूल शमन

भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शम्यत्यन्नावृत्तेऽनिले।

– च० सं० चि० २८

१०) मूत्रावृत्त वात -

बस्त्याध्मान

मूत्र अप्रवृत्ति।

मूत्र प्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृत्तेऽनिले।

– च० सं० चि०२८

११) पुरीषावृत्त वात -

संग्रथि मल - शुष्क मल, विबन्ध (constipation) अपान प्रतिलोम गति (अपान की प्राकृत गति अधोगति होती है) भोजनोत्तर आध्मान। खूब जोर लगाने पर सकष्ट मलप्रवृत्ति। घबराहट, छाती में साँस घुटने जैसी अनुभूति।

वर्चसोऽति विबन्धोंथ: स्वस्थाने परिहकृन्तति
ब्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः।
चिरात्पीड़ितमन्नेन दु:खं शुष्कं शकृत्त्यजेत
श्रोणि वंक्षण पृष्टेषु रुग्विलोमश्च मारुत:।
अस्वस्थं हृदयेश्चैव वर्चसात्वावृत्तेऽनिले।

– च० सं० चि० २८

विडावृत्ते विबन्धोऽथ: स्वस्थाने प्रकृन्तति
ब्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानहयते नरः।।
शकृत्पीडित मन्नेन दु:खं शुष्कं चिरात् सृजेत्।

– अ० हृ० नि० १६

१२) सर्वधात्वावृत्त वात -

वायु समस्त धातुओं से आवृत्त होने से श्रोणि - वंक्षण - पृष्ट स्थानों में शूल, हृत्शूल, वायु प्रतिलोम गति, अस्वास्थ्यानुभूति।

सर्वधात्वावृत्ते वायौ श्रोणि वंक्षण पृष्टरुक
विलोमोमारूतो स्वस्थं हृदयं पीड्यतेऽति च।

– अ०हृ०नि०१६

पित्तावृत्त उदान वात -

मूर्च्छा - क्लम - अङ्गसाद

उर:दाह - भ्रम

ओजोन्हास - नाभिदाह

कफावृत्त उदान -

स्वेदाभाव - रोमांचभाव

शीततानुभूति - अङ्गस्तम्भ

दौर्बल्य - गात्रगौरव

अरुचि - विवर्णता

वाणी अप्रवृत्ति

उदाने पित्त संयुक्ते मूर्च्छादाह भ्रमक्लम:
अस्वेद हर्षो मन्दोऽग्नि शीत स्तंभौ कफावृत्ते।

– च० सं० नि०१

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरस: क्लम:
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने प्ति संवृत्ते।
आवृत्ते श्लेष्मणोदाने वैवार्ण्यं वाक् स्वरग्रह:
दौर्बल्यं गुरुगात्र मरुचिश्चोप जायते।

– च० सं० चि० २८

पित्तवृत्त समान -

स्वेदाधिक्य - अरुचि

अतिउष्मानुभूति - अग्निमांद्य

अतितृषा - मूर्च्छा - दाह

कफावृत्त समान -

मल - मूत्र में श्लेष्माधिक्य

रोमांच - अस्वेद अंगातिशैथिल्य - अग्निमांद्य

समाने पित्त संयुक्ते स्वेद दाहोष्ण्य मूर्च्छनम्
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्ष: कफावृत्ते।

– सु० सं० नि० १

अति स्वेद तृषा दाहो मूर्च्छाचारुचिरेव च
पित्ता वृत्ते समानेस्यात् उपधात स्तंभोष्मण:।
अस्वेदो वह्निमांद्यं च लोमहर्ष स्तथेव च
कफावृत्ते समाने स्यात् गात्राणां चातिशीतता।

च॰स॰चि॰ २८

पित्तावृत्त अपान –

रक्तप्रदर – मूत्रामार्ग दाह – योनिदाह

गुददाह – अतिउष्मानुभूति

मलमूत्रहिरद्रता।

अपाने पित्त संयुक्ते दाहोष्ण्येस्यादसृग्दर:
अध:काय गुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृत्ते।

– सु॰ सं॰ नि॰ १

हारिद्रमूत्र वर्चस्त्वं तापश्च गुदमेद्रयो:
लिंग पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम्।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

कफावृत्त अपान –

कफयुक्त – साम – फटे हुये दूध के जैसा दुर्गंधित एवं पानी में डूब जानेवाला पुरीष।

कफप्रमेह, शरीर अधोभागस्थ गुरुतानुभूति।

भिन्नाम श्लेष्मसंसृष्ट गुरुवर्च: प्रवर्तनम्
श्लेष्मण: संवृत्तेऽपाने कफमेहस्यचागम:।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

पित्तावृत्त व्यान –

समस्त देहदाह – क्लम (fatigue)

सदाह वेदना – मलावरोध

बेचैनी से हाथ पैर झटकना

व्याने पित्तावृत्ते तु स्याद् दाह:सर्वांगं: क्लम:
गात्र विक्षेप सङ्गश्च ससन्ताप: सवेदन:।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

व्याने पित्तावृत्ते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः
गुरुणि सर्व गात्राणि स्तंभनं चास्थिपर्वणाम्।

– कृ० सं० नि० १

कफावृत्त व्यान –

देह क्रिया स्तंभ – सर्वाङ्गंजाडय अस्थियों में शूल – समस्तसन्धिशूल चलने फिरने में असमर्थता

गुरुणि सर्व गात्राणि स्तंभनं चास्थिपर्वणाम्
लिंग कफावृत्ते व्याने चेष्टास्तंभ स्तथैव च।

– सु० सं० नि० १

गुरुता सर्व गात्राणां सर्वसन्ध्यास्थिजा रूजाः
व्याने कफावृत्ते लिंग गतिसङ्ग स्तथाधिकः

– च० सं० चि० २८

कभी कभी एक ही वायु {समान वा अपान वाव्यान इ.} } कफ एवं पित्त दोनों से आवृत हो जाने के कारण } आवरण के मिश्ररूप दिखायी देते है।

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च
उपलक्ष्यं भिषग् विद्वान मिश्रमावरणं वदेत्।

– च० सं० चि० २८

वायु का परस्पर आवरण –

शरीर में स्थान के अनुसार वायु के जो पाँच प्रकार किये गये हैं उन वायुओं का परस्पर पर आवरण होकर विकृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं } इस प्रकार वायु के परस्पर आवरण के कुल = २० प्रकार।

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृति बलक्षयम्
व्याने प्राणावृते लिंगम्।
स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्त गात्रता
प्राणे व्यानावृत्ते . . . . . .।

– च० सं० चि २८

**व्यानावृत्त प्राण**

अतिस्वेद - अंगसुप्ति

रोमांच - त्वक् दोष

**प्राणावृत्त समान -**

संज्ञान्हास - मूकत्व

चेष्टा -ह्रास - गद्‌गद्वाणीत्व {स्पष्टत: न बोल पाना}

**प्राणावृत्ते समाने स्युर्जऽगद्‌गद् मूकता: ।**

**व्यानावृत्त अपान -**

पार्श्वग्रह ग्रहणी रोग

(पीठ अकड़ जाना) हृत्शूल (Angina)

आमाशय शूल

**समानेनावृत्तेऽपाने ग्रहणी पार्श्वहृद्‌गदा:**
**. . . . . शूलामामाशये ।**

– च० सं० चि० २८

**प्राणावृत्त उदान -**

शिरोग्रह - प्रतिश्याय

श्वसन कष्ट

हृतशूल - मुखशुष्कत.

**शिरोग्रह: प्रतिश्यायो नि:श्वासोच्छ्वास संग्रह:**
**हृद्रोग: मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृत्ते ।**

– च०सं०चि०२८

**उदानवृत्त प्राण –**

वल
वर्ण } का नाश
ओज
कर्म

मृत्यु ।

कर्मौजो बलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा
उदानेनावृत्ते प्राणे . . . . . . ।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

उदानावृत्त अपान –

वमन - श्वासादिरोग

ऊर्ध्वगेनावृत्तेऽपाने छर्दि श्वासादयो गदा: ।

स्युर्वाते............. । – च॰ सं॰ चि॰

अपानावृत्त उदान –

मन्दाग्नि - अतिसार

मोह (मूर्च्छा)

मोहोऽल्पोग्निरतिसार ऊर्ध्वगेऽपान सवृत्तै
वाते स्यात् . . . . . . ।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

व्यानावृत्त अपान –

वमन – आध्मान

गुल्म - शूल - उदावर्त (वायु ऊर्ध्वगामी होना)

परिकर्तिका

वम्याध्मानमुदावर्त गुल्मार्ति परिकर्तिका:
लिङ्गे व्याने वृत्तेऽपाने . . . . . . ।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

अपानावृत्त व्यान –

मल - मूत्र शुक्रादिका अतिस्राव

अपानेनावृत्ते व्याने भवदे्विण्मूत्र रेतसाम्
अति प्रवृत्ति . . . . . . . . ।

– च॰ सं॰ चि॰ २८

समानावृत्त व्यान –

मूर्च्छा - तन्द्रा - प्रलाप

बलक्षय

अगांतिशैथिल्य - अग्निक्षय, ओजोक्षय

मूर्च्छातन्द्रा प्रलापोऽङ्सादोऽग्न्योजो बलक्षयः
सामनेनावृत्ते व्याने . . . . . . . . .।

– च० सं० चि० २८

उदानावृत्त व्यान –

चेष्टानाश (अक्रियाकरत्व)

स्वेदाभाव - मन्दाग्नि

अङ्गस्तब्धता

आँखें एक जैसी बंद करते रहना

स्तब्धताऽल्पाग्निऽस्वेदुचेष्टा हानिर्निमीलिनम्
. . . . . .उदानेनावृत्ते व्याने।

– च० सं० चि० २८

अन्य प्रकार इसी तरह समझें।

इसमें महत्वपूर्ण यह सूत्र खयाल में रखना जरूरी है कि –

१) जिस का आवरण पड़ा है } उसके गुणधर्म वृद्धिगत हुये

तथा

२) जो आवृत्त हुआ है } उसके गुणधर्म दबे हुये या ह्रासमान हुये

} दिखायी देते हैं।

मागविरोधजन्य वातदुष्टिमें भी { पित्त - कफादिका आवरण होता ही है।

किन्तु वह आवरण वायु की अनुलोम गति से ही सिर्फ होता है।

अतः ऐसे समय प्रतिलोम (उल्टी) गति से ही क्यों न हो किन्तु वायु का वहन वा गति शुरू ही रहती है तथा यह वायु के मार्ग के बीच पड़ा हुआ आवरण दूर करना भी उतना कठिन नहीं होता।

**आवृत्त वात में** **वायु** { सभी बाजुओं से (दिशाओं से) आवृत होता है।, जिससे
सभी तरफ वायु के वहन मे प्रतिरोध आ जाने से सम्प्राप्ति और गंभीर हो जाती है
तथा
इसके लक्षण भी गंभीर हो होते हैं।

ऐसे स्थिति में चिकित्सा भी खूब विचार पूर्वक एंव कुशलापूर्वक करना जरूरी हो जाता है।

और इसीलिये महर्षि चरक ने आवृत्त वात की चिकित्सा स्वतंत्ररूपेण वर्णित की हुयी दिखायी देती है।

**आवरण की चिकित्सा करते समय –**

वायु का सामान्य विकीत्सा उंपक्रम तो करना ही पड़ता है लेकिन उस के साथ ही साथ

कफ वा पित्त जिसका आवरण होगा { उन्हें भी समान होगी इस तरह की वातशामक चिकित्सा करनी पड़ती है।

उदा - कफावृत्त वात स्थिति. में } कफ एवं वात को { समान साबित होगी जैसी चिकित्सा

तो पित्तावृत्त वात में } पित्त एवं वात को { समान साबित हो जैसी चिकित्सा

करनी पड़ती है।

आवरण विज्ञान से अनभिज्ञ चिकित्सक ने केवल उपस्थित लक्षणों से **(symptomatic)** केवल पित्तशामक वा कफशामक इस तरह की लाक्षणिक चिकित्सा **[Symptomatic Treatment]** करने से उपशय तो प्राप्त होता ही नहीं है उल्टे रोग लक्षणें में इस गलत चिकित्सा के कारण विचारणीय वृद्धि हो जाती है तथा रूग्ण की स्थिति अकारण गंभीर कर दी जाती है।

**वायु के परस्पर आवरण –**

वायु के कुल ५ प्रकार।

प्रत्येक वायु इतर ४ वायु से आवरण

इस तरह ५ x ४ = २० प्रकार वायु के परस्पर आवरण के प्रकार हो जाते हैं।

बाह्य सृष्टि में भी कई बार हम देखते हैं कि एक तरफ से वायु की गति होने पर परस्पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से उसी समय गतिमान वायु उसपर आवरण करने लगता है तथा मूल वायु जो सब तरफ से घेर लिया गया है, गउसकी ति अवरुद्ध होकर (दबी जाकर-रोकी जाकर) उस से उस घेरे गये - दबे हुये भँवरे के जैसी चक्राकार गति प्राप्त हो जाती है।

शरीर में भी एक वायु के मार्ग में दूसरे वायुमार्ग का आवरण पड़ने से उसकी स्वयं की गति अवरुद्ध हो जाती है।

**वायु का परस्पर का आवरण क्या है?**

शरीरस्थ नाडीमण्डलीय {मज्जासंस्था- **nervous system** } विभिन्न अवयव प्राण इ. विभिन्न वायु के आश्रयस्थान होते हैं ।

अत: इनमें से यदि एकाध अवयव आहत हो गया - भग्न हो गया तो उसके कारण अन्य अवयवों की 'क्रिया (वायु की क्रिया) विशेष रुपेण प्रकट हुयी (बढ़ी हुयी) दिखायी देती है।

इसी को वायु का परस्पर का आवरण समझा जा सकता है।

उदा— सुषुम्ना अनुकटिक भाग तथा वहाँ से निसृत वातवाहिनियाँ **(Spinal nerves)** } यह आयुर्वेदोक्त अपान वायु का स्थान होता है।

जिसका कार्य →

मल, मूत्र, शुक्र, आर्तव, गर्भ } इ. की अनैच्छिक प्रवृत्त करना होता है।

व्यानवायु वा मस्तिष्क-सौषुम्निक तंत्र **(Cerebro-spinal-system)** } यह ऐच्छिक प्रवृत्तियों को का जनक होता है।

और इसीलिये

वह अपानवायु का नियामक होता है।

इसी के कारण मनुष्य अपनी इच्छानुसार (असुविधाजनक स्थिति में) मल-मूत्रादि वेगों का अवरोध (कुछ देर के लिये) कर सकता है। किन्तु यह तो निरोगी अवस्था की स्थिति

होती है।

व्यानुवायु - मस्तिष्क - सुषुम्ना - एवं उनसे निःसृतनाडीसूत्र :-

| | | |
|---|---|---|
| ये यदि आघात<br>(severe Trauma)<br>तीव्रज्वर(Hyperpyrexia)<br>सन्यास(coma) | इ. के<br>कारण<br>यदि रुग्ण<br>हो गये तो | मल-मूत्र<br>शुक्रादि<br>जैसे-जैसे शरीर में निर्मित होते<br>जाते है वैसे-वैसे उनकी अनैच्छिक<br>प्रवृति (Involuntary) वा<br>अनजाने में प्रवृति (unknowingly)<br>भी शुरू रहती है {निरोगी स्थिति<br>में जैसे मल मूत्रादि का अवरोध<br>किया जा सकता है वैसा इस स्थिति<br>में नहीं किया जा सकता।} |

इसे ही आयुर्वेद ने - अपानावृत व्यान कहा है।

– कायचिकित्सा-आचार्य रामरक्ष पाठक

| | | |
|---|---|---|
| आवरण विज्ञान के | | |
| अज्ञान के कारण | हृद्रोग | अतिसार |
| आवरण की उपेक्षा | विद्रधि | गुल्म |
| कर दी जाने के कारण | प्लीहावृद्धि | |

इ. उपद्रव उत्पन्न होकर एक वर्ष के काल में ये अतिकृच्छ्रसाध्य वा असाध्य बन जाते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| अतः ही रोग-विज्ञान<br>एवं<br>चिकित्सा विज्ञान | दोनों में ही | आवरण विज्ञान का<br>अद्वितिय महत्व<br>माना गया है। |

सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञातः परिसंवत्सरास्तया
उपेक्षाणादसाध्यः स्युरथवा दुरुपक्रमाः।
हृद्रोगो विद्रधि प्लीहा गुल्मोऽतिसार एव च
भवत्यु पद्रवास्तेषामाकृतानामुपेक्षणात्।।
तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योंपलक्षयेत्।

– च० सं० चि० २८
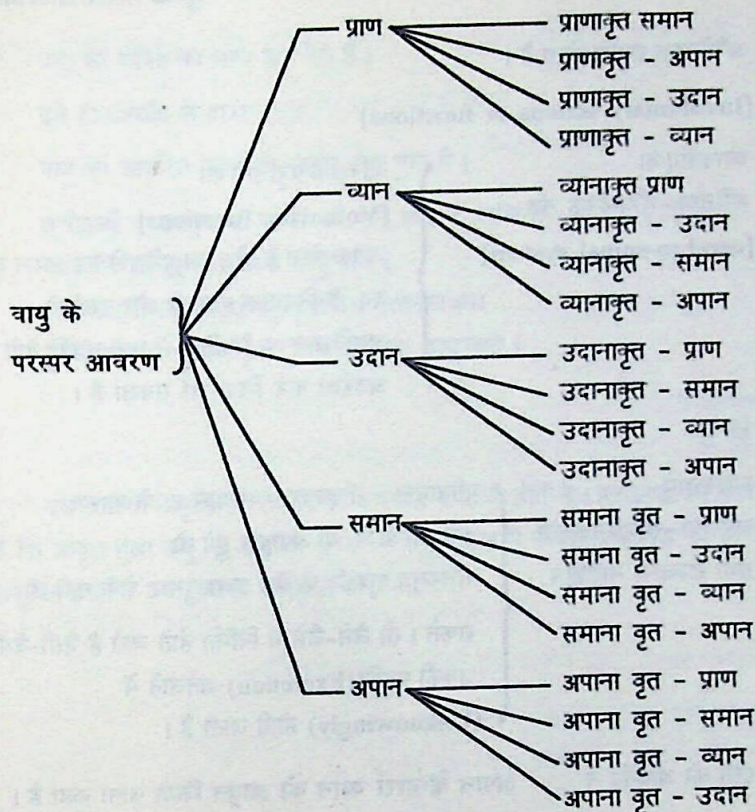
वायु का परस्पर आवरण आधुनिक क्रिया शरीर की दृष्टि से –

नाड़ी संस्था स्थित [Nervous System] विभिन्न अवयव प्राणदि वायुओं का आश्रय स्थान होते हैं।

अत: इन इन्द्रियों में से एकाध इन्द्रिय रुग्ण हो गया - आघातग्रस्त हो गया तो नाड़ीसंस्थाजन्य अन्य इन्द्रियों की क्रियावृद्धि संपादित होती हुयी दिखायी देती है।

यही आयुर्वेदोक्त परस्पर आवरण है।

उदा - सुषुम्ना अनुकटिक भाग (Spinal cord)

और वहाँ से निसृत नाड़ियाँ (Nerves)

अपान वायु का आश्रय स्थान होती है, जिसका

कार्य मल-मूत्र-शुक्र-गर्भादि की

अनैच्छिक प्रवृत्ति होता है।

[Involuntary actions or functions]

| | |
|---|---|
| व्यानवायु वा<br>मस्तिष्क-सौषुम्निक तंत्र<br>[cerebro-spinal system] | ऐच्छिक प्रवृत्तियों का<br>[Voluntary functions]<br>जनक होता है और इस दृष्टि से वह अपान वायु का भी नियामक होता है और इसलिये असुविधाजनक स्थितियों में मल-मूत्रादि वेगों का अवरोध कर लिया जा सकता है। |

किन्तु

| | |
|---|---|
| व्यान वायु<br>मस्तिष्क-सौषुम्निक तंत्र<br>तथा तज्जन्य नाड़ीसूत्र | तीव्राघात - तीव्रज्वर - संन्यास इ. के कारण रुग्णावस्था में, या अप्राकृत हुये तो मल-मूत्र शुक्रादि के वेग इच्छानुसार रोके नहीं जा सकते। तो जैसे-जैसे वे निर्मित होते जाते हैं वैसी-वैसी उनकी प्रवृत्ति(Excretion) अनजाने में (Unknowingly) होती जाती हैं। |

इसी को आयुर्वेद ने अपान के द्वारा व्यान को आवृत किया जाना कहा है।

क्रियाशरीर - वैद्य रणजितराय देसाई

**अति कष्टकर आवरण –**

| | | |
|---|---|---|
| प्राण<br>और<br>उदान<br>तथा<br>मेद | के द्वारा<br>किये गये<br>आवरण | विशेष<br>कष्टकारक<br>साबित होते हैं। |

**आवरण के कारण वायु प्रकोप क्या है?**

| | | |
|---|---|---|
| दोष-धातु-मल<br>इ.<br>वृद्ध होकर | वायु की स्वाभाविक<br>गति एवं<br>क्रियाओं में | अवरोध<br>उत्पन्न कर देते है<br>अथवा |

वायु की शक्ति को मन्द कर देते हैं।

इसे ही दोषादि के द्वारा

वायु को आवरित कर दिया जाना कहा गया है।

**तत्रोऽर्ध्वं गच्छन्नुदान: प्राणो वाऽपाने स्याधो गामिनो**
**गति निरोधं कुर्वन्नावरक इत्युच्यते।**
**अथवा द्वयोमरूतयोरभिमुखमभिस र्पतोर्बलवता**
**दुर्बलोऽभिभूत: प्रत्यावृत्त: सन् आवृत्त: इत्युच्यते।**

**– सु०सं० नि०५**
**– डल्हण**

इस अवस्था मे वृद्धिगत दोषादि की कर्मवृद्धि संपादित होती है। यह प्राय: इस कारण होता है कि आवृत्त हुआ वायु भी आवरण के कारण उसी स्थान में संचिति एवं वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकुपित होता है तथा उसकी कर्मवृद्धि हो जाती है।

❖

# वायु समस्त रोगों का कारण वायु ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वशक्तिमान

शरीरधारण कार्य
शरीरस्थ बल
शरीर का पोषण किया जाना
आयु
} यह समस्त शरीर में वायु पर ही निर्भर होता है।

समस्त विश्व में
उसी प्रकार
समस्त शरीर में
} वायु व्याप्त होता है।

वायु यह समस्त विश्व का चालक
वैसे ही वह समस्त शरीर का भी नियन्ता-प्रणेता होता है।

शरीरस्थ प्राण - यह वायु का ही क्रियाकारी रूप होता है।

वायुरायुर्वलं वायुः वायुर्धाता शरीरिणाम्
वायु र्विश्व मिंद सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः।

–च० सं० चि० २८

शक्तिसामर्थ्य
आशुकारिता
शीघ्र क्रियाकारित्व
अन्यों को प्रदूष्ट करना
स्वतंत्रतय तथा रोगोत्पत्ति
बहुरोगोत्पत्ति
} यह वायु शक्ति संपन्न स्वरूप होता है।

विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्य कोपनात्
स्वातंत्र्याद् बहुरोगत्वाद्योषाणां प्रबलोऽ निलः।

– अ० हृ०

| | |
|---|---|
| उत्साह -कार्यक्षमता<br>श्वसन-विषयग्रहणक्षमता<br>देहान्तर्गत संपन्न होने वाली क्रियायें में<br>शरीर बाह्य - चलना-लिखना-बोलना<br>इ. दृश्य क्रियायें<br>मल-मूत्रादि वेग प्रवर्तन<br>देहस्थ धातुओ की प्राकृत गति (कार्य)<br>इन्द्रियों का क्रियाकारित्व एवं विषय ग्रहण | यह समस्त शरीरस्थ<br>प्राकृत वायु के द्वारा ही<br>संपादित होता रहता है। |

इस तरह शररीस्थ प्राकृत वायु-देहधारण

तथा देहरक्षण कार्य का संपादन करता रहता है।

विश्व का प्रणेता-संचालक परमपिता परमेश्वर जिस तरह स्वयंभू है, उसी तरह वायु भी स्वयंभू ही होता है।

| | |
|---|---|
| स्वतन्त्रता<br>नित्यता<br>सर्वगामित्व<br>सर्वात्मा<br>सबके द्वारा वन्दनिय | इ. सभी<br>बातों में<br>वायु का<br>विश्व संचालक ब्रह्माजी से<br>साम्य दिखायी देता है। |

वायु स्वयं अव्यक्त अर्थात् अदृश्य (सूक्ष्म) होकर उसके कर्मों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती रहती है।

| | | |
|---|---|---|
| वायु ही | भूतों की स्थिति<br>उत्पत्ति<br>विनाश | सबके लिये<br>करणीभूत<br>होता है। |

स्वयंभूरेव भगवान वायुरित्याभिशब्दित: ।।
स्वातत्र्यात् नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोक नमस्कृता: ।
स्थित्युत्पति विनाशेषु भूतानामेष कारणम्
अव्यक्तों व्यक्तकर्मा च रुक्ष: शीतो लघुरवर: ।

- च. मं.

वायु यह विभु अर्थात् व्यापक मतलब समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतसों में पहुँचकर प्रकुपित होने पर अन्य दोषों की तुलना में अधिक प्रमाण में तथा अधिक तिव्र गति से दुष्टि एवं व्याधि की उत्पत्ति करने वाला शक्तिशाली होता है।

आशुकारी होने के कारण वायु का प्रसार एंव उसकी दृष्टि के कारण रोगकरत्व समस्त शरीर में तीव्र गति से फैलने वाला साबित होता है।

तीव्र गतिमानता के कारण स्वयं प्रकुपित हो जाने पर अन्यों को (दोष-धातु-मलादि को) आशुरूप से प्रकुपित कर शरीर में दुष्टि प्रक्रिया शीघ्र गति से सम्पादित करने वाला होता है।

यह स्वयं मात्र किसी के द्वारा भी प्रेरित नहीं होता। किन्तु यह शरीर-मनादि का प्रेरक होता है।

वायु के कारण (वायु प्रकुपित होने की स्थिति में) शरीर में उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ सर्वाधिक प्रमाण में दिखायी देती है।

| | | |
|---|---|---|
| वायु प्राकृत स्वरूपीय हो<br>या विकृत<br>अन्य दोष सम हों<br>या विषम | समस्त<br>स्थितियों में | अन्य दोष<br>धातु एवं मलादि को वायु ही<br>अभिवाहित कर {क्योंकि गति यह<br>गुण सिर्फ वात का ही} उनके कार्य<br>क्षेत्र पर अथवा<br>रोग क्षेत्र पर पहुँचाता रहता है। |

शरीरस्थ पित्त एवं श्लेष्मा स्वयं अचल एंव क्रियाहीन होते हैं। यही स्थिति शरीर में धातु एवं मलादि की भी होती है। वायु ही उन सबको यहाँ वहाँ गति करवाने वाला कारक शलिरूप होता है।

वायु यह रजगुण प्रधान होता है।

रजोगुण ही समस्त क्रियाओं का प्रवर्तक होता है।

रजोगुण ही गमनादि चेष्टाओं का कारक होता है।

**तेषां वायुर्गतिमत्वात् प्रसरण हेतुः सत्यप्यश्चैतन्ये**
**सहि रजोभूयिष्टः।**
**रजश्च प्रवर्तकं समस्त भावानाम्।**

– च० सं० सू० २१

'वातरोगधिकार' में महर्षि चरकाचार्य ने यही बात विशेष विस्तृत रूपेण कथित की हुयी दिखायी देती है–

**वातपित्त कफा दहै सर्व स्रोतोनुसारिणः**
**वायुरेवहि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्त्रत्राप्युदीरणः।**

**कुपित्तस्तौ समुद्धूय तत्र-तत्र क्षिपन् गदान**
**करोत्यावृत्त मार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयत्।**

– च० सं० वि० २८

प्रकुपित वात कफ-पित्त को बलात् उनके स्थानों से स्थान भ्रष्ट कर स्वयं के साथ अन्य स्थानों में तो जाकर उनका **स्थानसंश्रय** संपादित करता है।

उस स्थान में पहले से ही साम्यावस्थायुक्त (विषमता न होनेवाला) दोष रहा तो भी वायु के द्वारा बलात् लाये गये इस (देशान्तरित) दोष के कारण उस स्थान में उस दोष के प्रमाण में वृद्धि होकर तथा प्रकोप होकर उसके अनुसार रोगोत्पत्ति हो जाती है।

दोषों की तरह रसादि धातुओं को भी यह प्रकुपित वायु अपने साथ यहाँ वहाँ ले जाता है तथा स्वयं के रूक्ष-लघु गुणों के कारण उन्हें रुक्षणता-क्षीणता प्रदान करता है। इस प्रकार प्रकुपित वायु–

| | | |
|---|---|---|
| सम वा विषम<br>अैसे शेष दोष<br>धातु मलों को | उनके अपने<br>स्थान में न<br>रहने देकर | अथवा यदि वे<br>मलस्वरूप हों तो भी<br>उन्हें उनके उत्सर्जन द्वारों से<br>बाहर न जाने देकर<br>अपने साथ शरीर में घुमाता है। |

उसी तरह से यह भी महत्वपूर्ण है कि शरीर में अन्य दोष-धातु-मलों का प्राकृत वा सम प्रमाण रहने के लिये भी शरीरस्थ वायु दोष ही करणीभूत होता है।

रसादि प्रसादभूत धातुओं का पोष्य धातुओं की तरफ गमन तथा पुरीषादि मलों का उनके द्वारों में से उत्सर्जन होना यह भी वायु का ही-प्राकृत कर्म होता है।

तीनों भी दोषों के प्रकोपण के लिये शरीरस्थ वायु ही करणीभूत होता है।

**दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।**
**तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः।**

– सु० सं० चि० ३५

वायु की शक्ति एवं कारकत्व अकल्पनीय। वह दोषों का अधिनायक (leader) तथा रोगसमूह का राजा ही होता है।

**अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्।**

– सु० सं० नि० १

वायु के उत्पन्न स्वतंत्र (नानात्मज) व्याधियों की संख्या सबसे ज्यादा दिखायी देती है।

शेष दोष-मलादि के संचय

| | |
|---|---|
| वृद्धि<br>प्रकोपण<br>तथा उसके कारण<br>उत्पन्न रोगों के लिये | वायु ही<br>जिम्मेदार होता है। |

वायु सम व प्राकृत स्थिति में जब शरीर में होता है तो वह शरीरस्थ जाठराग्नि को भी सम वा प्राकृत रखने का अति महत्वपूर्ण कार्य करता है। इसीलिए 'वातकलाकलीय' अध्याय में महर्षि चरक ने 'वायु को अग्नि को प्रदीप रखनेवाला' कहा है।

(वायु:) समीरणोऽग्ने:।

– च० सं० सू० १२

शरीर में समस्त रोगों का मूल अग्निमांद्य को ही माना गया है।

रोगा: सर्वेऽणिमन्देऽग्नौ।

अत: इस प्रकार अग्निमांद्योत्पन्न रोगोत्पत्ति के लिये वायु ही कारणीभूत माना जाता है।

{क्योंकि शरीर में जब तक वायु सम वा प्राकृत होता है तब तक वह जाठरग्नि को प्रदीप्त बनाये रखता है।}

आचार्य सुश्रुत के अनुसार –

प्राकृत वायु दोष-दोष-धातु-अग्नि को सम रखनेवाला।

मन सहित इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सम्यक् ग्रहण करवाने वाला। कर्मेन्द्रियों के द्वारा प्राकृत (अविकृत) क्रियाओं का कारक होता है।

**दोषधात्वग्नि समतां सम्प्राप्तिं विषयेषु च**
**क्रियाणामनुलोम्यं च करोत्यऽकुपितोऽनिल;।**

– सु० सं० नि० १

**विभिन्न मानस रोगों का मूल-वायु –**

मन पर वायु का नियन्त्रण होता है। वायु ही समस्त क्रियाओं का प्रवर्तक होता है।

अनभिष्ट विषयों की तरफ आकृष्ट होने वाले मन को वायु ही नियंत्रित करता है।

उसी तरह मन को अभिष्ट (योग्य-शुभ) विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाला भी मन ही होता है।

शब्द-स्पर्शादि इन्द्रियों के विषयों का वहन वायु के ही मार्फत सम्पादित होता रहता है।

कर्मेन्द्रियों की कर्मशक्ति का प्रवर्तक भी शरीर में यह वायु ही होता है।

हर्ष–उत्साहादि मनोभावों का कारक भी वायु ही होता है।

अत: ही वायु के अप्राकृत वा विषम हो जाने से –

| | |
|---|---|
| कर्मेन्द्रियाँ<br>उत्साह-हर्षादि<br>मन<br>दोष<br>धातु<br>मल | इ. सभी की प्राकृत स्थिति को तथा<br>उनके प्राकृत कर्मों को<br>आघात<br>प्राप्त होता है। |

मन का नियन्ता-प्रणेता होने के कारण समस्त मानसिक रोगों के लिये वायु ही कारणीभूत होता है।

**(वायु:) प्रवर्तक चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनस:,**
**सर्वेन्द्रियाणामुद्योजक: क:, सर्वेन्द्रियार्थानामभि वोढ़ा**
**. . . . . . प्रवर्तको वाचा प्रकृति: शब्द स्पर्शयो:,**
**श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनि: ।**

– च॰ सं॰ सू॰ १२

**दोषधात्वग्नि समतां संप्राप्ति विषयेषु च**
**क्रियाणामनुलोम्यं च करोत्यऽकुपितोनिल: ।**

– सु॰ सु॰ नि॰ १

**विभिन्न मानस रोगों का मूल वायु–**

वायु का मनपर नियंत्रण होता है। वही समस्त क्रियाओं का प्रवर्तक होता है। वायु ही मन को अनभिष्ट अर्थात् हानिकर विषयों की और जाने से परावृत्त करता है। अभिष्ट वा शुभ विषयों की ओर ही वायु मन को सदा प्रवृत्त करता रहता है। इन्द्रियों के विषयों का अभिवहन का कार्य वायु के ही द्वारा संपन्न होता रहता है। वायु ही इंद्रियों की कर्मशक्ति का कारक होता है।

समस्त मानस रोगों के लिये भी कारणीभूत वायु ही होता है। यही वायु मन का नियन्ता प्रणेता होता है।

**(वायु:) प्रवर्तक चेष्टाना मुच्चवचानां नियन्ता प्रणेताच**
**मनस:, सर्वेन्द्रियाणां उद्योजक:, सर्वेन्द्रियार्थानां**
**अभिवोढा . . . . . . प्रर्वतको वाचा प्रकृति: शब्द स्पर्शयों:**

**श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहर्योनिः ।**

**– च० सं० सू० १२**

शरीरेन्द्रियों का स्वामी मन तथा मन का स्वामी वायु होता है और इसीलिये मनों रोगों में वात चिकित्सा को विशेष महत्व दिया गया दिखायी देता है।

वायु स्वयं योगवाही होता है। अतः पित्त से संयुक्त होने पर वह उष्ण तो कफ से संयुक्त होने पर वह शीत गुणीय बन जाता है।

**योगवहः परं वाय संयोगवात् उभयार्थकृत्**
**दाहकृत तैजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ।**

**– च० सं० वि० ३**

वायु की दृष्टि न हो पाये इसलिये विशेष दक्षता रखना अनिवार्य होता है क्योंकि वायु की ही प्रदुष्टि होने के कारण शरीर की ज्यादा से ज्यादा हानि संभव हो जाती है।

**भिषक पवनमति बलमति परुषमति शीघ्र कारिण–**
**मात्यधिकं चेन्नानु निशम्येत्, सहसा प्रकुपित–**
**मति प्रयतः कथग्नेऽभिरंक्षितुमभिधारयति ।**

**– च० सं ०सू०१२**

कर्मानुसार
एवं स्थान के अनुसार } (अन्य दोषों की तरह ही) वायु के पांच प्रकार किये गये है।

**आधुनिक क्रिया-शरीर की दृष्टि से –**

ये पांचों वायु समस्त वात वह संस्थानके (नाडी संस्थान – **nervous system**) विभिन्न कर्मो का (**different funcitons**) सम्पादन करते रहते हैं।

a) **Central**
b) **Peripheral**
c) **Autonomic**

I मानस व्यापार (**Mental functions**)

II इन्द्रिय व्यापार (**Functions of special senses**)

III हृत् व्यापार (**Cardiac functions**)

IV श्वसन एवं निगरण व्यापार (**Respiration and Deglutition**)

इन का सम्पादन कर्ता प्राणवायु होता है।

वाणी का प्रवर्तक – **उदान वायु**

[Regulates Speech]

पचन व्यापार प्रवर्तक - समान वायु

[Digestion)

मल पुरीष-मूत्र-रज

इ.का नि:सारक अपान वायु।

[Excretion) होता है।

शरीरस्थ समस्त चेष्टाओं का व्यान वायु

प्रवर्तक

(Vasomotor - Motor and Sensory functions)

शाखा - कोष्ठ -
मर्म सर्वाङ्ग एकाङ्गं
शरीरोर्ध्व भाग } में से किसी भी जगह उत्पन्न व्याधि के लिये वायु ही जिम्मेदार होता ह।

शरीर में उत्पन्न व्याधि } पित्त के कारण हो अथवा कफ के कारण दूषित रसादि धातुओं के कारण हो अथवा पुरीषादि मलों के कारण { समस्त रोगों का सच्चा मूल कारण तो वायु ही होता है।

क्योंकि शरीर में जितने भी मलद्रव्य होते हैं उन्हें अपने अपने विसर्जन द्वार से (Excrettary orifice) समय के समयपर विसर्जित कर उनमें प्राकृतता रखने का कार्य शरीर में यह वायु ही करता रहता है।

**समो मोक्षो गतिमताम्।**

- च० सं० सू० १८

किन्तु वायु की विषम स्थिति में } शरीर से समय के समय पर मलों का योग्य निष्कासन संपादित नहीं हो पाता।

जिससे शरीर में मलों की वृद्धि होकर तज्जन्य व्याधि उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार जो व्यधियाँ अन्य मलों के प्रकोपण से (अन्य दोष) उत्पन्न हुयी दिखायी देती है; उन्का भी मूल कारण वास्तव में वायु ही होता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रकुपित कफ-पित्त का | दूष्यों से {धातु-उपधातु-मलों से} | संयोग करवाने का कार्य | वायु ही करवाता है |

जिससे दोष-दुष्य संमूर्च्छना सम्पादित होती है (रोगपूर्वरूप)

| | |
|---|---|
| यही वायु प्राकृत वा अदृष्ट स्थिति में | दोषों को - दूष्यों से दूर रखता है। इस कारण रसादि दूष्यों से प्रकुपित दोष का संयोग नहीं हो पाना |

तथा

दोष-द्रव्य संमूर्च्छना सम्पादित नहीं हो पाती।

| | | |
|---|---|---|
| प्रकुपित वात के रूक्ष गुणधिक्य के कारण | I | याकृत पित्त में शुष्कता उत्पन्न होकर याकृत पित्त नलिका में तीव्र शूल(Biliary Colic) |
| | II | पुरीष में शुष्कता उत्पन्न होकर विबन्धोत्पत्ति (Consitipation) |
| | III | प्राणवह स्रोतस में [Respiratiory tract] शुष्कता उत्पन्न होकर स्थितिस्थापकता(Elasticity) का - ह्रास, जिसके कारण स्थान भङ्गुरता उत्पत्ति मूत्राशय रसायनी इ. में भङ्ग हो जाना इ. इसके कारण होता है। उसी तरह पक्षाघात (Paralyusis) भी इसी के कारण संपादित हो जाता है। |

आधुनिक क्रिया शरीर के अनुसार –

रक्त के वेगाधिक्य के कारण मस्तिष्कगत (cerabral) अमुक केशिका का (capillary) भङ्ग होना (cerebral Haemorrhage)

–यह पक्षघात का कारण निर्देशित किया है।

किन्तु स्थिति स्थापकता (लचीलापन Elasticity ) कम हुये बिना कोशिकाओं का किस तरह भङ्ग हो सकता है?

कोशिकाओं की स्थित स्थापकता कम होने का अर्थ है उनमें रुक्षता की अभिवृद्धि हो जाना।

और रुक्षता यह शरीरस्थ वायु दोष का गुणधर्म होता है - यह आयुर्वेदिक वात प्रकोप का वर्णन है।

शाखागता: कोष्ठगताश्च रोगा:

मर्मोर्ध्वसर्वामवयावाङ्गंजाश्च

ये सन्ति तेषां नहि कश्चिदन्यो
वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति।
विण्मूत्र पित्तादि मलाशयांनां विक्षेप संघात करः स यस्मात्
तस्याति वृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं बिना भेषजमस्तिकिंचित्।
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वं चिकित्सामपि बस्तिमेके।।

– च० सं० सि०

यस्माद् वायुरेव दोषमल धातूना संयोग विभागौ करोति
तेन दोष दूष्य विण्मल रूप व्याधिकरणे वायुरेव
प्रधानं भवतीति भावः।

– चक्र

वातपित्त कफादेहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः
वायुरेवहि सूक्ष्मत्वाद्द्वयोस्तत्राप्युदीरणः।
कृपितस्तो समुद्धूय तत्र-तत्र क्षिपन् गदान्
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसांदीश्चोपशोषयेत्।

– च० सं० वि० २८

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः
तस्मात् तस्याति वृद्धस्य शरीर मभिनिघ्नतः।
वायो र्विषहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋते क्रिया
पवनाविध्दतो यस्य वेला वेगमिवोदधेः।
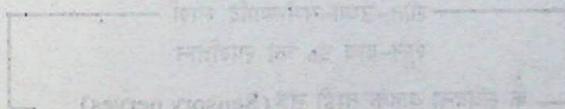
❖

# ज्ञानेन्द्रियाँ
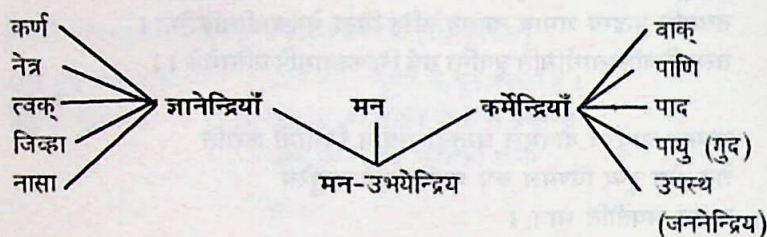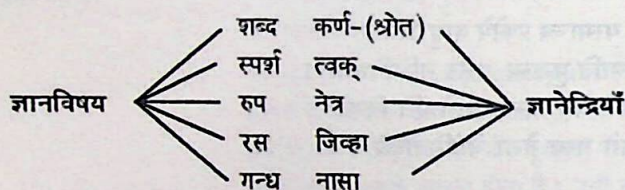
**स्पर्शज्ञान**

स्पर्श यह वायु का गुणधर्म।

वायु के कारण स्पष्ट ज्ञानानुभूति।

शीत-उष्ण-समोष्णादि स्पर्श

शूल-दाब इ० का स्पर्शज्ञान

के संवेदना वाहक नाड़ी सूत्र (Sensory nerves)
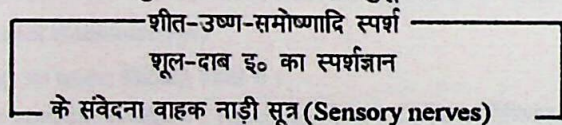
अन्त:स्त्वचा में विद्यमान।

**आधुनिक क्रिया शरीर के अनुसार**

संवेदना-नाड़ी, संज्ञा के आधीन (Nervous system)

नाड़ी सूत्र (Nerve fibres)

समस्त त्वचा में व्याप्त।

आयुर्वेद ने स्पर्शादि ज्ञान वायु के आधीन वर्णित किया हुआ।

वायु समस्त शरीर में सूक्ष्मतिसूक्ष्म प्रदेश में व्याप्त तथा वह समस्त देहचारी।

प्राचीनोक्त वायु एवं आधुनिकोक्त नाड़ी संस्था

यह एक ही मुद्रा की (Coin) दो बाजुयें कही जा सकती हैं।

**रसज्ञान**

रस-यह अपमहाभूत का गुणधर्म।

शरीरस्थ जिव्हा यह अप् इन्द्रिय।

जिव्हा (रसना) षड्रसो के ज्ञान का कारक रसेन्द्रिय।

यह इन्द्रिय सतत आर्द्र {बोधक कफ से सिक्त-अप् व्याप्त} होता है।

इस रसना के द्वारा मधुरादि रसों का ज्ञान होता है।

अर्थात् अप् वा बोधक कफ की अनुपस्थिति में रस का ज्ञान हो नहीं पाता।

{जीभ बाहर निकालकर उसे कपड़े से सुखाकर उस पर नमक-कड़वा चूर्ण-मिर्च पाऊडर इ० शुष्क पदार्थ डालकर भी किसी भी रस की अनुभूति नहीं होती किन्तु फिर उसी पर जल एक बिन्दु डालते ही अब रसज्ञानानुभूति एकदम हो जाती है।}

**बोधकों रसना स्थायी-रसबोधनात्।**

-अ०हृ०सू० ११

जिव्हा कला में बारीक-बारीक दाने उभरे हुये-यही रसाङ्कुर (Taste buds) कहलाते हैं। इन्हीं रसाङ्कुरों में, नाड़ी सूत्र {नवम शीर्षण्य नाड़ी-Nineth Cranial nerve} व्याप्त होते हैं।

जिव्हा पश्चिम भाग में ये दाने (रसांकुर) विशेष फूले हुये (सुस्पष्ट) दिखायी देते हैं। ये अँग्रेजी के V आकार में जिव्हा पश्चिम भाग में दिखाई देते हैं।

इन रसों की अनुभूति के लिये लालारस (Saliva) की उपस्थिति अनिवार्य होती है। इसे

ही आयुर्वेद ने बोधक कफ के नाम से संबोधित किया हुआ दिखाई देता है।

| | | |
|---|---|---|
| रस | मधुर | जिव्हाग्र |
| विशेष | तिक्त | जिव्हा पश्चिम स्थान |
| अनुभूति स्थान | अम्ल | जिव्हा स्थानीय दोनों पार्श्व (Sides- किनारी) |

अन्न चर्वण क्रिया में चबाया हुआ भोजन गले की तरफ तथा न चबाया गया भोजन दाँतों के नीचे ढकेलना

जिव्हेन्द्रिय अन्य कर्म
- अन्न चर्वण क्रिया में चबाया हुआ भोजन गले की तरफ तथा न चबाया गया भोजन दाँतों के नीचे ढकेलना
- अन्न निर्गलन (Deqluation) प्रक्रिया में सहयोग
- वाक् क्रिया {बोलने की क्रिया} जिव्हा के बिना असंभव होती हैं।

**गन्धज्ञान**

गन्ध यह पृथ्वी महाभूत का गुणधर्म और इसीलिये गन्धेन्द्रिय (नासा) को पार्थिविन्द्र कहा गया है।

गन्धवहन वायु के द्वारा।
वायु यह गन्धज्ञान का कारक।

{बाह्य सृष्टि में भी आने वाले हवा के झोंके के साथ दुर्गंध वा सुगंध की अनुभूति होती है।}

नासा पार्श्व भाग में ऊर्ध्वशुक्ति कला (Nasalconchae)(Turbinated bodies) आवरण कला व उसके समीपवर्ती मध्य प्राचीर(Nasalseptum) यह नासा भाग गंध के ज्ञानार्थ महत्वपूर्ण माना जाता है।

इसी भाग में घ्राण नाड़ी के प्रतान (Branches of olfactory nerve) व्याप्त होते हैं।

आचार्य सुश्रुतने ''फणा'' नाम से गन्धग्रहण स्थान का निर्देश किया है।

**घ्राण मार्ग मुभयतः श्रोतोमार्ग प्रतिबद्धं आभ्यन्तरतः फणे नाम। तत्र (विद्धस्य) गन्धाज्ञानम्।**

**-सु०सं०सू० ६**

**घ्राण मार्गमुभयतः श्रोत्रमार्ग प्रतिबद्धावभ्यन्तरतः फणौ तयोर्गन्धाज्ञानम्।**

**-अ०हृ०शा० ७**

**फणादृभयतो घ्राणमार्ग श्रोत्रपथानुगौ अन्तर्गल स्थितौ वेधा वेधाद्गन्ध विज्ञानहारिणौ।**

**-अ०हृ०शा० ४**

**घ्राणमार्ग स्योभयोः पार्श्वयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्ग प्राप्तौ-अन्तर्गत स्थितौ**

गलभ्यान्तरे स्थितौ। फणाविध संस्थानं रुपमनयो: फणावत्ति नाम।

-अरुणदत्त

प्रतिश्याम (सर्दी-जुकाम Coryza ) विकार में-

यह प्रतान शोथयुक्त कला से व्याप्त और उसके कारण गन्धज्ञान ह्रास।

**शब्दज्ञान**

शब्द यह आकाश महाभूत का गुणधर्म।

इसी दृष्टि से कर्ण को (कान) 'आकाशेन्द्रिय' कहा गया है।

शब्दवहन का कार्य वायु का {बाह्य सृष्टि में भी वात से सर्वथा हीन प्रदेश में शब्दज्ञान की अनुभूति नहीं हो पाती।}

शब्द ज्ञान में आकाश एवं वायु } महाभूत कार्यकारी रहते हैं।

(शब्देन्द्रिय) श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण) ३ भाग

- बहि:कर्ण (External ear)
  - कर्णशष्कुली (Pinna) कान का बाहर से दिखाई देन वाला भाग।
  - बाह्य कर्णगुफा [Ext. auditory meatus, कान का छिद्र ¼" लम्बाई।
  - श्रुतिपटह (कर्णपटल) (Eardrum) (Tympanic Membrane) (Myringa) कर्ण गुफा के भीतर तथा सामने की दीवार पर एक अति सूक्ष्म पतले आवरण से बना हुआ। इसी कोलगकर मध्यकर्ण होता है।
- मध्यकर्ण (Mid-ear)
  - छोटी सी अस्थिमय गुफा।
  - शख्वास्थि के एक देश में स्थित।
  - इसकी बाहरी दीवार श्रुतिपटह से बनी हुई।
  - मध्यकर्ण-एक से एक संलग्न ३ अस्थियों की श्रृंखला पत्।
    - अस्थिमुद्क [Mallus/Hammer. यह अस्थि श्रुतिपटह से संलग्न हुई रहती है (Connected)
    - अंकुशक [Incus/Anvil]
    - धरणक [Stapes/stirrup]
- आतंर कर्ण (Labyrinth)
  - (वास्तविक शब्देन्द्रिय) शब्द का ज्ञान सच्चे अर्थ में इसी भाग में होता रहता है। यहाँ स्थित श्रुति नाड़ी तंतुओं में शब्द की संवेदना पहुँचने पर मस्तिष्क को पहुँवायी जाती हे।

अस्थिमय भाग (शम्बुक) (Cochlea)

यह भाग अस्थिमय भाग में ही आकार वाला तथा (Labyrinth) अस्थिमय भाग में बैठा हुआ होता है।

आतंर कर्ण (Labyrinth)
श्रवणेन्द्रिय का सबसे भीतर वाला भाग

कलामय

अस्थिमय एवं कलायम भागों के बीच में स्थित द्रव

यही वास्तविक शब्देन्द्रिय होता है। अष्टम शीर्षण्य नाड़ी तथा श्रुतिनाड़ी के तुतु [ Eight Cranial nerve and branches of auditory nerve ] इसमें व्याप्त होते हैं।

मध्यकर्ण में ध्वनि लहर वहन कार्य — मध्यकर्ण की अंतर्गत दीवार में एक छिद्र होता है।

बाह्य कर्ण से शब्दध्वनि लहर कर्णपटल पर पटकी जाने पर कर्ण पटल से संयुक्ता–

१. अस्थिमुद्‌रक {कर्णपटल से जुड़ी हुई मध्य कर्ण की प्रथम अस्थि} उसे ग्रहण करती हैं। तथा उसी से जुड़ी हुई,

२. अंकुशक एवं

३. धरणक

अस्थियों के द्वारा उस शब्दध्वनि लहर को ग्रहण किया जाकर आगे आंतर कर्ण में शब्द लहर का वहन किया जाता हैं।

इस प्रकार शब्दध्वनि लहर के द्वारा मध्यकर्णस्थ अति हल्की सूक्ष्म तीन अस्थियों की यह श्रृंखला आंदोलित हो जाती है, और इस प्रकार शब्द ध्वनि आंतरकर्ण में पहुँचा दी जाती है।

मध्यकर्ण जीर्ण शोथ की स्थिति में (Chr. otitis media) — ये अति संवेदन क्षम-सूक्ष्म-अस्थियाँ एक दुसरी से जुड़ जाती है, और उससे शब्द ध्वनि लहर के वहन कार्य में वे अक्षम बन जाने से बधिरता (Deafness) आ जाती है।

**श्रोत्रमार्ग (Eustachain tube) पटहपूरणिका (Pharyngotympanic tube)**

नासा गल भाग से (Naso-Pharynx) एक सूक्ष्म प्रणालि (Tube) मध्य कर्ण में पहुँची हुई (लम्बाई ¼" )

इस प्रणाली में होकर वायु बाह्य कर्ण में प्रविष्ठ हो सकता है, तथा वहाँ नित्य विद्यमान रहता है।

इस प्रकार –

बाह्य कर्णगुहा से　　　　　　　　　　बाहर से हवा का दबाव

तथा नासा गल भाग में से　　　　　　भीतर से हवा का दबाव

आयी हुई प्रणालि के द्वारा

कर्णपटल पर होता है।

इसी के कारण कर्णपटल अशिथिल एवं दृढ़ रह पाता है।

गले में सूजन (गिलायु शोथ-Tonsilits)

तीव्र प्रतिश्याय (Acute coryza)

इ० के कारण

यह नासागल भाग में से ऊपर कर्ण पटल पर्यंत गई हुई प्रणालि भी शोथ युक्त हो जाती है, जिससे कर्णपटल पर अन्दर के भाग से हवा का दबाव

अब पहले जैसा रह नहीं पाता। किन्तु बाह्य कर्ण सें पूर्ववत् हवा का दबाव कर्णपटलपर होता ही है, जिससे कर्ण पटल अंदर की तरफ खिंचा हुआ सा {हवा का दबाव उधर से न होने के कारण} हो जाता है।

उस पर तनाव पड़ता है तथा वह शोथयुक्त बन जाता है।

इससे उस समय (Temporary) बधिरता भी आ जाती है।

उसी तरह कर्णपूय (पूय स्राव -(Otorr hoea ) की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है।

आंतरकर्ण में　　　　　अस्थिमय भाग के भीतर तथा

कलामय भाग के बाहरी हिस्से में {अस्थिमय और कलामय भाग के बीच में} एक प्रकाश का द्रव व्याप्त होता है।

जिसमें श्रुतिनाड़ी प्रतान व्याप्त होते हैं।

मध्यकर्ण से पहुँची हुई शब्दध्वनि लहरों के कारण यह द्रव भाग आंदोलित हो जाता है तथा वहाँ व्याप्त श्रुतिनाड़ी के प्रतान उन ध्वनि लहरों को ग्रहण कर अविलम्ब मस्तिष्क स्थित श्रुतिकेन्द्र में पहुँचा देते हैं।

और इस प्रकार शब्द ज्ञान प्राप्त होता है।

**आतंर कर्णस्थ अस्थिमय एवं कलामय भागों के तीन उपाङ्ग–**

**१. शम्बुक (Conchlea)**

यह शंखवत् आवर्तमय होता है। शब्द ग्रहण के कार्य में यह अङ्ग अति महत्वपूर्ण होता है।

श्रुतिनाड़ी के (Auditory nerve) अति संवेदनशील प्रतान इसमें व्याप्त होते हैं।

इस शंखवत् शंबूक भाग के बाहर व्याप्त द्रव — शब्द लहरों से आंदोलित होता है तथा अन्त:स्थ द्रव को भी आंदोलित कर देता है।

श्रुतिनाड़ी प्रतानों के द्वारा ऊपर निर्देश किये नुसार यह आंदोलन ग्रहण किया जाकर मस्तिष्क स्थित श्रुतिकेन्द्र में पहुँचा दिया जाता है।

२. तुम्बिका (Vestibule)

आंतर कर्णस्थ यह दूसरा उपाङ्ग होता है। इसके मध्य भाग में एक छिद्र होता है।

जिसमें मध्यकर्णस्थ अंतीम अथवा तीसरी अस्थि धरणक यह टिकी हुई होती है।

३. शुण्डिका (Semiciruculas canal)

ये तीन अर्धगोलाकार प्रणालियाँ होती है।

छिद्र के द्वारा ये तुम्बिका नामक आंतरकर्ण के दूसरे भाग से सम्बद्ध होते हैं।

शरीर सन्तुलन में शुण्डिकाओं का कार्य

इन शुण्डिकाओं में एक किस्म का द्रव व्याप्त रहता है। विविध शारीरिक चेष्टायें (Different movements or activities) की जाते समय इन शुंडिकाओं का द्रव इधर-उधर हिलता है तथा उसकी संवेदना मस्तिष्क स्थित धम्मिलक भाग में नाड़ी तंतुओं के द्वारा पहुँचा दी जाती है, जिससे शरीर को पुन: त्वरित संतुलित कर लेने की मस्तिष्क के द्वारा प्रेरणा प्राप्त हो जाती है। इससे विशिष्ट स्थान में संतुलन खोकर एकदम गिर पड़ने की क्रिया का संपादन नहीं हो पाता। शरीर को पुन: संतुलित कर लिया जाता है।

## रूपज्ञान (Vision)

शरीरस्थ नेत्र– रूपेन्द्रिय।

रूप तेज महाभूत का गुणधर्म।

नेत्रस्थ आलोचक पित्त {तेज महाभूत का अंश वा प्रतिनिधि} यह रूप ज्ञान का कारक।

नेत्रेन्द्रिय आश्रय– नेत्रगोलक (Eyeball)

बाह्यलोक प्रकाश (Light) सानिध्य में ही रूपेन्द्रिय रूपग्रहण करने में क्षम हो पाती है।

{अँधेरे में रूपग्रहण ज्ञान संभव नहीं हो पाता।}

यत्तेजो ज्योतिषां दीप्तं शारीरं प्राणिनां च यत्
संयुक्तं तैजसा तेजस्तद्धि रुपाणि पश्यति।

–च०सं०सू० ९. चक्र

शास्त्रं ज्योति: प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मन:।
ताभ्यां भिषक्सु युक्ताभ्यां चिकीत्सन्नापराध्यति।

–च०सं०सू० ९

शास्त्र शब्देन शास्त्राभ्यास कृता मतिः
स हि बाह्यलोक इव प्रकाशार्थ वस्तूनां
ग्रहणयोग्यतां कर्तुमित्यर्थः ।
दर्शनमिव दर्शनं चक्षुरिवेत्यर्थः ।

-चक्रपाणि

{जिस तरह वस्तुओं के प्रकाशनार्थ (देखने के लिये) बाह्य प्रकाश एवं नेत्रों की आवश्यकता होती है, उसी तरह रोगी परीक्षा के लिए शास्त्राभ्यास से उत्पन्न बुद्धिरूप बाह्य प्रकाश तथा बुद्धिरूप चक्षुरिन्द्रिय की जरूरत होती है ।}

नेत्रमंडल अन्दर से बाहर इस तरह के इसमें पाँच स्तर वा मण्डल होते हैं।

नेत्रमंडलस्थ पंचमण्डल (पंचस्तर):
- पक्ष्म {नित्रलोम-Eyelashe}
- वर्त्म (Eyelids)
- श्वेतमण्डल (Sclera/sclerotic coat)
- कृष्ण मण्डल [Choroid coat .
- दृष्टिमण्डल [Retina .

नेत्रगोलक इसकी रचना फोटो निकालने वाले केमरे के जैसी।

अंतिम मंडल जो दृष्टिमंडल-उस में दृष्टिनाड़ी (Optic nerve) के प्रतान व्याप्त, जिनके द्वारा वहाँ पड़े हुये प्रतिबिम्ब का वस्तुज्ञान (संवेदना)

मस्तिष्क वल्क स्थित दृष्टिकेन्द्र में (Optic centre)

पहुँचाया जाता है-और इस प्रकार रुप ज्ञान होता है।

अन्य ४ मण्डल वा स्तर

वस्तु से आये हुए प्रकाश किरण दृष्टिमंडल पर (Retina) यथास्थित (Correctly) पहुँचाने के ये केवल माध्यम मात्र होते हैं।

कैमरे में प्रकाश की किरणें वस्तु वा व्यक्ति का प्रतिबिम्ब योग्यतः पड़ सके इसके लिए वह प्लेट, जिस पर प्रतिमा वा प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह जरूरत के अनुसार आगे-पीछे खिसकायी जा सकती है।

नेत्रगोलक में मात्र प्रकाश की तिव्रता-मंदता, निकट की वस्तु-दूर की वस्तु इ० स्थिति के अनुसार–

पक्ष्म वर्त्म श्वेतमण्डल } आदि मण्डलों में होनेवाले परिवर्तनों से संकोच-विस्तार इ० (accomodation) वस्तु की प्रतिभा ठीक से दृष्टिमण्डल पर ही (कैमरे की प्लेट के अनुसार ) पड़ती है।

नेत्र गोलक विभिन्न पेशियों से आबद्ध

इन पेशियों के कारण ही नेत्रगोलक की हलचल (क्रियात्मकता) संपादित हो पाती है।

इन पेशियों के विकृति के कारण ही

विरूद्ध दिशा में } नेत्र गोलक
ऊर्ध्व दिशा में } खिसक जाता है।

जिस तरह की पेशियों का स्तंभ हो जाता है। उसी तरफ नेत्रगोलक खिंचा गया दिखाई देता है।

{अक्षिव्युदास}

वर्त्ममण्डल (Eyelids) (पलकें)

इनका अन्तर्वीर्ति भाग कला से (Conjunctives) आवृत्त रहता है।

यही कला नेत्रगोलक को सामने की तरफ से ढँकी हुई रहती है।

यह कला एवं नेत्रान्तर्गत भाग अश्रु नामक द्रव्य से हरदम आर्द्र रखा जाता है।

अश्रुओं के द्वारा ही वह भाग निरोगी एवं स्वच्छ रखा जाता रहता है।

इस कला में पाक के संपादित हो जाने से

शोथ }
नेत्रशूल } इ० लक्षण उत्पन्न।
नेत्रस्राव } (Conjunctivites)

अश्रु अश्रुग्रंथि (Lacrimal gland)

नेत्रगुहा में ऊपर वाले एवं बाह्य भाग में बादाम के आकार की।

इससे नित्य स्रावित स्राव नेत्रोन्द्रिय को आर्द रखता है।

नेत्रों में धूलि-सूक्ष्म कीटाणु इ० के प्रविष्ट हो जाने पर यह ग्रंथि उससे एकदम उत्तेजित होकर इसका स्राव बढ़ जाता है। इससे नेत्रों में प्रविष्ट वह धूलि कणादि नेत्रों से बाहर फेंक दिया जाता है, और इस तरह नेत्र स्वच्छ एवं निरापद रखने का इसके द्वारा कार्य किया जाता है।

कनीनक स्थान में नेत्र का नाक की तरफ का कोण-एक छिद्र।

यही अश्रु द्वार

अश्रुकुंभिका (Lacrimal gland) से एक कुल्या के द्वारा अश्रु नासा भाग में भी प्रविष्ट

हो जाते हैं। इस अश्रुकुल्या के द्वारा नेत्रों का नासा इंद्रियों से संबंध और इसीलिये यदि एक की रुग्ण स्थिति हो गई तो दूसरे पर उसका परिणाम दिखाई देता हैं

अश्रु उत्तम जीवाणुहर।

इनके अभाव में रोगाणु संक्रमण शीघ्र गति से संभव।

अश्रु व्यतिरिक्त नेत्र में एक प्रकार का **पिच्छिल स्राव मञ्जरी ग्रंथि (Meibomian gland)** में से होता रहता है।

यह मञ्जरी ग्रंथि नेत्रपलक पार्श्व में स्थित होती है।

इसका स्राव बढ़ जाने पर–

अपाङ्ग एवं कनीनक {नेत्रों के दो कोण} स्थानों में यह स्राव इकट्ठा हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। (आँखों में कीचड़)

**शुक्ल मण्डल (Sclera/Sclerotic coat)**

नेत्र गोलक के समस्त मंडल में यह स्थूल एवं दृढ़। नेत्र में जो श्वेत भाग दिखाई देता है वह यही होता है।

इसका आगे का १/६ भाग ही स्वच्छ मंडल कहलाता है।

इसके पार्श्व भाग में स्थित छिद्र से–

दृष्टिनाड़ी (Optic nerve) तथा

रक्तवाहिकायें Blood vessels , प्रविष्ट होती हैं।

**स्वच्छ मण्डल (Cornea)**

शुक्ल मण्डल का आगे का १/६ भाग ही यह स्वच्छ मण्डल होता है।

नेत्रगोलक के आगे वाला फूला हुआ हिस्सा।

यह पारदर्शक (Transparant) होता है।

इसके पार्श्व में स्थित कृष्ण–तारामंडल के रंग के जैसा ही {कुछ लोगों में काला कुछ लोगों में बिल्ली की आँखों जैसा भूरा इ०}

इसका रंग दिखाई देता हैं।

{इसको स्वयं का कोई रंग न होने के कारण} चारों तरफ से यह शुक्लमंडल से संयुक्त होता है।

इसमें रक्तवाहनियों का सर्वथा अभाव होता है। अत: इस भाग में चिरा (incision) देने पर भी कोई भी रक्तस्राव नहीं हुआ दिखाई देता है।

इस भाग का पोषण रसायनियों के द्वारा किया जाता रहता है।

**कृष्ण मण्डल (Choroid coat)**

यह शुक्ल मंडल के अंतर्भाग में स्थित।

यहाँ रक्तवाहिनियों का गहरा जाल फैला होता है।

कृष्ण रंजक द्रव्य के कारण (Pigment) इसका रंग काला।

इसी का अग्रवर्ति विस्तार तारामण्डल (Iris) कहलाता है।

स्वच्छ मंडल का रंग इसके रंग के अनुसार ही काला या बिल्ली की आँखों जैसा चमकीला भूरा दिखाई देता है।

इसके मध्यभाग में एक छिद्र जिसे कनीनिका वा पुतली (Pupil) कहा जाता है।

**तारामण्डल**
यह दो प्रकार के मांससूत्रों से वेष्टित

**१. गोलाकार वेष्टित मांससूत्र**
जिनके कारण आवश्यक्तानुरूप पुतली संकोच सम्पादित हो पाता है। {अति निकटस्थ वस्तुयें देखते समय अथवा तीव्र प्रकाश में देखते समय}

**२. किरणवत् मांससूत्र**
जिनके कारण आवश्यकता नुसारं पुतली विस्तार {विस्फार Dilatation} संपादित हो पाता है। {खूब दूर की चीजें देखते समय अथवा अति मन्द प्रकाश में देखते समय} पुतली संकोच वा पुतली विस्तार कर्म स्वतंत्र नाड़ी संस्था के अंतर्गत संपादित होता है।

**नेत्रमणि (Lens)**

नेत्र की तुलना केमरे से की जाती है। केमरे में जैसे लेन्स होता हे। उसी तरह नेत्र में यह नेत्रमणि होता है।

यह पारदर्शक तथा उभयउन्नतोदर होता है।

यह तारामण्डल से संयुक्त होता है।

केमरे में जिस तरह लेंस में से प्लेट पर प्रतिमा पड़ती है।

उसी तरह नेत्र में इस मणि से दृष्टिपटल पर प्रतिमा पड़ती है।

दूर की एवं नजदीक की वस्तुओं की प्रतिमा ठीक से दृष्टिपटल पर ही पड़ सके। इसलिये इस मणिका वर्तुलाकार उसके अनुसार आकुंचित-प्रसारित होता रहता है।

प्याज में जिस तरह एकपर एक अनेकानेक आवरण ही दिखायी देते हैं उसी तरह की रचना इस नेत्रमणि की होती है।

बुढ़ापे में यह मणि पक्व एवं उत्तरोत्तर अपारदर्शक होता जाता है, जिससे दिखायी देना बंद हो जाता है-

इसे ही लिङ्गनाश-तिमिर-मोतिबिन्दु (Catract) कहा जाता है।

ऐसी स्थिति में आधुनिक वैद्यक में शस्त्रचिकीत्सा से यह मणि निकाल देते हैं तथा उसके स्थान पर उपयुक्त लेंस का प्रयोग कर वह व्यङ्ग दूर कर दिया जाता है।

प्राचनी काल में इस मणि को बाहर न निकालते हुए भीतर ढकेल दिया जाता था।

**सन्धानमण्डल(Ciliary body)**

स्वच्छमंडल एवं कृष्णमंडल इनके सन्धान कारक मांस सूत्र।

एक अलग बन्धन से नेत्रमणि स्वस्थान में स्थित होता है तथा इस सन्धान मंडल से संबद्ध होता है।

सन्धान मण्डल के संकुचित होने से मणिबन्धन भी शिथिल हो जाते हैं।

इससे स्थितिस्थापक (Elastic) मणि की स्थिति स्थूल वा अधिक उन्नतोदर हो जाती है।

{नजदिक की वस्तुयें देखते समय ऐसा होता है।}

**दृष्टिमंडल(Retina)**

कृष्ण मंडल के भीतर स्थित-अति महीन एवं अति संवेदन क्षम कला।

इसी जगह पर वस्तु से आयी हुयी प्रकाश किरणों को ग्रहण कर लिया जाता है।

यह भाग दृष्टिनाड़ी प्रतानों से ही बना हुआ होता है।

यह भाग १० स्तरों से बना हुआ होता है।

इनमें से नीचे से ऊपर वाला नौवाँ स्तर अति महत्वपूर्ण होता है। इसमें

दो प्रकार के नाड़ी कोष होते हैं-

| १. | | २. |
|---|---|---|
| **शलाका (Rods)** | | **शंकु (Cones)** |
| शलाकाओं के मध्य | [इनके आकार | इनके मध्य |
| **Rhodopsin** | के अनुसार इन्हें | **Iodopsin** |
| अथवा | शलाका एवं शंकु ये नाम | अथवा |
| **Visual Purple** | दिये गये है।] | **Visual violet** |
| नामक रंजक द्रव्य | | नामक रंजक द्रव्य |

**वस्तु दर्शन करते समय-**

वस्तु से आने वाले प्रकाशकिरण इस **Rhodopsin** पर पड़ते हैं जिससे वह पीतवर्ण बनकर दृष्टिनाड़ी प्रतानों को प्रभावित करते हैं, जिसके द्वारा प्रकाश संज्ञा मस्तिष्क वल्क

भागीय स्थित दृष्टि केन्द्र में (Optic centre) पहुँचकर इस तरह रूपग्रहण होता है।

शंकु भाग में (Cones)

**Iodopsin or Visual violet** नामक रंजक द्रव्य होता है। (Pignent)

वस्तु से आने वाली प्रकाश किरणों के कारण इसमें भी परिवर्तन होकर रूपग्रहण कार्य सम्पादित होता है।

शंकु भाग दिन प्रकाश में {स्पष्ट वा तेज प्रकाश} } रूप ग्रहण कार्य
शलाका भाग-क्षीण प्रकाश वा अँधेरे में } करते हैं।

यह Rhodopsin एवं Iodopsin } ही प्राचीनोक्त आलोचक कपित्त होगा ऐसा लगता है।

दर्शन केन्द्र

पुतली (Pupil) के बिल्कुल सामने तथा दृष्टिमंडल मध्य स्थान में १ मि. मि. आकार का पीत बिन्दू। (Yellow point, Maculla Luten) इसके मध्य भाग में एक खात (notch.) स्थित होता है।

इसी स्थान में दृष्टि तीव्रतम स्वरूपीय होती है।

हर समय नेत्र हिलाने पड़ते हैं। उसका उद्येश्य यही कि प्रतिमा बिल्कुल इसी स्थान पर पड़े।

अन्ध बिन्दू (Blind spot)

पीत बिन्दु से ३ मि. मि. भीतर के भाग में

दृष्टिनाड़ी निर्गम स्थान

इसे ही सितस्थान (श्वेत बिन्दु) अथवा अन्धु बिन्दु कहते हैं।

क्योंकि इस भाग में दृष्टिशक्ति नाम मात्र भी नहीं होती।

## इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना

ग्रीवा भाग से आरंभ होकर मेरूवंश अथवा पृष्टवंश में (Vertebral column) गयी हुई तीन नाड़ियाँ।

बीच वाली नाड़ी सुषुम्ना

सुषुम्ना की बायीं तरफ इड़ा } इन्हें ही चन्द्र एवं सूरज
सुषुम्ना की दाहिनी तरफ पिङ्गला } ये नाम दिये दिखाई देते हैं।

सुषुम्ना का आकार-

स्त्रियों की चोटी के गुच्छ के जैसा वा लतागुच्छवत् होता है।

सुषुम्ना में से अनेक उपनाड़ियाँ (Branches, Spinal nerves) निसृत हुई रहती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| षट्कमल (षट् चक्र) | सुषुम्ना नाड़ी की शाखायें समस्त चक्रों में से गयी हुई हैं | मूलाधार चक्र<br>स्वाधिष्ठान चक्र<br>मणिपुर चक्र<br>अनाहत चक्र<br>विशुद्ध चक्र<br>आज्ञा चक्र | इन सबका अधिष्ठाता सहस्रार चक्र [ मस्तिष्क Brain ] |
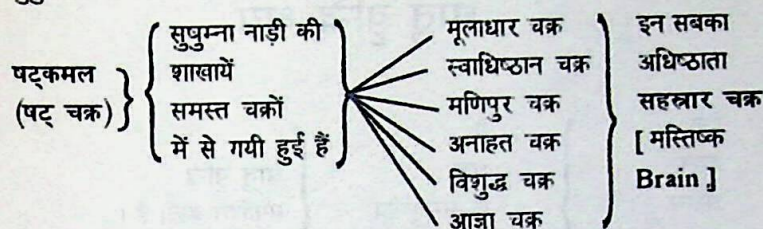
हजारों वर्ष पूर्व तन्त्रग्रंथों में किया हुआ इन षट्चक्रों का वर्णन उपलब्ध होता है। आयुर्वेद में इनका वर्णन किया हुआ कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

आधुनिक क्रियाशारीर के अनुसार

| | | |
|---|---|---|
| सुषुम्ना (Spinal cord) | यह मस्तिष्क का ही (Brain) | पृष्टगत विस्तार होता है। |

[The extension of the brain down wards in the medulla spinalis, more usually knwon as the spinal cord]

| | | |
|---|---|---|
| इड़ा-पिङ्गला एवं षट्चक्र स्थिति | मस्तिष्क से अंशतः स्वतंत्र होने पर भी | उनका नियामक केन्द्र तो मस्तिष्क (Brain) ही होता है। |

यह नियामक केन्द्र अर्थात् मस्तिष्क स्थित आज्ञाकन्द [ Thalamus ] होता है।

[from the controlling centre in the Thalamus it's fibres are distributed to the various viscera, glands, blood vessels and plain muscles.]

❖

# धातु वृद्धि क्षय

| | | |
|---|---|---|
| देश<br>काल<br>आहार<br>द्रव्य (औपधि)<br>विहार | ये<br>धातु<br>के समगुणीय<br>होने पर | धातु वृद्धि<br>संपादित होती है। |

ये यदि धातु के विपरीत गुणीय तो–

धातुक्षय

| | | | |
|---|---|---|---|
| एक धातु की<br>वृद्धि<br>सम्पादित<br>करने वाले | देश<br>काल<br>आहार<br>विहार इ० | तत् विपरीत गुणीय<br>दोष-धातु<br>इ०का | क्षय<br>सम्पादित<br>करते हैं। |

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्
ह्रास हेतु विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु।

–च०सं०सू० १

जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देह हेतवः
हेतुसाम्यात् समः....।

–च०सं०सू० १६

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैः विपर्ययः।

–अ०हृ०सू० १

स्वस्थान 'पक्वाशय मध्य' में पाचक पित्त स्थानीय जाठराग्नि के ही अंश-धातुओं में धात्वाग्नि के रुप में स्थित होते हैं।

धातु वृद्धि-क्षयार्थ धात्वग्नि की मंदता वा दीप्तता कारणीभूत होती है, तद्वत ही पूर्वधातु की यदि वृद्धि हो गयी तो उससे उत्तर धातु की वृद्धि तो इसके विपरीत पूर्वधातु के क्षय की स्थिति में उत्तर धातु का भी क्षय संपादित हो जाता है।

स्वस्थानस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिर्क्षयोद्भवः।।
पूर्वो धातु परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद् विधम्।

–अ०हृ०सू० १५

पूर्वधातु वृद्धि को प्राप्त होकर पर धातु की (बाद वाले धातु की) वृद्धि करता है।

तो पर धातु की क्षीणता पूर्व धातु की क्षीणता को कारणीभूत साबित होती है।

**पूर्वोऽति वृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं मतम्।**

**-सु॰सं॰सू॰ १५**

**तेन परोऽपि वृद्धः प्रतिस्रोतः सरिद्वघः**
**स्थलाप्लावन न्यायेन पूर्वं वर्धयति तथा**
**चरोऽपि क्षीणः पूर्वं क्षपयति तथा पूर्वः**
**क्षीणः परं क्षपयति।**

**डल्हण**

| दोष-धातु मल में से | जिसका क्षय शरीर में हो जाता है | उसकी पूर्ति के लिये तद्गुणीय आहार-विहारादि की इच्छा उत्पन्न होती है। |
|---|---|---|

**दोष धातु मल क्षीणो बल क्षीणोऽपि वा नरः**

**स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति।**

**यद्यदाहार जातं तु क्षीणः प्रार्थयितो नराः**

**तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति।**

**-सु॰सं॰सू॰ १५**

किसी भी धातु के क्षय से शरीर में वात प्रकोप संपादित हो जाता है।

**वातप्रकोप के कारणों में-**

धातु-मल क्षय को अति महत्वपूर्ण कारण माना गया है।

इससे प्राकृत गुरुत्व (पुष्टि) स्निग्धता-घनता इ॰ का-ह्रास होकर तद्विपरीत रूक्षत्व-लघुत्व-सुषिरत्व (वात प्रकोप के दर्शक गुण)
इ॰ धातुओं में वा शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं।

**च॰सं॰सू॰ १२/७**

शरीर रसज होता है। वह रस धातु से ही उत्पन्न तथा पुष्ट होता रहता है। रस यह जलज अतः जलक्षय (Dehydration) में रसक्षय के लक्षण दिखाई देते हैं।

**रसक्षयात् अम्बुक्षयो भवति तेन चाम्बुक्षयेत्**
**पुरुषः पानीय प्रार्थना रुप तृष्णाया युक्तो भवति।**

और इसीलिये धातुक्षय की स्थिति में धातु के गुणों के समगुणीय उपाय योजना वा चिकीत्सा करनी होती है। तो इसके विपरीत धातु वृद्धि की स्थिति में-

धातु गुणों के विपरीत उपाय योजना करना आवश्यक हो जाता है।

प्रकोपण विपर्ययोहि धातूनां प्रशम कारणम्।

च०सं०सू० १३

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समान गुणभूयिष्टैः

वाऽत्याहार विहारैरभ्यस्यमानैः वृद्धिं प्राप्नुवन्ति,

हासं तु विपरीत गुणै र्विपरीत गुणभूयिष्ठै र्वाप्यभ्यस्यमानैः।

-च०सं०शा० ६

१) रसक्षय घट्टते सहते शब्दं नैच्चैर्द्रवति शूल्यते

हृदयं ताम्यति स्वल्व चेष्टस्यापि रसक्षये।

-च०सं०सू० १७

| ग्लानि | तृषा | मुखशोष | हृत्स्पंदन |
|---|---|---|---|
| | हृद्रव | हृत्शूल | क्लम |

हृदय सूख जाने जैसी कष्टकर अनुभूति, शब्दासहिष्णुता

{जोर की आवाज सुनने पर कलेजे की धड़कन बढ़कर जी घबराने लगना।},

हृत्शून्यतानुभूति, देहरौक्ष्यतानुभूति,

रस के उपधातु स्तन्य एवं रज इनका भी क्षय।

अतः योग्य आर्तव काल में आर्तव अप्रवृत्ति वा अल्प्रवृत्ति, योनिशूल।

रसक्षये हृत्पीड़ा कंप शून्यता स्तृषा च।

-सु०सं०सू० १५

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिशब्दासहिष्णुता।

-अ०हृ०सू० ११

रस का स्थान-हृदय

अतः रस क्षय में हृत संबंधित लक्षणों की बहुलता दिखाई देती है।

प्रीणन<br>तर्पण<br>वर्धन<br>तुष्टि<br>स्नेहन<br>जीवन<br>धारण<br>रक्तपुष्टि } इन प्राकृत रस कर्मों का { रसक्षय अवस्था में हास सम्पादित हो जाता है।

रसधातु { समस्त धातुओं का उत्पादक एवं पोषक } अतः { रसक्षय के कारण धातुओं का अपचय आरंभ।

**स रसः...कृत्स्नं शरीर महरहस्तर्पयति-वर्धयति-**
**धारयति-जीवयति-यापयति इति-चादृष्ट**
**हेतुकेन कर्मणा। ...स खलु... स्नेहन जीवन तर्पण**
**धारणादिभिः विशेषैः सौम्य इति।**

-सु॰सं॰सू॰ १५

**रस निमित्त मेवहि स्थौल्यं कार्श्य च।**

-सु॰सं॰सू॰ १५

रसवृद्धि

श्लेष्मवृद्धि वत् लक्षण।

| | | |
|---|---|---|
| प्रसेक | हृल्लास | वमन |
| आलस्य | अङ्गजाडय | |
| अग्निमांद्य | शैत्य | गौरव |
| अवयव शैथिल्य | अतिनिद्रा | |
| श्वास | कास | इ॰ |

**श्लेष्मा (वृद्धौ) श्लेष्माऽग्निसदन प्रसेकालस्य गौरवं**
**श्वैत्य शैत्य श्लथांगत्वं श्वास कासाति निद्रताः।**
**रसेऽपि श्लेष्मवत्...।**

-अ॰ह॰सू॰ ११

रसेऽति वृद्धौ हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापद यति च।

-सु॰सं॰सू॰ १५

संतर्पण से रसवृद्धि संपादित होती है। तो

अपतर्पण से रसक्षय संपादित होता है।

देह कार्श्य एवं<br>देह स्थौल्य } यह रसनिमित्तक (रस संबद्ध) होता है।

इसीलिये रसवृद्धि में स्थौल्य रूपों की उत्पत्ति।

कार्य असमर्थता

श्रमश्वास (अल्प श्रमेण थकान)

रोग प्रतिकार शक्ति-ह्रास,

स्फिक्-स्तन-उदर-इनकी अतिपुष्टि के कारण चलते समय वे थुल थुल हिलते हैं।

२) रक्तक्षय

'रक्तं जीव इति स्थिति:' यह शरीर में रक्त का असाधारण महत्व।

इसीलिये रक्त क्षय के लक्षण चिन्ताजनक एवं सत्वर प्रभावी उपायों के लिये बाध्य कर देते है।

देह रौक्ष्य त्वक् पारूष्य सिरा शैथिल्य

त्वक्म्लानता अम्लरस कामित्व शीतकामित्व।

रस की ही तरह रक्त धातु पर भी शरीरस्थ समस्त धातुओं की स्थिति अवलंबित होती हैं। रक्त के द्वारा ही समस्त धातुओं को अविरत रूपेण प्रोषण प्राप्ति होती रहती है।

अत: रक्तक्षय के कारण अन्य धातुओं पर भी विपरीत परिणाम।

त्वक् पाण्डुता (Anaemia) शिरोऽभिताप

भ्रम (चक्कर-Vertigo) बाधिर्य मलस्तंभ

तिमिर (आँखों के आगे अँधेरा छा जाना)

| | | |
|---|---|---|
| वात प्रकोप | अग्निमांद्य | |
| तृष्णा | बाधिर्य | मलस्तंभ |
| हिक्का | श्वास | कास |
| आन्ध्य | मलस्तंभ | अधिमन्थ |
| एकाङ्गरोग | पाण्डु | अपतानक |

हृत्कंप (Tachycardia)

| आधुनिकों के अनुसार | रक्तचाप-ह्रास (Hupotension) | |
|---|---|---|
| आक्षेपक | | पक्षाघात (Paralysis) |
| मूर्च्छा | दाह | संज्ञानाश |
| प्रलाप | तन्द्रा | दौर्बल्य |
| तमोदर्शन | विभिन्न वात विकार | |

रक्तति क्षय के कारण– त्वरित मृत्यु।

रक्तेऽम्ल शिशिर प्रीति सिरा शैथिल्य रूक्षता:।

-अ०हृ०सू० ११

तदति प्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्य मधिमन्थ तिमिर
प्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघात मेकाङ्ग विकारं
तृष्णा दाहौ हिक्कां कासं श्वासं पांडुरोगं मरणं चापादयति।

-सु०सं०सू० १४

शोणित क्षये त्वक् पारुष्यमम्लशीत प्रार्थना सिरा शैथिल्यञ्च।

-सु०सं०सू० १५

धातुक्षये स्त्रुते रक्ते मन्द: सञ्जायते ऽनल:।
पवनश्च पर कोपं याति...।

-सु०सं०सू० १४

पुरुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षारक्त संक्षये।

-च०सं०सू० १७

रक्त के प्राकृत कर्मों का ह्रास रक्तक्षम में सम्पादित होता है।
रक्तं वर्ण प्रसादं मांस पुष्टिं जीवयति च
तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धि शोणित निमित्तै।

-सु०सं०सू० १४

तद् विशुद्धं हि रूधिरं बल वर्णसुखायुषा
युनक्ति प्राणिनं प्राण: शोणितं ह्यनुवर्त्तते।

-च०सं०सू० २४

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिररेणैव धार्यते
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थिति:।

-सु०सं०सू० १४

रक्त यह शरीर को बल-वर्ण-उत्साह-कार्य शक्ति प्रदान करने वाला होता है। रक्त यह आयु प्रदायक होता है और इसीलिये रक्त का नाश ही प्राणों का नाश कहलाता है।

इस रक्तधातु की स्थिति पर ही शरीरस्य अन्य धातुओं की योग्य-अयोग्य पुष्ट-अपुष्ट स्थिति, वृद्धि वा क्षयादि अवलंबित होता हैं

धातुनां क्षय वृद्धि शोणित निमित्ते-

आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान को भी आयुर्वेद की यह विचारधारा मान्य है।

आधुनिक क्रिया शारीरनुसार

प्रोटीन्स-कार्बोहैड्रेटस-फॅटस्-मिनरल्स-सॉल्टस् एवं जल इ० पोषक एवं उष्मा वा ऊर्जोत्पादक तत्व रक्त के मार्फत ही धातुओं को प्राप्त होते रहते हैं।

अंतर्ग्रन्थियों को (नलिका विरहित अंत:स्रावी ग्रंथियाँ Duct less Glands/ Endocrine gland ) को आवश्यक मूल द्रव्यों का प्रदाय करना-

विभिन्न शरीरवयवों को आवश्यक घटक पहुँचाना, अन्य ग्रंथियों के जीवनावश्यक समस्त स्रावों को (Harmones) समस्त शरीर में प्रसृत करना

इ० कार्यों का सम्पादन रक्त अव्याहत रूपेण करता रहता है।

शरीरस्थ पाचकाङ्गों को क्रियारत रहने के लिए उन्हें अबाधरूपेण रक्त प्रदाय होता रहना अनिवार्य ही होता हैं।

याकृत पित्त निर्माण कार्य रक्त के मार्फत ही होता रहता हैं तथा उस पित्त की कार्य संपन्नता भी रक्त के ऊपर ही अवलंबित होती है।

रूधिर प्रत्येक शरीर घटक को-

ओषजन (O2) अव्याहत रूपेण प्रदान करता रहता है। इसके द्वारा ऊष्मा ऊर्जादि संजनन शरीर में होता रहता है।

तद्वत ही धातुपाकजन्य मलों को (युरिया-युरिक ॲसिड इ०) एकत्रित कर उन संबद्ध इन्द्रियों को पहुँचाकर उन मलों के शरीर के बाहर निष्कासन की (Excretion) व्यवस्था रक्त ही करता रहता हैं

रक्तस्थ क्षात्रकण (WBC), रोगाणु तथा तज्जन्य विष (Toxins) इनका ग्रास बनाकर रोग संक्रमण से शरीर की रक्षा करते हैं। {और इसीलिये रोगाणु एवं रोग विष प्रबल होने की स्थिति में रक्त में क्षात्रकणों की अतिवृद्धि हो जाती है।}

रक्त के इस तरह की शरीर में अति महत्वपूर्ण स्थिति के कारण - 'रक्तं जीव इति स्थिति:' यह सूत्रमय कथन इस बाबत आयुर्वेद ने किया हुआ दिखाई देता है।

इसके कारण रक्तक्षय अर्थात् शरीर की समस्त कार्य पद्धति ही अस्तव्यस्त हो जाना साबित

होता है।

अत: रक्तक्षय के ऊपर अति प्रभावी तुरन्त प्रभावकारी उपाय अनिवार्य हो जाते हैं

कभी-कभी रक्तदान की (**Blood Transfusion**) त्वरित व्यवस्था यदि न की गयी तो रुग्ण के उस अति रक्तक्षय के कारण प्राण भी चले जा सकते है।

रक्तवृद्धि

सिरापूर्णता {रक्त से पूर्ण भरी हुई होने के कारण फूली हुयी होती है।}

{आधुनिकों के अनुसार रक्त चापवृद्धि-व्यान चापवृद्धि-**Hypertension**}

नेत्रारक्तता, त्वक्रक्तिमायुक्तता, रक्तवृद्धि।

दोष दुष्टि के कारण रक्त प्रकोपण संपादित होता है।

**रक्तं (वृद्धं) रक्तां काक्षीतां सिरापूर्णत्वं चापादयति।**

-सु०सं०सू० १५

**यस्माद् रक्तं विना दोषैर्नकदाचित् प्रकुप्यति**
**तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात्प्रकोपणे।**

-सु०सं०सू० २१

समस्त पित्त प्रकोपक हेतु ये रक्त प्रकोपकं भी होते हैं।

रक्त प्रकोपक हेतु

| | | |
|---|---|---|
| चिन्ता | भय | शोक |
| क्रोध | उपवास | श्रम |
| अतिमैथुन | अतिभय | अति मार्ग चलन |
| विषमाहार | अध्यशन | दूषितान्न सेवन |

अति गुरु
अति स्निग्ध } अति सेवन।

प्रकृति विरूद्ध सेवन — कटु, विदाही, क्षार, अम्ल } अतिसेवन

तीव्र वात
अग्नि
सूर्यातप } अति सेवन।

तीक्ष्ण
उष्ण } अति सेवन।
अतिद्रव

| | | | |
|---|---|---|---|
| पित्त प्रकोपक | पिण्याक (खली) | तिल तैल | अति सेवन |
| आहार विहारादि | सरसों (राई) | दही-शुक्त | |
| सेवन | सौविरक | कुर्चिका | |
| | तीक्ष्ण मद्य | | |

अम्ल फल गोधा मछली
बकरा-भेड़ इ० के मांस का अति सेवन।

भोजनोत्तर दिवाशयन, वमनादि, वेगधारण, शरदऋतु, रक्त मोक्षण अयोगा

-सु०सं सू० २१/११

-सु०सं०सू० २१/२५

-च०सं०सू० २४

**रक्त प्रकोपण जन्य व्याधियाँ–**

मुखपाक (Stomatitis)

रक्तपित्त (शरीर के किसी भी भाग से रक्त स्राव होना)

त्वक्, नेत्र, मूत्र } आरक्तता { मुख, नाशा } दौर्गन्ध्य

उपकुश (मसूढ़ों का शोथ Gingivitis)

रक्त गुल्म विद्रधि (Abscess)

वातरक्त (Gout)

| | | |
|---|---|---|
| मुख | | तृष्णा |
| गुद | | अतिदौर्बल्य (Fatigue) |
| कर्ण | इ० में से | क्रोधाधिक्य |
| नासा | रक्त स्राव | स्वेद |
| रोमरन्ध्र | | कंप |
| मूत्र मार्ग | | |

स्वरभंग स्वरकंप मद

नीलिका व्यङ्ग इन्द्रलुप्त (चाई)

| | | | |
|---|---|---|---|
| रक्तार्श (Bleeding piles) | | गुद पाक | |
| प्लीहा वृद्ध | मशक | रक्तमण्डल | |
| पामा (Scabies) | दद्रु (Ring worm) | | |
| निद्राधिक्य | अम्लास्यता | लवणास्यता | |
| भुक्तान्न विदग्धता, शिर: शूल | | | |
| दाह | रक्तप्रदर | रक्तमेह (Haematturia) | |
| मेढ्रपाक | अर्बुद (Tumour) | पीप्लु | |
| कुष्ठ | तिल | चर्मदल | कोठ |
| पीडका | कंडु | व्रण | अम्लोद्गार |
| तिक्तोद्गार | अरुचि | गौरव | अग्निमांद्य |
| कामला | वैष्वर्थ | वातरक्त (Gout) | |

रक्तविकार लक्षण शमनार्थ:-

पित्त का विरेचन विरेचन उपवास

करना आवश्यक रक्तभोक्षण

इ० रुग्ण दोष

दोषवल इ० का विचार कर-करना आवश्यक।

कुर्यात् शोणित रोगेषु रक्तपित्त हरी क्रियाम्
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च।

-च०सं०सू० २४

रक्त एवं पित्त समगुणीय होने के कारण

पित्त दोष का रक्तदुष्टि पर तथा रक्त का पित्त पर परिणाम दिखाई देता है।

अत: पित्तशमन,

दुष्ट प्रकुपित्त पित्त का शोधन रक्त दुष्टि में अनिवार्य हो जाता है।

तत: शोणितजा रोगा: प्रजायन्ते पृथक् विधा:
मुख पाकोऽक्षिरागश्च पूति घ्राणास्य गन्धिता।
गुल्लोपकुश विसर्प रक्तपित्त प्रमीलिका:
विद्रधि रक्त मेहश्च प्रदरो वात शोणितम्।
वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरु गात्रता
सन्तापश्चाति दौर्बल्यमरुचि: शिरसश्च रूक्।
विदाहाश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गीरणं क्लम:

**क्रोधः प्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता ।**
**स्वेदः शरीर दौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः**
**तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चाति दशनम् ।**
**कण्डवरूः कोठ पीडकाः कुष्ठ चर्मदलादयः**
**विकारोः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ।**

–च०सं०सू० २४

**मांसक्षय**

| | | |
|---|---|---|
| शरीर में | वक्ष | इन भागों में |
| जिस-जिस | उदर | दुर्बलता |
| स्थान में मांस | स्फिक् | (आकार-हास) |
| बहुलता | पिण्डिका | उत्पन्न |
| रहती है | उरू | हो |
| उस | ग्रिवा | जाती है। |
| ग्लानि | गात्रसाद | गात्रशोथ |
| सन्धिशूल | क्लम | इन्द्रिय-शिथिलता |
| सन्धिस्फुटन | धमनिशैथिल्य | |
| देह रौक्ष्यता | | |

मांस धातु से शरीर में मेद की निर्मिति सम्पादित होती है । अतः मांस क्षय की स्थिति में मेद का भी क्षय सम्पादित होना स्वाभाविक ही है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| देह बल | | | |
| मेदोपुष्टि | इ० | मांसक्षय | |
| देहस्थ | मांस | की | क्षय |
| समस्त क्रिया | धातुओं | स्थिति में | हो जाता है। |
| देहभार | के | | |
| (Weight) | कर्मों का | | |

शरीर में ४१% प्रमाण मांस धातु का होता है।

अतः मांस क्षम की स्थिति में देह भार-हास का (Loss of weight) सम्पादित होना सर्वथः स्वाभाविक है।

| | |
|---|---|
| धमनी शैथिल्य, क्रिया-हानी<br>(Loss of activities)<br>अकर्मण्यता (क्रिया असमर्थता),<br>उत्साह हानि, सन्धिशूल | ये भी मांस क्षय की ही<br>विशेषतायें होती है। |

मांसऽक्षग्लानि गण्डस्फिक् शुष्कता सन्धिवेदना:

-अ०हृ०सू० ११

मांस क्षये स्फिगगण्डौष्ठोपस्थोरूवक्ष: कक्षापिण्डिकोदर
ग्रीवा शुष्कता रौक्ष्य तोदौ गात्राणां सदनं धमनी शैथिल्यं च।

सु०सं०सू० १५

मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदर शुष्कता।

-च०सं०सू० १७

मांस वृद्धि — नितम्ब, वक्ष, ओष्ठ, कपोल, जंघा, बाहु, पिंडिका, उदर — इन शरीरस्थ मांस बहुल स्थानों की अतिपुष्टि हो जाना।

| | | |
|---|---|---|
| अर्बुद | उपजिव्हा | अधिजिव्हा |
| कील (अर्शाङ्कुर) | अधिमांस | अलजी |
| ओष्ठ प्रकोप | मांस दौर्गन्ध्य | गलगण्ड |
| गलशालुक | उपकुश {मसूढ़े सूज जाना-उनसे रक्तस्राव-Gingivitis} | |

मांसं (अतिवृद्धिं) स्फिगगण्डौष्ठौपस्थोरू बाहुजंघासु
वृद्धिं गुरुगात्रतां चापादयति।

सु०सं०सू० १५

अधिमांसार्बुदाऽर्शोऽधिजिव्होपकुश गलशुण्डिकालजी
मांस संघातौष्ठ प्रकोप गलगण्ड-गण्डमाल
प्रभृतयो मांसदोषजा:।

-सु०सं०सू० २४

मेदक्षय

मांस क्षयोक्त लक्षण } मेदोक्षय में भी { दिखायी देते हैं।

क्योंकि पूर्व धातु मांस से परधातु मेद की उत्पत्ति शरीर में सम्पादित होती रहती है।

| | |
|---|---|
| शरीर आकार सौंदर्य<br>शरीर स्निग्धता<br>शरीर सौष्ठव | यह समस्त<br>शरीर में<br>मेद के ही आधीन। |

देहकृशता देहरौक्ष्य [ मेद स्निग्ध होता है–

क्लम (Fatigue) अत: मेदोक्षय में स्निग्धता का ह्रास हो जाता है। ]

शरीरोष्मा-ह्रास उदर तनुत्व कटिस्वाप {कमर एकदम छोटी कृश हो जाना}

सन्धिशून्यतानुभूति {संधि स्थानस्थ स्निग्धता का रखा जाना मेद धातु के आधी होता है। अत: मेद क्षय में सन्धि-स्थानीय रूक्षता के कारण-}

प्लीहावृद्धि

संधि स्फुटन [ संधियों में वेदना वा शूल ]

| | | |
|---|---|---|
| आयास (थकान)<br>संधि स्नेहन<br>शरीर स्नेहन<br>उष्मोत्पादन<br>अस्थियों में दृढ़ता उत्पत्ति<br>अवयवों को पुष्टि प्रदान करना<br>सन्धि क्रिया सौकर्य<br>(Easy joint morements) | मेद के शरीर में ये जो प्राकृत कर्म कहें जाते हैं | उन सबका मेदक्षय की स्थिति में ह्रास दिखायी देता है। |

सन्धिनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वमुदरस्य च।

-च०सं०सू० १७

मेदसि (क्षीणे) स्वपनं कटया: प्लीह्नो वृद्धि: कृशांगता।

-अ०हृ०सू० ११

मेदक्षये प्लीहाभिवृद्धि: सन्धिशून्यता रौक्ष्यं
मेदुर मांस प्रार्थना च।
(मेदस्वी प्राणियों का मांस खाने की इच्छा)

-सु०सं०सू० १५

**मेदोवृद्धि**

| | |
|---|---|
| पिण्डिका<br>स्फिक्<br>स्तन प्रदेश<br>उदर<br>जंघा | इन मेद स्थानों की अति पुष्टि<br>व उसके कारण<br>उनका सौष्ठव नष्ट होकर<br>शरीर को बेढ़ंगा आकार प्राप्त। |

| | | |
|---|---|---|
| मेदोबहुल इन्द्रियाँ | उदर<br>स्तन<br>स्फिक् | इ० अवास्तव मेद संचिति<br>के कारण चलते समय<br>थुलथुल हिलती है। |

| | | | |
|---|---|---|---|
| शरीरस्थ मेद धातु | शरीर में | उष्णता<br>एवं<br>स्निग्धता | उत्पन्न करने वाला। |

इसीलिये मेदोवृद्धि की स्थिति में–

| | |
|---|---|
| शरीर में स्निग्धतातिवृद्धि<br>उष्मा वृद्धि | उत्पन्न हो जाती है। |

| | |
|---|---|
| हृदय-फुफ्फुसादि अति<br>महत्वपूर्ण इन्द्रियों पर<br>मेद संचिति के कारण | हृत् क्रिया-ह्रास, श्वसन कष्टता, थोड़े से परिश्रमों<br>से भी–<br>साँस फूलने लगना, कास-श्वास<br>इ० उत्पन्न। |

**मेदोदुष्टिजन्य व्याधि**

| | |
|---|---|
| मेदोग्रंथि | अंत्रवृद्धि |
| अर्बुद | अतिस्थौल्य |
| अंडग्रंथि वृद्धि | गलगण्ड |
| सब प्रकार के प्रमेह | ओष्ठ प्रकोप |
| रक्तचाप वृद्धि | व्यवाय कृच्छ्रता |
| चलते समय कष्ट होना | |

रक्तप्रवाहस्थ मेद कणों की संचिति के कारण रक्त प्रवाह में अवरोध उत्पन्न, (Thrombosis)

जिससे-विभिन्न हृद्रोग रोग, प्रतिकार क्षमता हीनता।

{क्योंकि मेदोधातु व्यतिरिक्त अन्य समस्त धातु अपुष्ट ही रह जाते हैं।}

भीरूता-साहसहीनता।

मेद: (अतिवृद्धिं) स्निग्धाङ्गतामुदर पार्श्व वृद्धिं
कास श्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च।

-सु०सं०सू० १५

ग्रंथिवृद्धि गलगण्डार्वुद मेदौजोष्ठप्रकोप मधुमेहाति
स्थौल्यादि स्वेद प्रभृतयो मेदोदोषजा:।

-सु०सं०सू० १४

मांस गंडार्वुद ग्रंथि गण्डोरूदर वृद्धिताम्
कंठाधिश्वधि मांस च।
तद्वन्मेंद तथा स्मृतम्।

-अ०हृ०सू० ११

**मेदोवृद्धि के कारण**

अपरिश्रम अति आराम

दिन में पर्याप्त नींद लेना।

मेदोवृद्धि कारक समस्त द्रव्यों का भरपूर सेवन।

शोक
चिन्ता } इ० का पूर्ण अभाव।
दु:ख

मांसाहार में मेदाति सेवन, अति स्निग्ध पदार्थों का सेवन मद्यातिसेवन इ०

अव्यायामाद् दिवास्वन्पान् मेद्यानां चाति सेवनात्
मेदोवाहिनि दूष्यन्ति वारूण्याश्चाति सेवनात्।

-च०सं०वि०५

**अस्थिक्षय**

| | |
|---|---|
| अस्थितोद | सन्धि शिथिलता |
| पारूष्य | सन्धिक्रिया नष्टकरत्व |
| गात्ररौक्ष्यं | अल्पश्रमों से भी थकान |

| अस्थि के उपधातु का क्षय | दन्त क्षय<br>दन्त विकृति<br>दन्त भङ्गुरता (थोडे से आघात से दाँत टूट जाना।) |
|---|---|

| केश-लोम<br>श्मश्रु एवं<br>नखों पर | विपरीत विकृति<br>कारक परिणाम |
|---|---|

अकाल में (युवा अवस्था में ही) बाल पकना,
लोम पतन
कुनख-नखभंगुरत्व

| देहधारण<br>मज्जापुष्टि<br>शरीर क्रियाकारित्व | ये प्राकृत अस्थि के<br>कर्म | इन प्राकृत कर्मों में अस्थि<br>क्षय की स्थिति में<br>ह्रास हो जाता है। |
|---|---|---|

कारण शरीर अर्थात् अस्थियों का पंजर (**Skeleton**) ।

इसी अस्थियों के ढाँचे पर मांसादि के लेपन के कारण शरीर को मोहक आकार प्राप्त।

शरीर स्थैर्य-भारवहन क्षमता, आघात क्षमता=यह समस्त अस्थियों के कारण ही संभव।

| इसीलिये अस्थिक्षय<br>के कारण | शरीर स्थैर्य<br>देह आघात क्षमता<br>भारवहन क्षमता | इ० पर ही आघात<br>हो जाता है। |
|---|---|---|

**अस्थ्य स्थितोद: सदनं दन्त केश नखादिषु।**

-अ०हृ०सू० ११

**अस्थिक्षयेऽस्थितोदो दन्त-नख भङ्गे रौक्ष्यञ्च।**

-सु०सं०सू० १५

**केश लोम-नख-श्मश्रु द्विज (दाँत) प्रपतनं श्रम:**
**ज्ञेयमस्थिक्षये लिङ्गं सन्धिशैथिल्यमेव च।**

-च०सं०सू० १७

**अस्थिवृद्धि**

अध्यस्थि {हड्डी पर हड्डी का बढ़ना}

अस्थ्यार्बुद {अस्थि पर अर्बुद उत्पन्न होकर वह बढ़ता जाना}

अधिदन्त {दाँत पर दाँत उगना}

नखाति वृद्धि, सिर के बाल जल्दी-जल्दी खूब बढ़ना।

अस्थिभेद, अस्थिशूल

वैवर्ण्य (विवर्णता)

केश-लोम } इनके विभिन्न विकार
नख-श्मश्रु } उत्पन्न होना।

**अस्थि (अति वृद्धं) अध्यस्थीनाधि दन्तांश्च (आपादयति)।**

-सु०सं०सू० १५

**अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेद: शूलं विवर्णता**
**केश लोम नख श्मश्रु दोषाश्चास्थि प्रदोषजा:।**

-च०सं०सू० २८

**मज्जाक्षय**

भ्रम (चक्कर आना-Vertigo )

तम-तिमिर (आँखों के आगे अँधेरा छा जाना)

शुक्राल्पता {क्योंकि शुक्रोत्पत्ति शरीर में मज्जाधातु के द्वारा संपादित होती है।}

अस्थिशीर्णता {अस्थि भङ्गुरता-थोड़े से आघात से अस्थिभंग हो जाना।}

अस्थिदौर्बल्य अस्थिलाघव {अस्थि का वजन कम हो जाना।}

अस्थितोद {यह वायु का लक्षण।

मज्जाक्षय के कारण वायु का प्रकोप संपादित हुआ रहता है।

अत: उससे अस्थियों के भीतर सुई चुभोने जैसी तीव्र पीड़ा की अनुभूति होना।

मज्जा की व्याप्ति अस्थि मध्य में होती है । मज्जाक्षय की स्थिति में अस्थिस्थ स्निग्धता का ह्रास हो जाने के कारण (रूक्षता के बढ़ जाने के कारण) थोड़े से आघात से भी अस्थिभंग संपादित हो जाता है।}

पर्वभेद {अँगुलियाँ आदि अस्थि पर्व (पौर) स्थानों में भीषण शूल {वात की रूक्षता के कारण}}

मज्जा धातु का क्षय संपादित होने के पूर्व मज्जा का पूर्वधात् जो अस्थि, उस पर विपरीत उल्लेखनिय परिणाम होने लगते हैं।

उसी तरह मज्जा का पंर धातु जो शुक्र, उसमें भी मज्जा क्षय की स्थिति में क्षीणता उत्पन्न हो जाती है।

इसी कारण से भ्रम-तमोदर्शनादि रूपों की उत्पत्ति हो जाती है।

मज्जा का अस्थि से इस तरह का अटूट संबध होने के कारण ही अस्थिदौर्बल्य की स्थिति में महर्षि चरक ने मज्जा सेवन करने का निर्देश किया हुआ अति अर्थ पूर्ण एवं महत्वपूर्ण लगता है।

**अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्य भ्रमस्तिमिर दर्शनम्।**

**-अ०हृ०सू० ११**

| | | |
|---|---|---|
| मज्जा का सेवन | शरीरस्थ<br>रस-मेद<br>मज्जा-शुक्र<br>श्लेष्मा<br>बल | की वृद्धि करने वाला होता है।<br>यह विशेषेण अस्थियों का बलप्रदायक तथा<br>देह स्निग्धता कारक। |

प्राचीनों के (आयुर्वेद के) अनुसार

अस्थिमध्य भाग में स्थित द्रव यह तो मज्जा है ही किन्तु उसी के साथ ही साथ शिर: कपालान्तर्गत मस्तिष्क एवं पृष्टवंश अंतर्गत सुषुम्ना भी मज्जा धातु ही हैं।

| | | |
|---|---|---|
| अस्थि स्नेहन<br>बल<br>शुक्रपुष्टि<br>अस्थिपूरण | ये जो प्राकृत<br>अस्थि के<br>प्राकृत कर्म | उनमें मज्जाक्षय<br>क्षय की स्थिति में<br>हास हो जाता है। |

**अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्य भ्रम स्तिमिर दर्शनम्।**

**-अ०हृ०सू० ११**

**मज्जक्षयेऽल्प शुक्रता पर्वभेदोऽस्थि निस्तोदौऽस्थि शून्यता च।**

**-सु०सं०सू० १५**

**शीर्यते इव चास्थिनी दुर्बलानि लघूनि च**
**प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम्।**

**-च०सं०सू० १७**

**मज्जावृद्धि**

सर्वाङ्ग गौरव नेत्र गौरव इ०

| | | |
|---|---|---|
| उत्पेषण<br>पीड़न<br>शोषण<br>शोथ<br>अभिघात<br>विषमाहार<br>तमोदर्शन | इ० के कारण<br>मज्जावह<br>स्रोतसों की<br>दुष्टि के कारण<br>भ्रम | मज्जा दुष्टिजन्य<br>विकार उत्पन्न। |

मज्जादुष्टिजन्य विकार — अस्थि पूर्व स्थान में विशाल व्रण, मूर्च्छा, अति दौर्बल्य, ओजो ह्रास।

**मज्जानेत्रांग गौरवम्।**

–अ०हृ०सू० ११

**मज्जा (अतिवृद्धा) सर्वाङ्ग नेत्रगौरवं च (आपादयति)।**

–सु०सं०सू० १५

**शुक्र क्षय**

मेढ्र शूल (Unbearable pain in penis)

मुष्क (अंडकोष) शूल

व्यवाय अक्षमता (Unable to perform sexual intercourse)

व्यवाय इच्छा ह्रास

क्लैब्य (नपुंसकता-Impotence)

मेढ्र धूमायन {लिङ्ग (Penis) विशिष्ट दाह}

गात्रसाद–तिमिर दर्शन

शुक्र अप्रवर्तन

व्यवायोत्तर विलम्ब से अत्यल्प शुक्र प्रवृत्ति

सकष्ट शुक्र प्रवृत्ति

सरक्त शुक्र प्रवृत्ति

अति पतला शुक्र।

दौर्बल्य मुखशोष

देह निस्तेजता व्यावायोत्तर शुक्र प्रसेचन ही न होना तथा उसके बजाय तीव्र शूल होना।

प्रतिलोम क्षय

{अति व्यवाय कर्म (संभोगातिरेक) के कारण शुक्रधातु का अतिक्षय सम्पादित होकर विपरीत वा उलटे क्रम से समस्त धातुओं का क्षय सम्पादित होता जाता है। यह अति कष्टकर, एवं गंभीर अवस्था।}

| | | |
|---|---|---|
| प्रीति {स्त्रियों के प्रति विशेष आकर्षण}<br>हर्ष {व्यवाय कर्म में विशेष आनन्द की प्राप्ति}<br>धैर्य<br>च्यवन<br>बीजत्व {सन्तानोत्पत्ति के लिये<br>अनिवार्य स्वरूपीय<br>आवश्यक पुंबीज [ Sperm] | ये प्राकृत शुक्र के जो प्राकृत कर्म | शुक्रक्षय में इन प्राकृत कर्मों का क्षय सम्पादित हो जाता है। |

**शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा**
**तोदोऽत्यर्थ वृषणयो: मेढ्रं धूमायतीव च।**

-अ०हृ०सू० ११

**दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं भ्रम:**
**क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीण शुक्रस्य लक्षणम्।**
**शुक्रक्षये मेढ्र- वृषण वेदनाऽशक्ति मैथुने**
**चिरात् वा प्रसेक: प्रसेके चाल्परक्त शुक्रदर्शन म्।**

-सु०सं०सू० १५

शुक्र वृद्धि

शुक्राश्मरी शुकाति प्रवृत्ति

शुक्रमेह संभोगेच्छावृद्धि

प्रीति वृद्धि {स्त्रियों के प्रति आकर्षण में वृद्धि हो जाना} शुक्रदुष्टिजन्य व्याधियाँ

**शुक्रं (अतिवृद्धं) शुक्राश्मरी अति प्रादुर्भावं च। (आपातदयति)**

-सु०सं०सू० ५

**आर्तव वृद्धि**

| | |
|---|---|
| अङ्गमर्द | आर्तवाति प्रवृत्ति |
| दौर्बल्य | आर्तव दौर्गन्ध्य |
| रक्तगुल्म | ग्लानि |

आर्तवाति प्रवृत्ति के कारण वायु का अवरोध होकर वात प्रकोप सम्पादित हो जाता है।

आर्तव यह पित्तगुणीय, पित्त विस्रगंधी होता है, अत: आर्तव में दुर्गन्ध।

शरीर में रसातिवृद्धि की स्थिति में आर्तरवृद्धि सम्पादित होती हैं।

(हर ३२-३०-२८-२५) (विभिन्न स्त्रियों में विभिन्न काल) दिनों से स्त्रियों को आर्तव प्रवृत्ति होती है।

**आर्तव क्षय**

आर्तव यह शरीरस्थ रस धातु का उपधातु होता है। अत: रसक्षय की स्थिति में शरीर में आर्तव क्षय हुआ दिखाई देता है।

| | | |
|---|---|---|
| आर्तव काल में | आर्तव अल्प अत्यल्प वा आर्तव अदर्शन | दिखाई देना। |
| गर्भाशय शूल | योनिशूल (उदावर्ता योनि) | |
| कष्टार्तव | | गर्भाशय प्रदेश में शूल। |

**स्तन्य वृद्धि**

स्तन पुष्टि {स्तन्य वृद्धि जिस प्रमाण में उसी प्रमाण में स्तनपुष्टि}

स्तन शूल {स्तनों में स्तन्य या दूध की वृद्धि के कारण तनाव बढ़ जाने के कारण}

बार-बार एवं ज्यादा प्रमाण में स्तन्य प्रवृत्ति {स्तनावरणों पर (ब्लाउज-चोली इ०) स्तन्य के धब्बे पड़ जाना।}

**स्तन्य क्षय**

स्तन्य यह शरीरस्थ रस का उपधातु।

अत: शरीर में रसक्षय की स्थिति में स्तन्य क्षय भी संपादित हुआ दिखाई देता है।

स्तनक्षीणता (स्तन छोटे-छोटे हो जाना) स्तनों से अल्प वा अत्यल्प स्तन्य प्रवृत्ति वा स्तन्य अप्रवृत्ति।

स्तन्ययह श्लेष्म गुणीय अत: ही स्तन्य क्षय में

श्लेष्म वृद्धिकर आहार विहारादि के कारण स्तन्य वृद्धि संपादित हुई दिखाई देती है।

पुरीष क्षय

| | |
|---|---|
| शरीर का अवष्टभं शरीर को दृढ़ता इसीलिये गंभीर अतिसार में देहविनमन हो जाता है, ग्लानि एवं शैथिल्य आ जाता है। वा स्थिरता प्रदान करना, प्राकृत वायु को धारण कर रखना अग्नि को धारण करना | ये सब पुरीष के प्राकृत कर्म हैं। |

पुरीष क्षय की स्थिति मे इन्हीं कर्मों का क्षय हो जाता है।

कोष्ठ वात पीड़ित रुग्णों को मलोत्सर्गोत्तर रोग का अत्यंत सकलीन देह बन जाता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| पुरीषाग्नि के द्वारा | पुरीष अग्नि<br>अंगभूत<br>स्नेह<br>क्लेद<br>गुरु | इ० गुणों का पाचन कर | अन्नरसोत्पत्ति में सहायक बनता है। |

इसी को अग्निधारण कार्य कहा गया है।

आधुनिक क्रियाशरीर के अनुसार

यह क्रिया पुरीष गत जीवाणुओं के द्वारा संपादित होती है।

| | | |
|---|---|---|
| ये जीवाणु | पुरीषगत<br>प्रोटिन्स<br>इ० का | पाचन करते हैं। |

कुछ पुरीषगत किटाणु की निर्मिति करते हैं।

पुरीष क्षय में इन समस्त पुरीष प्राकृत क्रियाओं का ह्रास हो जाता है।

''धारणात् धातव'' जो-जो शरीर का धारण कर्म करते हैं, उन्हें धातु कहा गया हैं, और इसके अनुसार प्रत्यक्ष धातुओं को ही (रसादि सप्त धातु) धातु नाम से संबोधित किया गया दिखाई देता है।

किन्तु शरीर को दूषित करने वाले दोष तथा शरीर को मलीन करने वाले मल इनको भी-उनके द्वारा शरीर का 'धारण कर्म' किये जाने के कारण धातु यह संज्ञा लागू होती है।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष दोष-धातु भी शरीर के लिए कष्टकर-रोगोत्पादक बन जाते है, तब उन प्रदूष्ट दोष एवं धातुओं को भी-'मलिनीकरणान्मल:' के अनुसार वे शरीर को मलीन कर देने वाले बन जाने के कारण मल संज्ञा प्राप्त हो जाती है तथा ऐसी दुष्टावस्था में उनका शरीर से शोधन कर देना भी अनिवार्य हो जाता है।

**पुरीष क्षय**

अपान वायु का प्रतिलोम होना [ अपान वायु की अधोगति यह प्राकृत गति है, जिसके कारण पुरीष-मूत्र-शुक्रादि की समय के समय पर योग्य प्रवृत्ति हो जाती है । यह अपान वायु की अनुलोम गति है ।

प्रति लोम गति अनुलोम के विपरीत होती है, जिससे मल-मूत्र-शुक्रादि के प्राकृत निर्गमन में तो बाधा पड़ती है तथा प्रतिलोम-ऊर्ध्वगामी अपान के कारण शरीर में रोग स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।]

आंत्र में वायु संचार (गुड़गुड़ाहट)

आध्मान कुक्षिशूल-ऊर्ध्ववात

अत्युद्गार हृत्पार्श्व पीडन हृत्पार्श्वशूल

वायु का तिर्यक् गमन ।

**पुरीषे वायु रन्त्राणि सशब्दे वेष्टयन्निव**
**कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्व हृत्पार्श्वे पीडयन् भ्रशम् ।**

**–अ०हृ०सू० ११**

**पुरीष क्षये हृदय-पार्श्व पीड़ा सशब्दस्य च**
**वायोरुर्ध्व गमनं कुक्षौ संचरणं च ।**
**क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारूतः**
**रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्व च गच्छति ।**

**–च०सं०सू० १७**

**पुरीष वृद्धि**

आध्मान अङ्गजाडय

कुक्षिशूल कुक्षिपूर्णता-आन्त्रकूजन

**कुक्षावाध्मान माटोपं गौरवं वेदनां शकृत्**

**–अ०हृ०सू० ११**

**पुरीषं (अति प्रवृद्धं) आटोपं कुक्षौ शूलं च आपादयति ।**

**–सु०सं०सू० १५**

**मूत्रक्षय**

बस्ति तोद (Pain in Hypogastric region)

मूत्राल्पता तृषा

मुखशोष    मूत्र वर्ण परिवर्तन

मूत्र दाह    {सामान्य मूत्र पीताभ तथा पारदर्शक स्वच्छ होता है।}

**रूक्षस्य क्लान्त देहस्य बस्तिस्थौ पित्त मारूतौ**
**सदाहं वेदनं कृच्छं कुर्यात्तां मूत्रसंक्षयम्।।**
**वात कृतिर्भवेत् वातान् मूत्रे शुष्यति संक्षयः।**

-सु०सं०उ० ५८

## मूत्र वृद्धि

मूत्र प्रमाण वृद्धि, आध्मान, मुहुर्मुहु मूत्रप्रवृत्ति [ **Frequent micturition** बार बार मूत्र होना}

{बस्ति [urinary bladde] मूत्र से भरी हुई होने के कारण} बस्ति तोद {बस्ति अति पूर्णता के कारण}

कृतेऽप्यकृतसंज्ञता {मूत्र प्रवृत्ति हो जाने पर भी दुबारा मूत्र विसर्जन की इच्छा होना}

**मूत्रवृद्धिं प्रचुर मूत्र निर्गमनम्।**

-चक्र

कफज प्रमेह में उदक मेहका आरंभक दोष कफ होता है। किसी व्यक्ति में प्रमेह के समस्त पूर्वरूप विद्यमान हों पर मूत्र मात्राधिक्य हो तो उसे प्रमेही मानना चाहिये।

पूर्वरूप कदाचित सब के सब वा आधे भी हुये तो भी मूत्र प्रमाणाधिक्य साथ साथ होने पर उसे प्रमेही माना जाना चाहिये।

**प्रमेह पूर्वरूपाणामाकृतिर्यत्र दृश्यते**
**किंचित चाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत्।**
**कृत्स्नान्यधीनि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे**
**प्रवृत्त मूत्र मात्यर्थ तं प्रमेहिणामादिशेत्।**

-सु०सं०नि० ६

**मूत्रं तु बस्ति निस्तोदं कृतेऽप्य कृत संज्ञताम्।**

-अ०हृ०सू० ११

## पुरीष वेग के कारण

पक्वाशयशूल    शिरःशूल

अधोवात व मल की अप्रवृत्ति

आध्मान    पिंडिकोद्वेष्टन

पक्वाशय शिरः शूलं वात वर्चोऽप्रवर्तनम्
पिंडिकोद्वेष्टनमाध्मानं पुरीषेस्याद्विधारिते।

–अ०हृ०सू० ४

मूत्र वेग धारण सं

बस्तिशूल शिर:शूल

देह विनमन वंक्षणस्तंभ

मूत्रेन्द्रिय शूल, आनाह {बस्ति मूत्र से पूरित Full हो जाने के कारण।}

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्ं शिरोरुजम्
विनामो वंक्षणानाहः स्याल्लिंगं मूत्र निग्रहे।

–अ०स०सू० ४

स्वेद क्षय

लोमकूपावरोध, त्वक् रौक्ष्यता

त्वक् पारुष्य (त्वचा खुरदरी-असुंदर)

स्पर्श विकृति, त्वक् विदार

लोम पतन

स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्ध रोमता स्फुटनं त्वचः।

–अ०हृ०सू० ११

स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक् शोष स्पर्श वैगुत्यं स्वेदनाशश्च;

–सु०सं०सू० १५

स्वेद वृद्धि

स्वेद यह पित्त का (भ्राजक पित्त का) स्थान होता है, जिससे स्वेद अति प्रवृत्ति की स्थिति में (भ्राजक) पित्त की भी अति प्रवृत्ति होती रहती है। जिससे-

शरीरोष्मा नियमन कार्य } में दोष (बिगाड़) उत्पन्न
[The function of heat repulation in body, } उत्पन्न हो जाता है।

पित्त विस्रगन्धि होने के कारण अति स्वेद प्रवृत्ति की स्थिति में {स्वेद के साथ भ्राजक पित्त की भी अति प्रवृत्ति होती रहने के कारण।}

त्वक्दौर्गन्ध्य

त्वचाति स्निग्धता (बदन चिकट लगना)

कण्डु (Pruritis)

स्वेदाऽति स्वेद दौर्गन्ध्यं कण्डुं एवं च लक्षयेत् ।

-अ०हृ०सू० ११

स्वेदः (अतिवृद्धः) त्वचो दौर्गन्ध्यं कंडुं च (आपादयति) ।

-सु०सं०सू० १५

अन्य मलक्षय

धातुओं के सूक्ष्म मलादि में क्षय हो जाने के कारण

मलायन शून्यतानुभूति

मलायन रुक्षतानुभूति

मलायतलघुतानु भूति (वह स्थान हलका-हलका शून्यवत् महसूस होना)

मलायन तोद (उस स्थान में सूइयाँ चुभने जैसी पीडा होना)

मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च
विशुष्कानि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मल संक्षये ।

-च०सं०सू० १७

ओज वृद्धि

ओज यह समस्त धातुओं का श्रेष्ठ सार भाग।

ओज यह शुक्र का उपधातु।

ओज यह शरीर का बल-तेज होता है।

| ओज | | | |
|---|---|---|---|
| | पर | प्रधान | अष्टबिन्दुज-हृदयस्थ |
| | अपर | अप्रधान | अर्धाञ्जलि प्रमाण-समस्त शरीर व्यापी |

शरीर में ओजोवृद्धि हो जाने की स्थिति में
- देहपुष्टि
- मनपुष्टि
- बलपुष्टि
- उत्साह वृद्धि
- शुक्रबलवृद्धि

**आधुनिक क्रिया शरीर के अनुसार**

| | |
|---|---|
| पर<br>वा<br>प्रधान ओज | यह वृषण ग्रंथियों<br>का अन्त:स्राव<br>अन्त:स्रावी ग्रंथिका स्राव (Adrenaline) |
| अपर<br>वा<br>अप्रधान ओज | द्राक्षाशर्करा (Glucose)<br>की समस्त शरीर में सतत<br>उपस्थिति के बिना– |

| | |
|---|---|
| बल<br>ऊर्जा<br>उत्साह<br>कार्यशक्ति | आदि कुछ भी<br>संभव नहीं हो पाता। |

अष्ट बिन्दुज वा प्रधान ओज की एक बूँद भी शरीर से नष्ट हो जाना मनुष्य की मृत्यु ही साबित होता है।

अत: ओज क्षय के लक्षण अर्थात् अपर वा अर्धाञ्जली प्रमाण अप्रधान ओज के लक्षण ही माने जाते चाहिये।

**यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिन् तिष्ठति तिष्ठति। {प्रधान ओज का नाश}**

**–अ॰हृ॰सू॰ ११**

**ओज क्षय**

देह क्षैण्य देह निस्तेजता

सदैव चिन्तामग्नता मनो दौर्बल्य

अति भिरूता भावरहितता

कल्पित {अवास्तव-असत्य} भयों से सदा सदा आक्रान्त रहना (Phobia)

निश्चेष्ट स्थितित्व अन्यों से खूब दबना (Inferirity complex)

ज्ञानेन्द्रियाँ व्यथित (अस्वस्थ) रूक्षता

अति निस्तेजत्व, कर्मेंद्रियाँ कर्म वैगुण्य युक्त

| | |
|---|---|
| **ओजो विस्रंस** | ओज का अपने मूल स्थान हृदय से अथवा धातु वाहक स्रोतसों से च्युत होकर अलग हो जाना। |
| **ओजो व्यापत्** | दुष्टदोष, दुष्ट धातु एवं दुष्ट मल के संसर्ग के कारण ओजोगुणन्यूनता. |
| **ओजोक्षय** | ओज का प्राकृत प्रमाण-ह्रास {अप्रधान ओज का क्षय।} |

| | | |
|---|---|---|
| ओजोव्यापत की | – | वजह से |
| अंग प्रत्यंग गौरव | – | स्तब्धता |
| मूलवर्ण परिवर्तन | – | ग्लानि |
| निद्रा | – | तन्द्रा |
| वातज शोफ | – | इन्द्रिय प्राकृत कर्म-ह्रास ।– |

**ओजोविस्रंस**

क्षय कारण–

दैहिक मानसिक अभिघात

धातुक्षयाधिक्य अति परिश्रम

अतिक्षुधा {प्रदीर्घ काल तक अनशन करने के कारण}

क्रोध
शोक
चिन्ता
द्वेष
ईर्ष्या
व्यवाय

} के अतिरेक से होने वाले वात प्रकोप के कारण

ओज क्षयादि का परिणाम-सर्वप्रथम हृदय पर ही लक्षित ।

क्योंकि हृदय यह ओज का स्थान । ओज हृदय से ही हृदय के द्वारा समस्त शरीर में विक्षेपित किया जाता रहता है ।

**ओजोविस्रंस परिणाम**

सन्धि विश्लेष

सन्धियों के अस्थि एक दूसरे से अलग हो जाने जैसी अति कष्टकर अनुभूति ।

गात्रसाद (शिथिलता)

वातादि दोषों का भी उनके प्राकृत स्थानों से भ्रंश हो जाना ।

कायिक
वाचिक
मानसिक

} क्रियाल्पता अथवा क्रियाओं का पूर्ण अवरोध, ओज प्राकृत कर्महानि ।

**ओजोक्षय में**

धातुक्षय मोह (चित्त अस्थिरता) प्रलाप

अज्ञान वा मिथ्या ज्ञान

(Illusion,
Hallucination,
Delusion)

❖

# प्रभाव

| | | |
|---|---|---|
| रस<br>वीर्य<br>विपाक | इ० सब में<br>समानता के<br>होते हुए भी | दा भिन्न द्रव्यों के<br>कर्मों में भिन्नता<br>दिखाई दे सकती है। |

यह जिस कर्मगुण के कारण हो पाता है

उसे प्रभाव कहते हैं।

| | | | |
|---|---|---|---|
| उदा- | चित्रक<br>एवं<br>दन्ती | इन दोनों वनस्पतियों | रस-कटु<br>विपाक-कटु<br>विर्च-उष्ण |

किन्तु दन्ती-विरेचक है चित्रक नहीं।

दोनों के रस-विर्य-विपाकादि समस्त समान होते हुए भी दन्ती की अपनी विशेषता है-विरेचना और इसे ही प्रभाव कहा जाता है।

अमुक द्रव्यों के रस-विर्च-विपाकादि में समानता के होते हुए भी अमुक एक विशेषता किसी अमुक द्रव्य में ही होती है-ऐसा क्यों?

इसके जवाब में कहना पड़ता है कि वह विशेष गुण उस द्रव्य की खासियत वा विशेषता वा प्रभाव होता है । इसके बिना इसका कोई दूसरा सटीक जवाब दिया नहीं जा सकता।

रस विर्य विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते
विशेष: कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृत: ।

-च०सं०सू० २६

# विर्य

सामान्यत: विर्य इस शब्दा का सर्वज्ञात अर्थ महणजे-संभोग समय में(While sexual inter course) शिश्न (penis) लिङ्ग, से प्रवृत्त होने वाला-

पुंबीज(Sperm) युक्त वीर्य है।

किन्तु द्रव्यगुण विज्ञान में द्रव्य की कार्य करने की जो शक्ति उसे उस द्रव्य का विर्य कहा जाता है।

इस वीर्य का यह अर्थ उपरोक्त वीर्य से बिल्कुल भिन्न स्वरूपीय है।

अपने विशेष गुणों के द्वारा रस को उपेक्षित कर उसके विपरीत क्रिया जब द्रव्य के द्वारा संपादित की जाती है, तब उसे उस द्रव्य का विर्य कहा जाता है। विर्य अर्थात् द्रव्य की उत्कृष्ट कार्यकारी शक्ति।

आचार्य सुश्रुत ने

| विर्य मे– | गुरु-लघु का समावेश न न करते हुए | उसके बजाय | विशद पिच्छिल का समावेश किया हुआ दिखाई देता है। |
|---|---|---|---|

**गुर्वाद्या वीर्यमुच्यंते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणा:**
**परं सामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणा:।**

**-अ०हृ०सू०**

**मृदुस्तीक्ष्ण गुरुलघु स्निग्ध रूक्षोष्ण शीतलम्**
**विर्यमष्ट विधं केचित् केचिद् द्विविधमास्थित:।।**
**शीतोष्ण मिति...।**

**-च०सं०सू० २६**

❖

# विपाक

जाठराग्नि परिणाम के कारण द्रव्य में जिस अन्य रस की उत्पत्ति होती है

उसे विपाक वा निष्ठापाक कहते हैं।

किट्टरहित होने के कारण (सार-किट्ट विभजनोत्तर) मूल द्रव्य केवल रस रूपों में शेष रह जाने से एक प्रकार से वह नये रूप में तैयार हुआ द्रव्य ही होता है और इसीलिये उसका रस भी नया ही बना रहता है।

यह रस कभी मूलद्रव्य के रस से अभिन्न तों कभी भिन्न भी हो सकता है।

**जाठरेणाग्निना योगाद्यदुतेति रसान्तरम्**
**रसानां परिणामान्ते स विपाक प्रकीर्तितः।**

अ०हृ०सू० ९

**कायाग्नि पाकजो विशिष्टो रसो विपाक.।**

अ०हृ०सू० १

| रस | विपाक |
|---|---|
| मधुर, लवण | प्रायः मधुर |
| अम्ल | अम्ल |
| कटु, तिक्त, कषाय | कटु |

**कुछ द्रव्यों में इस के विषय में अपवादः-**

उदा-शुंठी-पिप्पली कटु रसात्मक
किन्तु उनका विपाक मधुर।

कुलत्थ कषाय रसात्मक-
किन्तु उसका विपाक-अम्ल।

हरीतकी, आमलकी — अम्ल रसात्मक
किन्तु उनका विपाक मधुर।

तेल मधुर रसात्मक

किन्तु उसका विपाक कटु।

| | |
|---|---|
| कृष्ण लवण | लवण रसात्मक |
| | किन्तु उसका विपाक-कटु। |
| पटोल | तिक्त रसात्मक |
| | किन्तु उसका विपाक-मधुर। |

**कटु तिक्त कषायाणां विपाक: प्रायशो कटु:**
**अम्लोम्लं पच्यते स्वादु र्मधुरं लवण स्तथा।**

-च०सं०सू० २६

**विपाक: कर्मनिष्ठया।**

-च०सं०सू० २६

**कर्मनिष्ठेति कर्मणोनिष्ठा निष्पत्ति: कर्मनिष्ठा**
**क्रिया परिसमाप्ति: रसोपयोगे सति योऽन्त्याहार**
**परिणामकृत: कर्म विशेष: कफशुक्राभि वृद्ध्यादि**
**लक्षण: तेन विपाको निश्चीयते।**

-चक्र

**चक्रपाणि का अवस्था पाक संबंधित भिन्न मत**

अग्नि एवं पाचक पित्त संयोग से अन्नपान रस में वे वे परिर्वतन सम्पादित होकर इन रसों की क्रियाओं के कारण क्रमश: कफादि की वृद्धि होती है-यह विधान उचित नहीं है।

आमाशयादि कफादि दोषों के स्वाभाविक (सामान्य) स्थान होते हैं। इनके भीतर स्वभावतया मधुरादि रस होते हैं। स्वस्थान में आने वाले अन्न को ये रस स्वगुण प्रभाव से स्वसदृश बना देते हैं और इस रूपान्तरण के कारण ही उस-उस स्थान में उन-उन दोषों की वृद्धि संपादित होती रहती है।

जैसे-हृत्स्थानीय ऊर्ध्व कोष्ठ में {महास्रोत एवं प्राणवह स्रोतसों} स्वभावत: मधुर रस होता है तथा इसके संयोग से देहबल वृद्धिकर श्लेष्मा की वृद्धि संपादित होती है।

आगे हृत् एवं नाभि मध्यभाग में स्वभावत: अम्ल रस होता है। स्वगुण धर्मानुसार यहाँ पित्त की वृद्धि सम्पादित की जाती है।

आगे नाभि अधोभाग में स्वभावत: कटु रस स्थिति और इसीलिये इस स्थान में इस प्रभाव के कारण वायु की वृद्धि हो जाती है।

अवस्था पाक में दोषों की वृद्धि का स्वरूप यह इस तरह का होता है।

मधुरो हृदयादूर्ध्व, रस: कोष्ठे व्यवस्थित:
तत: संवर्धते श्लेष्मा शरीर बलवर्धन: ।
नाभि हृदय मध्ये च रसस्त्वम्लोव्यवस्थित:
स्वभावेन मनुष्याणां तत: पित्तं विवर्धते ।
अधोनाभ्यास्तु खल्वेक: कटुकोऽवस्थितो रस:
प्राय: श्रेष्ठस्तम स्तत्र, प्राणिनां वर्धतेऽनिल: ।।
तस्माद्विपाक त्रिविधे रसानां नात्र संशय: ।

-च०सं०चि० १५

अवस्थापाक एवं निष्ठापाक में भेद:-

अवस्था पाक एवं निष्ठापाक में } काल भिन्नता एवं स्थान भिन्नता होती है।

उपभोजित भोजन-
अनेक रस युक्त होने के बावजूद भी { प्रत्येक अवस्था में वह भोजन एक रसीय बन जाता है तथा उस वृद्ध रस प्रभाव के कारण उस रस के अनुरूप उस दोष की वृद्धि संपादित होती है।

अन्नपचनोत्तर रस के अनुसार } उस उस के प्रत्येक द्रव्य का { पृथक्-पृथक् विपाक संपादित होता है।

यह विपाक स्व स्वभावनुसार उस-उस दोष की वृद्धि वा क्षय संपादित करता रहता है।

विपाक — जाठराग्नि के द्वारा प्रत्येक द्रव्य का पाक वा रूपान्तरण सम्पादित होने पर वह उसमें विद्यमान रस का सूचक होता है।

अवस्थापाक — उस उस स्थान में पाक का अवस्था वश संपन्न हुआ समस्त आहार के रस का द्योतक होता है।

ननु यद्यत्रावस्था पाक वशात् वण्णामेव रसानां कफादि कर्तृत्वमुच्यते तदा कटु-तिक्त-कषायाणां प्रायशो कटु: ।

-चं०सं०सू० २६

इत्यादिना यो विपाक उच्यते स विरुध्यते, अवस्थापाकेनैव बाधितत्वात्। मैवम् न ह्यवस्थापाकोऽयं रस स्वभावं निष्ठपाकं बाधते, किन्त्ववस्थायां सर्व कार्य करोति। तेन रसादयोऽपि स्वकार्य कुर्वन्ति, अवस्थापाकोऽपि स्वकीयं कार्य करोति। यथा मधुर तिक्तादि षड्रसेऽन्ने उपयुक्ते मधुरोऽपि स्वकार्य करोति, तिक्तादयश्च स्वकार्य कुर्वन्ति। अयं तु विशेष: यन्मधुराख्य-स्थावस्थापाकस्य मधुरादय: श्लेष्मजनका रसा-अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणां जनयति,-यदात्ववस्थापाको विपरीत कटुकादि परिगृहितो भवति तदा स्तोक मात्रं कफं जनयति। एवं पित्तजनकेऽवस्था पाकेऽपि वाच्यम्। 'कटुतिक्त कषायाणां' इत्यादि कोक्ता स्त्रिधा विपाकस्तु रस मल विवेक समकालो भिन्नकाल एवावस्थापाके: सममिति न विरोध:। स च भिन्न कालोऽप्यवस्थापाक कार्य दोषानुगुणतमऽननु गुणतया वा अवस्था पाकाहि दोषाणां वर्धनं क्षपणं वा करोतीति तस्या विधानं शास्त्रे प्रयोजनवदेव।

-च०सं०वि० १५-चक्र

## मूत्र परीक्षण

अल्प श्रमों से थकान
अल्प श्रमों से साँस फूलना
मूत्रदाह
बारबार मूत्रप्रवृत्ति
अत्यल्प मूत्रप्रवृत्ति
कामला
वृक्काश्मरी
मूत्रकृच्छ्र

} इ० स्थितियों में योग्य रोगानिदानार्थ [ For proper Diagnosis] मूत्रपरीक्षण आवश्यक।

१) अति स्वेद प्रवृत्ति
अति मूत्र प्रवृत्ति
अति द्रव मल प्रवृत्ति
कायला आरंभावस्था

} संत्रे (Orrange) के रंग के जैसा मूत्र (Orrange colour)

२) पित्तज प्रमेह में→अनेक वर्ण विशेषयुक्त मूत्र
३) कामला में- हारिद्र वर्ण मूत्र
४) साम मूत्र–अस्वच्छ-अति दुर्गन्धियुक्त मूत्र।
५) सरल मूत्र–मूत्रमार्ग में व्रण।

बस्ति में अश्मरी (Bladder stone)
वृक्काश्मरी (Kidney stone)
रक्त पित
मूत्रकृच्छ्र

} इन अवस्थाओं मे सरल मूत्र।

मूत्र में सिकता कण (Cal. oxalate crustle) अश्मरी सूचक।

पूयमूत्रता अपदंश स्पूयमेह-Gonoorhoea .

गँदला मूत्र (Phas phaturia) अप्राकृत मूत्र।

मूत्र परीक्षण के लिये–

१. मूत्र का वर्ण

२. स्वच्छता (पारदर्शकता)

३. पूयकण वा क्षात्रकण (WBC/Puscells )

वारक्त कण (RBC)

की उपस्थिति।

→ आदि देखा जाता है।

मूत्र तैल परीक्षण

तैल बिन्दू मूत्र में डालने पर–

१. वह समस्त पृष्टभाग पर यदि एकदम से फैल गया } तो व्याधि साध्य

२. वह तैल बिन्दु पृष्ठभग पर न फैलते हुए वैसा ही रहा } तो व्याधि अति कृच्छ्रसाध्य वा असाध्य

रोग की साध्या साध्यता बाबत अनुमान करने के लिये प्राचीन आयुर्वेद में तैल परीक्षा निवेदित की हुई दिखाई देती है।

सामान्य मूत्र (Normal urine)

२४ घंटों का कुल मूत्र प्रमाण } ४ अंजलि
८० से १०० तोले

८०० से १०० मि. लि.

अर्थात् इस प्रमाण से खूब कम अथवा खूब ज्यादा } प्रमाण में होने वाली मूत्र प्रवृत्ति। विकृति सूचक।

{ बहुमूत्रता-प्रमेह
मूत्रकृच्छ्र
मूत्ररोध इ०

यह प्राकृत मूत्र दुर्गंध रहित, स्वच्छ, क्षात्र-कण (WBC)

रक्त कणिकायें (RBC)

पूय कण (Pus cells)

इ० से रहित होता है।

वि०गु०(Sp. gr.). १०.६०

मूत्रप्रवृत्ति के समय शूल-दाहादि कोई भी कष्ट न होना यह प्राकृत मूत्रता का महत्वपूर्ण लक्षण माना जाता है।

शोथ (Oedema)
उदर (Ascites)
मूर्च्छा(Coma)
} इ० स्थितियों में दिनभर में पिया गया जल (Water intake) तथा

दिनभर के मूत्र का प्रमण (Urine ourput)

**(Proportion of water intake and urine output)**

देखा जाता है।

मूत्र अत्यल्प प्रमाण में होने की स्थिति में

यवजल (Barley water) इ० मुखमार्गेण (Orally) दिया जाता है।

आधुनिक वैद्यक में ऐसी स्थिति में शिरा द्वारा सूचिवेध से लवण जलादि दिये जाते हैं। **(Saline Drip)**

❖

# दौषवैषम्य प्रकार

निज रोगों में दोष विषमता का सम्पादित हो जाना यह सम्प्राप्ति की मूल अवस्था होती है।

यह दोषविषमता शरीर में अनेक प्रकार से उत्पन्न होती रहती है।
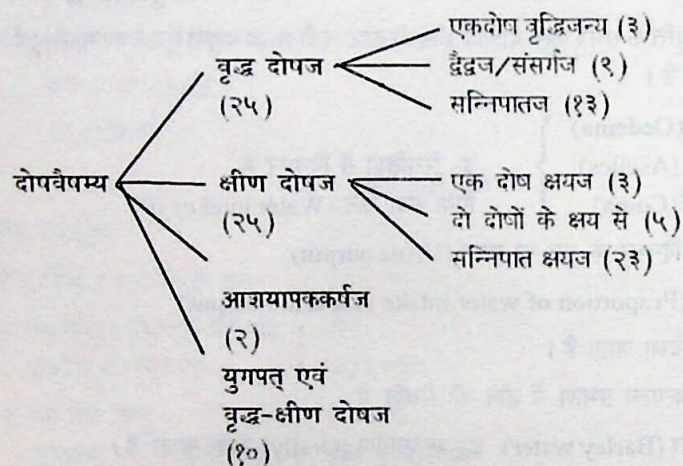
आशयायपकर्ष गति

दोष यह प्रकृतिस्थ अर्थात् स्थान (सामान्य) गति में होकर भी यदि प्रकुपित वात के कारण यदि वह बलात् अन्य स्थान में {पराये स्थान में-स्थनसंश्रय} ले जाया गया अर्थात् आशयापकर्षित किया गया -तो स्वयं सामान्य-प्राकृत (अदुष्ट) होने पर भी वह दुःख लक्षणों का उत्पन्न करने वाला (रोगोत्पादक) साबित होता है।

प्रकुपित वात के कारण जिन-जिन स्थानों में इस प्राकृत दोष को खीचं कर ले जाया जायेगा उस-उस स्थान में उस दोष के वृद्धिवत् लक्षण वह प्रकट कर लेता है।

उदा धातुपोषक आहारभाव के कारण शरीर में श्लेष्मक्षय हो जाता है, जिसके क .रीर में वातवृद्धि संपादित हो जाती है।

यह प्रकुपित वायु मूलतः प्राकृत पित्त को (अदुष्ट पित्त) जबरदस्ती से उसके अपने स्थान से बाहर खींचकर अपने साथ हस्त-पादादि विभिन्न अवयवों में खींच ले जाता है, जिससे उन स्थानों में {जहाँ जहाँ प्रकुपित वायु द्वारा प्राकृत पित्त को खींचकर ले जाया जायेगा} पित्त

प्रकोपवत् दाह उष्मादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

ऐसी स्थिति में चिकीत्सक को-दोष की आशयापकर्ष गति का यदि योग्य ज्ञान न हुआ तो दोषदुष्टि इ० बाबत गंभीरता से विचार न करते हुए उसने यदि लाक्षणिक चिकित्सा (Symptomatic Treatment) की योजना कर दी तो उत्पन्न दु:ख लक्षणों का शमन तो अर्थात उससे होगा ही नहीं, किन्तु ऐसी चिकीत्सा से अकारण प्राकृत पित्त का क्षय किया जाकर रुग्ण के दु:ख लक्षणों में वृद्धि होना ही साबित होगा तथा इससे **व्याधिसंकर** की भी उत्पत्ति हो जायेगी।

ऐसे आशयापकर्ष की स्थिति में रोग लक्षणों की उलझी हुई स्थिति होती है। ऐसे **मूढ़लिङ्ग व्याधि** की परीक्षा उपशय अनुपशय से भी की जा सकती है।

दूसरा आशयापकर्ष गति का उदाहरण यह मार्गा व विरोधजन्य शाखागत कामला का (Obstructive jaundice) दिया जा सकता है।

इसमें कफ के द्वारा पित्त नलिका का(Bile duct) मार्गावरोध हो जाने के कारण वह पित्त वायु के द्वारा **विमार्गग** कर दिया जाता है, जिससे पित्त रस गत होकर-

शाखागत त्वक्पीतता तथा श्वेतवर्चादि (तिलपिष्टनिभ वर्चस्) {मल एवं मूत्र को उनके प्राकृत रंग प्रदान करने का कार्य याकृत पित्त शरीर में करता रहता है। शाखा गत कामला में पित्त का मार्ग अवरुद्ध होने से पित्त आंत्र में न आ पाने के कारण पुरीष विवर्ण होता है-भिगोकर पीसे हुए तिलों के कल्क जैसा वर्ण=तिलपिष्टनिभवर्चस्} **अल्पपित्ता कामला** के लक्षण दिखाई देते हुए भी यहाँ मूल कफवृद्धि की चिकीत्सा ही योग्य चिकीत्सा हो सकती है और कफ शामक चिकीत्सा से ही रुग्ण को योग्य उपशय की प्राप्ति हो पाती है।

ऐसे समय पित्त को {जो प्रकुपित वायु के द्वारा जबरन रूप से शाखगत किया गया है} शाखा प्रदेश से कोष्ठ-प्रदेश में पुन: लाकर रोगोपशम कराना-आवश्यक हो जाता हैं!

ऐसे समय-कटु-तीक्ष्ण गुणात्मक ऐसी कफघ्न चिकीत्सा ही शास्त्रशुद्ध एवं रोगी के लिये रोगहारक साबित हो सकती हैं।

❖

# पुरीष परीक्षण

पुरीष एवं मूत्र ये सेवित आहार के मल होते हैं।

मनुष्य को होने वाली व्याधियों में से प्राय: ज्यादातर व्याधियाँ जाठराग्नि की दुर्बलता के कारण ही उत्पन्न होती रहती हैं।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में जाठराग्नि के प्राकृत होने की स्थिति में निज रोग उत्पन्न ही नहीं सकते। काय=अग्नि। अग्नि की इस महत्ता के कारण ही चिकीत्सा शास्त्र को कायचिकीत्सा अर्थात् अग्नि की चिकीत्सा यह नाम दिया हुआ दिखाई देता है।

इस बात से रोगनिदान में [Diagnosis] पुरीष परीक्षण का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

बाह्यार्श (Ext. Piles)
अंतरार्श (Int. Piles)
रक्तार्श (Bleeding Piles)
भगन्दर (Fistulla)
अतिसार
प्रवाहिका (Dysentary)
ग्रहणी (Sprue)
परिकर्तिका (Fissure)
अधोग रक्त पित्त
कृमि (Worms)
विबन्ध

} इ० अनेकानेक रोगों में रोगनिदानार्थ पुरीष परीक्षा का अनन्य साधारण महत्व माना जाता है।

| | |
|---|---|
| १. अति द्रव मल | ५. पानी में डूबने वाला मल |
| २. लाल वर्णीय | ६. पानी पर तैरनेवाला मल |
| ३. कृष्ण वर्णीय | ७. कृमियुक्त मल |
| ४. मिट्टी के जैसा मल | ८. फटे हुये दूध की तरह मल |
| (तिलपिष्ट निभवर्चस्) | ९. आम लिप्त मल |

इस दर्शन परीक्षा से

शरीरस्थ विकृति की
तथा
दोषदुष्टिकी

} कल्पना की जाती है।

१. वात प्रकोप में पुरीष–

अति शुष्क सग्रंथि (ग्रंथिल)

अति पिण्डित अति कुंथन पूर्वक (खूब जोर लगाकर) मल प्रवृत्ति

२. पित्त प्रकोप में–

सदाह मलप्रवृत्ति गुददाह

पीत वर्णीय पुरीष अर्धद्रव मल

लालिमायुक्त द्रव मल

३. कफ प्रकोप में

श्लक्ष्ण स्निग्ध

पिच्छिल असंयुत (बँधा हुआ न होना)

पुरीष

४ साम मल

पानी में डूब जाने वाला (लेकिन साम मल यदि द्रव रूप रहा तो वह पानी पर तैरता है)

आमयुक्त श्लक्ष्ण।

आंत्रकूजन मरोड़ आना

कुंथन क्रिया धिक्य, हर समय अलामल प्रवृत्ति

'कृतेऽप्य कृत संज्ञता' अर्थात् मल विसर्जजन कर लेने पर भी पुन: मल विसर्जनेच्छा।

५ गन्ध से परीक्षा

अम्ल गन्धीय एवं फटे हुए दूध की तरह मल=साम मल।

मांसाहारी लोगों के पुरीष में अति दुर्गंध

विबन्ध से पीड़ित लोगों के पुरीष में अति दुर्गंध

६ पुरीष जल परीक्षा

पानी में डालने से पानी के ऊपर तैरने वाला पुरीष

निराम

पानी में डालने से पानी में डूब जाने वाला पुरीष साम।

(यह परीक्षा सभी समय सही नहीं मानी जा सकती।

क्योंकि साम मल द्रव हुआ तो वह पानी पर तैरता दिखाई देगा।)

७. पुरीष वर्णन से पुरीष परीक्षा

| | |
|---|---|
| सिर्फ दुग्धाहारी लोगों का पुरीष | पीताभ |
| अति मांसाहार सेवियों का पुरीष | कृष्ण वर्णीय |
| लौह युक्त औषधिसेवन करने वालों का पुरीष | कृष्ण .वर्णीय |
| मद्यपानी व्यक्तियों का मल | कृष्णाभ। |
| रूद्धपथ कामला में शाखगत कामला में मल को प्राकृत रंग प्रदान करने (Obstructive Jaundice) वाला याकृत पित्त आन्त्र में न पहुँ पाने के कारण मल वर्ण मिट्टी के जैसा या तिल कल्क के जैसा {तिलपिष्टनिभ वर्चस्} | |

बहदंत्र पूर्व भाग में यदि कही रक्तस्राव {Bleeding } } कृष्र्ण वर्ण पुरीष।

८. सरक्त मल

रक्तज प्रवाहिका में मल प्रवृत्ति के समय सिर्फ रक्त ही पड़ता है।

रक्तज अर्श में (Bleeding piles) – गहरा लाल गरम गरम रक्त मलप्रवृत्ति के समय पड़ता है।

परिकर्तिका में मल प्रवृत्ति के समय खून पड़ता है । तथा (Fissure) मलविसर्जन के समय भीषण पीड़ा होती है।

खूब कुंथन क्रिया के करते करते श्लेष्मा युक्त रक्त पड़ता है तो रक्तज प्रवाहिका।

ऐसे एमय पुरीष में क्षात्रकण(WBC), रक्त कणिकायें,(RBC) इ० भी होती हैं।

मल प्रवृत्ति के समय अति दाह, अति पीड़ा तथा सिर्फ रक्त ही यदि पड़ता है तो रक्तार्श [Bleeding Piles]

भगन्दर [Fistul]

परिकर्तिका [Fissure]

अधोग रक्त पित्त।

**दर्शन परीक्षा से** पुरीष में सूत्र कृति [Thread worms]

गोल कृमि [Round worms]

इ० देखे जा सकते हैं।

**सूक्ष्म दर्शक यंत्र परीक्षा से** कृमियों के अंडे, विभिन्न कृमि, रक्त पेशी (RBC), श्वेत पेशी {क्षात्रकण-W.B.C }

इ० देखे जा सकते हैं।

ग्रहणी (Sprue) रोग में } अपक्व अन्नकण इ० पुरीष में उपस्थित।

आज के प्रगत विज्ञान के विभिन्न परीक्षणों से अति शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से मल-मूत्रादि की अचूक परीक्षायें की जाती हैं।

किन्तु फिर भी हजारों वर्ष पूर्व-आयुर्वेद वर्णित मूत्र-पुरीषादि की परीक्षायें आज के विज्ञान के तीव्र प्रकाश में भी असत्य साबित नहीं हो पायी है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार समस्त रोग दोष दुष्टि के कारण उत्पन्न होते रहते हैं। दोषदुष्टि के बिना शरीर में कोई भी विकार संपादित नहीं हो पाता तथा इसके अनुसार आयुर्वेद में विभिन्न रोग वर्णन में उस-उस दोषदुष्टि का वर्णन तथा कार्य कारण मिमांसा की हुई दिखाई देती हैं। उसके अनुसार विभिन्न दोष दुष्टि के अनुसार पुरीष एवं मूत्र के लक्षण देकर उसी परीक्षण पर विशेष जोर दिया दिखाई देता है । उसी तरह साध्या साध्यता के ज्ञान के लिये भी परीक्षा दी हुई दिखाई देती है।

कृमि उपसर्ग का **(Worm infection)** वर्णन भी आयुर्वेद में उपलब्ध होता है।

पुरीष-मूत्रादि परीक्षायें ये रोग निदान के लिये **(for diagnosis of the disease)** सिर्फ सहायीभूत होती है।

किन्तु प्रमुख रोगनिदान यह दोष दुष्टि आधारित होने के कारण उस दोष दुष्टि के रूप वा लक्षणों पर तथा तदनुषंग से तद्तद् दोष दुष्टि की मूत्र-पुरीषादि में होने वाले परिवर्तनों का विवेचन यह आयुर्वेद की मूत्र-पुरीषादि परीक्षाओं के विषय में मूल बैठक मानी गई है।

इस बात को यदि ख्याल में रखा गया तो आयुर्वेद वर्णित मूत्र-पुरीषादि परीक्षाओं के महत्व का आकलन हो पाता है।

❖

# मानस दोष एवं शारीर दोष सम्बन्ध
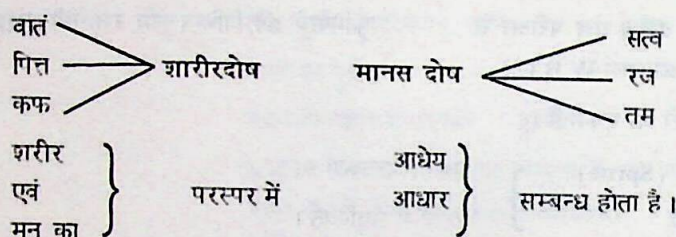
मन यह शरीराधिष्ठित।

मन का आश्रय स्थान शरीर।

आश्रय तथा आश्रित } इनका एक दूसरे पर परिणाम
आधेय तथा आधार } होना अपरिहार्य ही हो जाता है।

इसके लिये आयुर्वेद ने रथ का समर्पक दृष्टान्त दिया हुआ दिखायी देता है।

१. शरीर यह रथ है।

२. शब्द स्पर्शादि विषय युक्त इन्द्रियाँ ये रथ के घोड़े हैं।

३. मन यह सारथि है।

४. आत्मा यह शरीर रूपी रथ में बैठा रथि होता है।

बेकाबू होने वाले चंचल अश्वों को योग्य रूप से सँभालकर रथ की टूटफूट न होने देते हुए कुशलता से घोड़ों को हाँकने का कार्य कर रथ को

गन्तव्य पर {मंजिल पर} सफलता से एवं सुरक्षितता से पहुँचाने का कार्य सारथि का होता है।

अकल्याण कारक विषयों की तरफ इन्द्रिय रूपी अश्वों को बेकाबू रूप से दौड़ने न देते हुए उन चंचल बने अश्वों को काबू में रखना शरीर रूपी रथ की कोई भी हानि न होने देना।

आत्मा रूपी रथी को उसकी मंजिल पर {मोक्ष-कल्याण} सुरक्षित रूप से पहुँचा देना

ये अति महत्वपूर्ण कार्य मन रूपी सारथि के द्वारा संपादित किये जाते हैं।

इस दृष्टान्त से शरीर एवं मन का संपूर्ण संबंध अति समर्पकता से शास्त्रकारों ने विवेचित किया दिखाई देता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| वात<br>एवं<br>पित्त | इन<br>शारीर<br>दोषें का | मानस<br>दोष | रज से<br>साम्य<br>दिखाई देता है। |

| | | |
|---|---|---|
| शारिरीक<br>श्लेष्म दोष का | मनोदोष<br>तमके साथ | साम्य दिखाई देता है। |

इससे केवल शारीर रोग (**Purely physical diseases**)

वा केवल मानस रोग (**Purely mental diseases**)

इस तरह का व्याधिस्वरूप प्रदीर्घ काल रह ही नहीं पाता।

**मानस रोगों में उपर्युक्त उक्त शारीर-मानस दोषों की समानता के कारण**

तथा शरीर एवं मन का आधेयाधार संबंध होने के कारण कुछ कालोपरान्त शारीर दोष दुष्टि भी सम्पादित हो जाती है उसी तरह शारीर व्याधि में आगे मनो दोषों पर भी उसका {उस दोष दुष्टिका} विपरीत परिणाम संपादित होकर मनो दोषों की भी दुष्टि संपादित होकर व्याधि के मानस रूप भी प्रकट हो जाते हैं।

| | |
|---|---|
| काम<br>शोक<br>भय | ये मनोभाव।<br>इनकी अधिकता के कारण मनस्थ रजोदोष की दुष्टि सम्पादित हो जाती है।<br>उसी तरह इसमें शरीरस्थ वात प्रकोप भी आगे सम्पादित हो जाता है।<br>{शरीरस्थ वात प्रकोप एवं मनस्थित रजो दोष का साम्य होने के कारण} |

| | | |
|---|---|---|
| शोक<br>क्रोध<br>भय<br>काम | इन मनोविकारों के<br>अतिरेक के कारण | अतिसार जैसी शारीर व्याधि<br>उत्पन्न हो जाती है। |

यहाँ लाक्षणिक चिकीत्सा (**Symptomatic Treatment**)

करके (स्तंभक इ॰ देकर)

योग्य कार्य भाग साध्य नहीं किया जा सकता।

'कारणनाशात् कार्यनाश:' नियम के अनुसार अतिसार का मूलभूत कारण जो क्रोध-भय-शोकादि मनो विकारातिरेक होता है, उसकी-

मूल उपाय योजना किये बिना
{मन: शान्त किये बिना}
{मानसोपचार किये बिना}
इस अतिसार में योग्य उपशय प्राप्त ही नहीं हो पाता।

**मन** शरीरस्थ समस्त इन्द्रियाँ {ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ} तथा
शरीरस्थ समस्त शारीर-मानस क्रियाकलापों का
नियन्ता-प्रणेता होता है।

और इसीलिये मनोविकारों का परिणाम शरीर स्वास्थ्य की दुष्टि सम्पादित होने में दिखाई देता है।

तो दीर्घकालीन (जीर्ण Chronic) शारीर व्याधिग्रस्त रोगी का मन चंचल-चिड़चिड़ा बना दिखाई देता है।

| | |
|---|---|
| मन शोकग्रस्त होने की स्थिति में<br>मन द्वेष-ईर्ष्यादि भावों से पूर्णत:<br>अभिभूत हो जाने पर<br>मन काम विकार से जबर्दस्त<br>रूप में ग्रस्त हो जाने की स्थिति में | आमोद-प्रमोद<br>खाद्य-पेय<br>इ० में किसी में भी उस मन को<br>कोई आनन्द प्राप्त नहीं हो पाता। |

| | |
|---|---|
| उसी तरह<br>जीर्ण ज्वर<br>तीव्र उदरशूल<br>वा<br>अन्य अतिकष्टकर<br>रोग लक्षणों से पीड़ित<br>व्यक्ति को | कामादि मनोविकारों में न कोई<br>दिलचस्पी रह पाती है और<br>न कोई आनन्द प्राप्त हो पाता है। |

**काम शोक भयात् वायु: क्रोधात् पित्तं च कुप्यति।**

–च०सं०चि०

**ते च मनोविकारा: परस्परमनुवर्त माना:**
**अनुबिध्नाति कामादयो ज्वरादयश्च।**

–च०सं०वि० ७

इन सभी का कारण अर्थात् मन एवं शरीर का आश्रय-आश्रित वा आधेयाधार सम्बन्ध ही कहा जा सकता है।

रजो गुण यह जैसे समस्त मनोविकारों का कारक उसी तरह शरीरस्थ वायु दोष समस्त शारीर विकारों का भी कर्ता होता है।

रज की मदद के बिना जिस तरह तमो गुण मानस रोगोत्पत्ति का संपादन कर नहीं पाता।

उसी तरह "पित्तं पङ्गु कफं पङ्ग" की स्थिति के कारण शरीरस्थ पित्त एवं श्लेष्मा दोष वात के सहकार्य के बिना रोग संपादन कर ही नहीं पाते।

ज्वर
अतिसार
शोफ
} शुद्ध शारीर स्वरूपीय व्याधि कहे जाते हैं।

मोह
चित्तवैचित्य
क्रोध
मद
मत्सर
ईर्ष्या
} शुद्ध मानस स्वरूपीय व्याधि के रूप में परिचित है।

उन्माद
अपस्मार
मूर्च्छा
भ्रम
निद्रा
} ये शारीर-मानस व्याधि कहे जाते हैं।

मनोदोषों की दुष्टि के कारण उत्पन्न मानसरोग आगे चलकर शारीर दोषों का भी प्रकोपण संपादित करने के लिए कारणीभूत हो जाते हैं। तथा उससे मानस-शारीर [Psycho-somatic, ऐसा उस व्याधि का स्वरूप हो जाता है।

उसी तरह शरीर में संपादित हुई शरीर दुष्टि के कारण उत्पन्न शारीर व्याधि

आगे चलकर
मनोदोषों में भी विकृति
संपादित होने का
कारण बन
{ उसके कारण उस व्याधि का स्वरूप
शारीर-मानस व्याधि (Souro-Psychotic)
का हो जाता है।

काम क्रोधज ज्वर
शोकातिसार
} { इन व्याधि नामों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि
प्राचीनों को
शारीर-मानस संबध का यह ज्ञान पर्याप्त रूपेण प्राप्त था।

"सभी व्याधियाँ उभयाश्रित स्वरूपीय होती है,"–

ऐसा सिद्धान्त ही आयुर्वेद ने स्पष्टरूपेण प्रतिपादित किया हुआ दिखाई देता है।

सभी रोगों के लिये मूलतः कारणीभूत होने वाला } प्रज्ञापराध { इसका सम्बन्ध मन से ही तो होता है।

रज-तम से व्याप्त } मन जब बन जाता है. { तब बुद्धिविभ्रम होकर { प्रज्ञापराध अर्थात् अकरणीय कर्मसंपादन होता है।

अधिष्ठान भेदेन द्विधा रोगाः मनोधिष्ठानं-शरीराधिष्ठानं च।
रजस्तमश्च मनसौ द्वौ च दोषौ उदाहृतो।

–अ०हृ०सू०

रज स्तमश्च मानसौ दोषौ तयो र्विकाराः काम-क्रोध लोभ मोह ईर्ष्या मान मद शोक चिन्ता उद्वेग भय हर्षादयः।

शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधिनामाश्रयोमतः।

–च०सं०सू० १

सत्व संज्ञेन मन उच्यते...सत्व शब्देनैव मनसि लब्धे संज्ञा शब्देनात्म शरीर संबंधं मन उच्यते।

–च०सं०सू० १. चक्र

सत्व अर्थात् मन ही होता है। मन को ही सत्व नाम से संबोधित किया गया दिखाई देता है। सत्व यह दोष न होकर शुद्ध स्वरूपीय गुण ही होता है।

सत्व की वृद्धि होना अथवा सत्व का पर्याप्त बलवान होना } यह मनोरोगों का कारण नहीं अपितु मन को सुदृढ़ बलवान बनाने वाला ही साबित होता है।

सत्व गुण का ह्रास हो जाने पर } सहन शक्ति निग्रहादि में कमी आकर { मन चंचल एवं अशान्त बन जाता है।

**रजोगुण** कार्य प्रवर्तक। मनः कार्य का प्रवर्तक

**तमोगुण** यह रजोगुण के विपरीत गुणीय।

रजोगुण के क्रियाकारित्व का अतिरेक न होने देते हुए उसे लगाम लगाने का कार्य करता है।

इस प्रकार परस्पर के घोर विरोधी गुणीय ये दोनों मनोदोष {रज तथा तम}

मन का सन्तुलन रखने का महत्वपूर्ण कार्य करते रहते हैं।

तमोगुण के कारण—

सत्वगुण की-बुद्धि की ज्यादा की कार्यकारी शक्ति कम होकर-तमोगुण के कारण उत्पन्न निद्रा मन को अत्यावश्यक स्वरूपीय विश्राम प्रदान करती है, जिससे मन की शक्ति वा कार्यशक्ति पुन: ताजापन प्राप्त कर पाती है।

इस प्रकार सत्व-रज-तमका परस्पर सन्तुलन रखा जाकर शरीर एवं मन दोनों का स्वास्थ्य अबाधित रखा जाता रहता है।

मनोविषय

अमुक एक करना या न करना?

इसका योग्य विचार करना।

कौन से विषयों का ग्रहण करना?

तथा कौन कौन से विषय त्याग देना?

इसके लिये उहापोह करना।

योग्य एवं कल्याण कारक ऐसी बातें वा कर्मों के लिये } निश्चय वा संकल्प करना

इन्हें ही मन के अर्थ इस नाम से भी जाना जाता है।

चिन्त्यं विचार्य मुह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च
यत्किंचिन्मनसोज्ञेयं तत् सर्व ही अर्थ संज्ञकम्।

—च॰सं॰शा॰ १

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयं अनंतवान्
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्ववृद्धया निवर्तति।

—च॰सं॰शा॰ १

धी धृति स्मृति विभ्रंश: संप्राप्ति: काल कर्मणाम्
असात्म्यार्था गमश्चेति ज्ञातव्या: दु:खहेतव:।

—च॰सं॰शा॰ १

धी धृत्ति स्मृति विभ्रष्ट: कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्
प्रज्ञापराधं तं विज्ञात् सर्वदोष प्रकोपणम्।

—च॰सं॰शा॰ १

❖

# नाड़ी परीक्षा

शरीरस्थ रोहिणियें {शुद्ध रक्त वाहिका में- arteries} प्राय: शरीर में गहरे भाग में स्थित होती हैं (deeply situated) पृष्टभार पर प्राय: वे नहीं होती (उत्ताम भागों में)।

किन्तु मणिबन्ध स्थान में अंगुष्ठमूल स्थान में तथा गुल्फ स्थान में इ० क्वचित रूप में (उत्तान स्थानों में) स्थित होती हैं।

नाड़ी परीक्षा अंगुष्ठमूल स्थानीय बहि: प्रकोष्ठिका धमनी(Radial artery) के स्पंदनों का परीक्षण करके की जाती है।

| | | |
|---|---|---|
| सुख (अत्यानद)<br>दु:ख<br>क्रोधावेग<br>उत्तेजना | इ० का परिणाम<br>हृदय पर<br>होकर | हृदय उत्तेजित हो जाने<br>के कारण उसकी<br>धड़कन बढ़ जाती है। |
| तो इसके विपरीत<br>अवसाद<br>भीषण रक्तक्षय<br>रसक्षय<br>तीव्रातिसार | इ०<br>अवस्थाओं में | हृदय पर<br>अवसाद परिणाम<br>होकर उसकी धड़कन<br>मन्द पड़ जाती है। |

हृदय की गति में असाधारणता दिखाई देने पर हृदय वा शरीर में रुग्णता का उससे अनुमान कर लिया जाता है।

**संकोचनं बहिर्याति वायुरन्तं विकासत:**
**ततोनाड्य श्चलन्त्यस्रग्धरायाः स्फुरणं तत:।**

-नाड़ी ज्ञानम्।

**करस्याङ्गुष्ठ मूले या धमनी जीवसाक्षिणी**
**तच्चेष्ठया सुखं दु:खं ज्ञेयं कायस्य पण्डितै:।**

-शा०सं०पू० ३

शरीरस्थ रोहिणियाँ {धमनियाँ-शुद्धवाहिकायें arteries} हृदय से संबद्ध होती है।

हृत्स्फुरण कये तरङ्ग {लहर-wave} धमनियों में प्रविष्ठ हो जाते हैं और इसके कारण नाड़ी की गति देखकर हृद्गति की रुग्णारुग्णता का अनुमान कर लिया जाता है।

रोगपरीक्षणार्थ परीक्ष्य धमनी के लिये 'नाड़ी' शब्द प्रयोजित किया जाता है।

धमनियाँ एवं सिराओं के द्वारा वातादि दोषों का तथा रस-रक्त का वहन अव्याहत रूपेण किया जाता रहता है। इसीलिये उन्हें 'सर्ववहा' के नाम से भी संबोधित किया जात है। इनके ऊपर शरीर की प्राकृत-विकृत स्थिति का योग्य-अयोग्य प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है, तथा नाडी परीक्षा से परीक्षक उसका अनुमान कर लेता है।

वातादि दोष प्रकोप
द्वंद्वज (संसर्गज) दोष प्रकोप
सन्निपातज दोष प्रकोप
मन की स्थिति (उत्तेजना-क्रोधादि)
व्याधि की साध्य-असाध्य अवस्था
आत्ययिक स्थिति (Emergency)
वा अरिष्ट

} इ० का योग्य अनुमान अनुभवी नाड़ी चिकीत्सक नाड़ी परीक्षा से कर लेता है।

**वातं पित्तं कफं द्वंद्वं सन्निपातं रसंत्व सृक्**
**साध्या साध्य विवेकञ्च सर्व नाड़ी प्रकांश येत्।**

-नाड़ी प्रकाश

शोणित क्षय, मांस क्षय } की स्थिति में { नाड़ी शिथिल

रक्तपूर्णावस्था (सिरा पूर्णता), क्रोधादि मनोवेग, तीव्र ज्वर } नाड़ी तीव्र।

रसक्षय (Dehydration), रक्तक्षय (Loss of blood) } की स्थिति में { नाड़ी शिथिल (Thready pulse)

प्राचीन वैद्यक में नाड़ी परीक्षण के संदर्भ में त्रोटक वर्णन प्राप्त होता है।

नाड़ी परीक्षा पद्धति यह मध्ययुग में आविष्कृत हुयी और देखते ही देखते उसका धडल्ले से प्रचार होने लगा। नाड़ी परीक्षा शीघ्र गति से लोक प्रिय होने लगी।

प्राचीन काल में योरप में भी इस प्रकार रोगपरीक्षणार्थ (for diagnosis of the disease) नाडी परीक्ष किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

A system of clinical Medicine-T.D. Savil.

नाड़ी परीक्षा पद्धति

अंगुठ मूल स्थान के एक अंगुल नीचे की तरफ मणिबन्ध सन्धि स्थान पर (Wrist joint)

तर्जनी (Index finger)
मध्यमा (Middle finger)
अनामिका (Ring finger)
} ये तीनों अँगुलियाँ एक दूसरे से जुड़ी स्थिति में नाड़ी पर रखकर नाड़ी परीक्षा की जाती है।

{ तर्जनी अंगुली के नीचे वात
मध्यमा अंगुली के नीचे पित्त
अनामिका अंगुली के नीचे श्लेष्मा

का स्पंदन नाड़ी चिकीत्सा नाड़ी परीक्षा में देखकर दोष प्रकोप का योग्य अनुमान कर लेता है। बीच-बीच में से अँगुलियाँ ऊपर उठाकर फिर से नाड़ी पर रखकर इस प्रकार प्रत्येक दोष के परिणाम की कल्पना स्पंदनों के द्वारा चिकीत्सक को (नाड़ी परीक्षक को) आ जाती है।

–इसके द्वारा–

कौन सा दोष प्रकुपित है?
प्रकोपण कितने प्रमाण में है?
(अल्प प्रमाण में या विशेष?)
} इसका भी अनुमान नाड़ी स्पंदनों से नाड़ी परीक्षक कर लेता है।

स्त्रियों में बायें हाथ की
तथा पुरूषों में दायें हाथ की
} नाड़ी परीक्षा करने का निर्देश प्राप्त होता है।

{आधुनिक क्रिया शरीर की दृष्टि से स्त्री-पुरुष दोनों में भी दोनों भी हाथ की नाड़ी परीक्षा करना आवश्यक होने का प्रतिपादन किया हुआ दिखाई देता है।}

**एकांगुलं परित्यज्याधस्तादंगुष्ठ मूलत:**
**परीक्ष्येद् यत्नवान वै साह्यभ्यासादेव लक्ष्यते।**

–नाड़ी परीक्षण-रावण

**आदौ च वहते वातौ मध्ये पित्तं तथैव च अन्त च वहते श्लेष्मा नाड़िकात्रय लक्षणम्।**

-नाड़ी विज्ञान

शाङ्‌र्गधर संहिता में नाड़ी परीक्षा विधान का विवेचन किया हुआ दिखाई देता है।

**१. वात प्रकोप में** आध्मात नाड़ी (High tentioned) अरुण वर्णीय।

नाड़ी परीक्षण के समय परीक्षक की अंगुलियों को ऐसी अनुभूति होती है जैसे सर्प वा जलौका तिरछी गति करते हुए सरसराती हुई जा रही हो।

**२. पित्त प्रकोप में** परीक्षक की परीक्ष्य उँगलियों को नाड़ी का स्पर्श उष्ण लगता है। नीलवर्णा।

कौआ या मेढ़क जैसे फूदकते हुए चलते हों ऐसी नाड़ी

| | |
|---|---|
| | चलने की अनुभूति परीक्षक के उँगलियों को होती है। |
| ३. कफ प्रकोप में | नाड़ी स्पर्श शीत। गौरवर्णा। |
| | नाड़ी गति स्थिर |
| | शान्त |
| | एक जैसी (समताल) |
| | हंस गति की तरह नाड़ी गति |
| | परीक्षक की परीक्ष्य उँगलियों को होती है। |

**हंस पारावत गतिं धत्ते श्लेष्म प्रकोपतः**

-शा०सं०पू० ३

**तत्रारूणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः**
**पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिरः कफात्।**

-सं०सं०शा० ७

नाड़ी की अनुभूति स्पष्टतः कौन कौन से स्थानों में होती रहती है-इसका भी स्पष्ट उल्लेख किया हुआ उपलब्ध होता है-

**हस्तयोस्तत् प्रकोष्ठान्ते मणिबन्धेऽङ्गुली त्रयम्**
**पादयोर्नाडिका स्थाने गुल्फस्याधोऽङ्गुली द्वयम्।**

-वैद्यभूषण

**नासामूलेऽङ्गुली द्वयं कर्णमूलेऽङ्गुलीर्भवेत्**
**कंठमूलेऽङ्गुली द्वंद्वं नासायाम् अङ्गुली द्वयम्।**

-नाड़ी प्रकाश-टीका

**शरीर में आमसंचिति के कारण नाड़ी स्पर्श भारी (गुरु) अनुभूत होता है।**
**सामा गरीयसी।**

शा०सं०पू० ३

| | |
|---|---|
| दो दोषों का प्रकोप {संसर्ग। द्वंद्वज} संपादित हो जाने पर | नाड़ी कभी गतिमान बनी हुई तो कभी मंद गतियुक्त इस तरह की नाड़ी परीक्षक के परीक्ष्य अँगुलियों को महसूस होती है। |

**मिश्रितै र्मिश्रिता भवेत्।**

– शा० सं० पू० ३

| | |
|---|---|
| सन्निपातज<br>दोष प्रकोप में<br>{एक ही समय में<br>शरीरस्थ तीनों दोषों<br>का प्रकोप} | नाड़ी गति कबूतर की शति की तरह अनियमित [ अनिश्चित irrepular] तथा वेगवान।<br>नाड़ी परीक्षक की परीक्ष्य तीनों उँगलियों को भिन्न-भिन्न प्रकार का नाड़ीस्पर्श।<br>{तीनों दोषों के प्रकोपण का साक्षी परीक्षक<br>की तीनों उँगलियों<br>के नीचें की नाड़ियों में स्पर्श की अनुभूति} |

**लावा तित्तिर वर्तीनां गमनं सन्निपाततः**
**सर्वाङ्गुली तले या च स्थान्नागतिभिर्धरा।।**
**स्फुटा वै सा च विज्ञैया सन्निपात गदोभ्दवा।**

– नाड़ीज्ञान

| | |
|---|---|
| मणिबन्ध स्थान में नाड़ी अप्रतीति<br>किन्तु<br>ढाई अंगुल ऊपर परीक्षा करने पर<br>नाड़ी गति प्रतीति होना। | अरिष्ट सूचक। |
| गुल्फ मूल स्थान में<br>नाड़ी की प्रतीति | आसन्न मृत्यु सूचक। |
| बीच-बीच में रुक रुककर<br>चलने वाली<br>इस तरह की नाड़ी<br>गति की अनुभूति। | अरिष्ट सूचक। |
| अति क्षीण<br>शीत स्पर्शिय<br>रूग्ण शीताङ्गता | मृत्यु सूचक। |
| तीव्र ज्वर<br>काम-क्रोधादि की<br>आवोगावस्था | नाड़ी उष्ण एवं<br>वेगवती। |

**ज्वर कोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेद्।**

-शा॰सं॰पू॰ ३

| | |
|---|---|
| चिन्ता<br>भयादि भावनातिरेक<br>रसक्षय<br>धातुक्षय<br>मन्दाग्नि<br>शुक्राति क्षीणता | नाड़ी क्षीण<br>एवं<br>दुर्बल। |

**मन्दाग्नेः क्षीण धातोश्च नाड़ी मन्दतराभवेत्।**

–शा०सं०पू० ३

| | |
|---|---|
| १. गर्भवती की नाड़ी<br>२. ग्रथित मलयुक्त<br>जीर्ण विबन्ध में | नाड़ी भांरी (गुरु)<br>परीक्षक की तर्जनी अंगुली के नीचे<br>कोपवती महसूस होती है। |

| | |
|---|---|
| नाड़ी लघु क्षीण<br>{गुरु न होना}<br>परीक्षक की मध्यमाङ्गुली के नीचे<br>विशेषण<br>अनुभूत होने वाली | गर्भस्थिति न होना<br>तथा<br>पूर्व गर्भवती हो तों<br>उसका गर्भपात हुआ होने<br>बाबत अनुमान। |

**गुर्वी वातवहा नाड़ी गर्भेण सह लक्ष्ययेत्**
**लघ्वी पित्तवहा सैव नष्ट गर्भा वदेत्तु ताम्।**

–रावण-नाड़ी परीक्षा

चीन में नाड़ी परीक्षा को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। तिब्बत तथा चीन के वैद्य काफी देरसक रूग्ण की नाड़ी पकड़कर बैठे रहकर नाड़ी परीक्षा करते हुए आज भी देखे जाते हैं।

युनानी हकीम भी नाड़ी परीक्षा को विशेष महत्व प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं।

भारत में राजस्थान-गुजरात-दक्षिण भारत में नाड़ी परीक्षा को आज भी विशेष महत्व दिया जाता हुआ दिखायी देता है। नाड़ी परीक्षा में निष्णात नाड़ी वैद्यों को इन प्रदेशों में विशेष महत्व तथा सम्मान प्रदान किया जाता है।

आधुनिक वैद्यक द्वारा अनुसन्धान के फलस्वरूप एक से एक अति महत्वपूर्ण ऐसे अनेकानेक साधन चिकीत्सक के लिये आज उपलब्ध हैं, जिनकी मदद से त्रुटिहीन-दोषहीन रोग निदान **(Correct diag nosis)** करने में आसानी हो गई है। वर्तमान अति प्रगत

विज्ञान की चकाचौंध में नाड़ी परीक्षा विज्ञान पिछड़ गया सा लगता है। कइयों की धारणा है कि नाड़ी परीक्षा कोई विज्ञान नहीं है। लेकिन ऐसा सोच पालकर रखना भीषण अज्ञान ही साबित हो सकता है।

[ जिस तरह महाभारत पढ़ते समय भीम के द्वारा शत्रु पर पूरा का पूरा रथ उठाकर फेंकने की बात पढ़ते समय वह सफेद झूठ या अतिशयोक्ति मान लोग हँसने लगते हैं। क्योंकि हमारी औकात छोटी सी कुर्सी उठाकर फेंकने जितनी भी नहीं होती तो हम भीम की उस अद्वितीय शक्ति पर भरोसा कैसे कर सकते हैं ?

किन्तु जब किसी अखबार में या टी० वी० पर किसी विदेशी मल्ल के द्वारा उस पुराने रथ के वजन के जितना ही वजन उठाकर फेंकने की बात हम पढ़ते हैं या देखते हैं तब अचानक हमें एहसास होता है कोरी गप नहीं है वह भीम वाली महाभारत की बात ]

मतलब यह है कि उत्तम नाड़ी वैद्य आज प्रायः दुर्लभ ही हो गये हैं और इसीलये नाड़ी विज्ञान पर अविश्वास करने जैसी दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति भी आज वास्तव में है इसका भी इन्कार कैसे किया जा सकता हैं?

आज चिकीत्सक की मदद के लिये विभिन्न क्ष किरणात्मक उपकरण, विभिन्न रासायनिक परीक्षण, अति शक्तिशाली सूक्ष्म दर्शक के द्वारा परीक्षण...इतना ही क्यों? लेकिन देखते ही देखते मनुष्य की शरीरान्तर्गत इन्द्रियों की क्रियायें काम्प्युटर से पर्दे पर साफ देखी जा सकती हैं। आज का अति प्रगत विज्ञान चिकीत्सकों की मदद के लिये हाथ बाँधे खड़ा है, जिससे रोगनिदान बिल्कुल अचूक किया जा सके।

लेकिन जरा कल्पना कीजिये उस प्राचीन काल की जब मनुष्य काफी पिछड़ा हुआ था-विज्ञान से मानव की विशेष पहचान नहीं हो पायी थी। उस समय नाड़ी परीक्षा से रोगी का रोग निदान - अरिष्ट लक्षणों का ज्ञान, मृत्यु का अचूक निदान कर लिया जाना - रोग की साध्या साध्यता-अमुक इतने समय पूर्व गर्भपात हो चुका है...आदि अनेकानेक आश्चर्यकारक अचूक अनूमान कर लिये जाते थे।

आज भी इनेगिने ही क्यों न हों लेकिन ऐसे नाड़ी वैद्य दिखायी दे जाते है, जो रूग्ण की केवल नाड़ी परीक्षा से उसका अचूक रोग निदान कर लेते हैं। रोगी को वह रोग कितने दिनों से है? रोगी की पसन्द-नापसन्द कौन-कौन सी है? (दोष के अनुसार) इ० विषय में जब कहने लगते हैं- ऐसा लगता है जैसे किसी अदृश्य पर्दे पर - काम्प्युटर द्वारा अंकित प्रत्यक्ष आकृतियाँ देखकर वह बोल रहा है।

इस तरह के अभ्यासू-अनुभवी नाड़ी वैद्य के लिये आये दिन बात बात में रक्त परीक्षण, मूत्र परीक्षण-क्षकिरण परीक्षण आदि कराने की जरूरत नहीं पड़ती।

यहाँ यह भी प्रतिपादन करना आवश्यक लगता है, कि दुर्भाग्य से आज आयुर्वेद महाविद्यालयों में नाड़ी परीक्षा विज्ञान पर विशेष जोर अध्यापकों द्वारा दिया जाकर विद्यार्थियों में नाड़ी परीक्षा बाबत रुचि एवं निपुणता उत्पन्न करने के विषय में उदासीनता ही दिखायी देती है। इसका कारण बहुसंख्य अध्यापक इस विषय में स्वयं आधे-अधूरे होते हैं तथा अध्यापकों की इस स्थिति के लिये सर्वथा उन्हें भी जिम्मेदार ठहराया नहीं जा सकता क्योंकि उनके छात्र जीवन में उनके अध्यापकों ने भी समर्थता से उनमें नाड़ी परीक्षा की रूचि उत्पन्न नहीं की तथा न वे उन्हें नाड़ी परीक्षा का योग्य ज्ञान प्रदान कर पाये । भीतर तक चुभ-जाने वाला तथा तिलमिला देने वाला यह कटु सत्य ही है, जिसका इनकार आसानी से नहीं किया जा सकता।

### नाड़ी परीक्षा निषेधावस्था

सद्यस्नात-तीव्र धूप में से आकर बैठा हुआ, खूब दौड़ लगाकर या खूब व्यायाम करके आया हुआ, अति तृषित, अति क्षुधाग्रस्त, तैलाभ्यंग किया हुआ, गहरी निद्रा में सोया हुआ, संभोग कर्म से निवृत्त होकर आया हुआ ऐसे लोगों की तुरन्त नाड़ी परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

क्योंकि ऐसी अवस्था में की हुई नाड़ी परीक्षा वास्तविक स्थिति का भान न कराने वाली, नाड़ी परीक्षक को गुमराह करने वाली ही साबित होती है।

सद्यस्नातस्य भुक्तस्य क्षुतृष्णातपशीलिन:
व्यायाम श्रान्त देहस्य सभ्यङ्गनाड़ी न बुध्यते।
तैलाभ्यङ्गे च सुप्ते च तथा च भोजनान्त्तरे
तथा न ज्ञायते नाडी यथा दुर्गमतां नदी।

-कणाद-नाड़ी विज्ञान

# प्लीहा

## [SPLEEN]

शरीर में आमाशय पार्श्व में स्थित।

यह रक्त का संग्रह स्थान।

यहाँ संगृहित रक्त आपत्काल में शरीर में प्रयोजित किया जाता है। निर्जीव रक्त कणिकाओं का (RBC) इसमें विघटन कार्य संपादित किया जाता हैं .

विषम ज्वर (Malaria) जैसे जिन रोगों में रक्तकणिकाओं का (RBC) अति प्रमाण में विनाश संपादित होता है, उस समय उन रक्तकणों के विघटन का भार प्लीहा पर आ पड़ता है। विघटित रक्त कण प्लीहा में संचित हो जाने की स्थिति में प्लीहा वृद्धि [Enlargement of spleen] संपादित होती है।

प्लीहा इन रक्तकणों का विघटन कर पित्तोत्पत्ति करती है, जिससे जीर्णज्वर उत्पन्न हो जाता है।

इसी कारण से जीर्ण विषम ज्वर में संचित पित्त का शोधन-शमन कर उसके द्वारा बढ़ी हुई प्लीहा का भार कम करके उसे सामान्य (Normal) करना अनिवार्य हो जाता है।

रसग्रंथियों की तरह (Lymphatic glands) प्लीहा (Lymphocytes) नामक क्षात्रकण (रोगाणुओं का सामना कर शरीर को निरोगी रखने का महत्वपूर्ण कार्य करने वाले) उत्पन्न कर उन्हें रक्त प्रवाह में छोड़ती है।

शस्त्रक्रिया द्वारा यदि प्लीहा को शरीर से निकाल दिया जाये (Splenectomy) तो शरीर में ऐसी कोई उल्लेखनीय हानि उत्पन्न होती हुई दिखाई नहीं देती। सिर्फ उसके आभाव के पूर्ति की खातिर शरीरस्थ अन्य रस ग्रंथियाँ बड़ी हुई दिखाई देती है।

{over growth of lympth glands in the body}

कई प्राणियों में प्लीहा रक्तकणों का निर्माण करने का (formation of RBC) महत्वपूर्ण कार्य करती है। ऐसे इन प्राणियों के शरीर से यदि प्लीहा शस्त्रक्रिया द्वारा निकाल दी जाये तो अस्थियों के भीतर स्थित लोहित मज्जा का (Red bone morrow) प्रमाण बढ जाता है।

{प्लीहा को निकाल देने पर उसके रक्त कण उत्पन्न करने के कार्य की पूर्ति करने के खातिर शरीर में यह संपादित होता है। क्योंकि अस्थिस्थ लोहित मज्जा रक्तकणों का निर्माण करने का कार्य किया करती है।}

जीवाणु संक्रमण से (Infection) शरीर की रक्षा करने का महत्वपूर्ण कार्य प्लीहा शरीर

में करती रहती है। शरीर में जब-जब रोगाणु संक्रमण हो जाता है तब-तब प्लीहा में विशेष उत्तेजना (Stimulation) उत्पन्न होकर अधिक संख्या में क्षात्रकणों की उत्पत्ति (Lymphocytes) उसके द्वारा की जाती है। इस प्रकार शरीर की रोग प्रतिकार क्षमता (Immunity) वृद्धिगंत करने का काम प्लीहा शरीर में करती रहती है।

प्रोटिनों के 'नाइट्रोजन' का विश्लेषण करके मूत्राम्ल (uric acid) तैयार किये जाने का कार्य प्लीहा के द्वारा संपादित होता है।

सामान्य अवस्था में [In normal life] प्लीहा स्पर्शलभ्य नहीं होती।

# आयुर्वेदोक्त अष्टौनिन्दित में अति स्थूल एवं अति कृश

अति स्थूल एवं अति कृश व्यक्तियों को अतिनिन्दित प्रकृति कहा गया है। इनमें भी अतिस्थूल व्यक्ति सब में ज्यादा निन्दनिय मानी जाती हैं
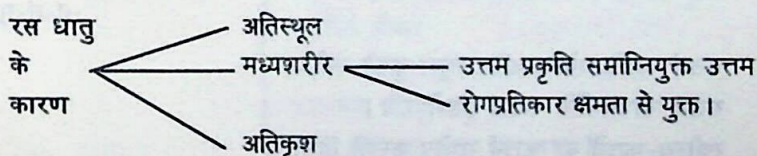
अतिस्थूल एवं अति कृश } प्रकृतियों का समावेश { आयुर्वेद ने "अष्टौनिन्दित" में किया हुआ है।

इन प्रकृति से युक्त व्यक्ति हरदम किसी न किसी व्याधि से ग्रस्त।

हरदम किसी न किसी विकीत्सा की इन्हें जरूरत होती है।

अति स्थूल व्यक्ति — को रोग ज्यादा प्रमाण में उत्पन्न होते रहते हैं।
इनको होने वाले रोगों का बल विशेष होता है।
क्योंकि धातुओं का दौर्बल्य एवं स्रोतसावरोध के कारण

इनका शरीरबल अल्प होता है।

ऐसे लोगों में रोगों का उपचार भी एक उलझनभरी एवं कठिन प्रक्रिया होती है।

क्योंकि इनके दौर्बल्य के लिये यदि सन्तर्पण दिया जाये तो, उससे उनकी स्थूलता ही केवल बढ़ती है, जिससे उनका कष्ट और बढ़ जाता हैं। क्योंकि ऐसे लागों में अन्य धातुओं के स्रोतसों में अवरोध रहने के कारण संतर्पण द्वारा प्राप्त होने वाली पुष्टि उन धातुओं को प्राप्त नहीं होती, जिससे वे अपुष्ट ही रह जाते हैं तथा मेद धातु का पोषण अनावश्यक रूपेण होता जाता है।

इसके विपरीत यदि ऐसे लोगों की स्थूलता ( मुटापा- Obesity) कम करने के लिये यदि अपतर्पण चिकीत्सा दी जाये तो यह भी संभव नहीं हो पाता।

क्योंकि रुग्ण की अग्नि तीव्र होती है। अत: दिनभर वह कुछ न कुछ खाता ही रहता है। उसे भूख बिल्कुल भी सहन नहीं हो पाती।

अपतर्पण से वह बेहाल हो जाने का इसका कारण होता है कि उनकी सहनशीलता अत्यल्प होती हैं।

अत्यनत गर्हितावैतो सदा स्थूल कृशौ नरौ
श्रेष्ठो मध्य शरीरस्तु कृश: स्थूलात्तु पूजित:।

-सु०सं०सू, १५

सततं व्याधितावेता वस्ति स्थूल कृशौ नरौ
सततं चोपचर्यौहि कर्षणं बृंहणै रपि।
स्थौल्य-कार्श्ये वरं कार्श्वं समोप करणौ हितौ
यद्युभौव्याधि रागच्छेत् स्थूलमेवाति पीडयेत्।
सममांस प्रमाणस्तु सम संहननो नर:
दृढेन्द्रियों विकाराणां न वलेनाभिभूयते।
क्षुत्पिपासातपसह: शीतव्यायाम संसह:
समपक्ता समजर: सममांसचयो मत:।

– च०सु०सू० २८

अति स्थूल व्यक्ति थोड़ी सी भूख-प्यास सह नहीं पाते। वे श्रम भी सहन नहीं कर पाते। अत: अति स्थूल व्यक्ति अपतर्पण चिकीत्सा के लिये भी सर्वथा अपात्र रहती है।

**स्थूल व्यक्तियों को होने वाले विकार–**

अत्यशन गुरु-मधुर-स्निग्ध-शीत-श्लेष्मगुण युक्त द्रव्यों का अतिसेवन।

अध्यशन पहले का किया हुआ भोजन पाचित होने के पहले ही पुन: भोजन करना।

अव्यायाम
अमैथुन
भरपूर दिवा स्वप्न
(दिन में खूब सोना)
आनन्द पूर्ण एवं
विलासी जीवन
श्रमाभाव
चिन्ता, शोक, भयादि } अभाव
बीज स्वभाव
[Heredity]

} इ० के कारण
(अतियोग के कारण)
उत्पन्न आहार रस आम
(अपक्व आहार रस)
जिसके कारण
स्रोतसावरोध एवं अग्नि दौर्बल्य
अन्य धातु स्रोतस
मेद से आवृत्त

{ अत:
उन्हें प्राप्त होने वाले पोषण का अभाव
जिससे
अन्य धातु दुर्बल बनते जाते हैं।

{ तथा
हर समय के आहार से सिर्फ मेद की ही पुष्टि
संपादित होकर
मेद के थर पर थर चढ़ते जाकर
अवास्तव भारवृद्धि होकर
शरीर बेढ़ब या कुरूप बन जाता हैं

उदर
स्तन
रिफक्
पिंडिका
जंघा
} मेद के इन प्राकृत स्थानों में मेद
उत्तरोत्तर बढ़ता जाकर
इनका आकार अतिमेद युक्त, बेढ़ंगा बन जाता है।

वजन खूब बढ़ जाता है (Over weight) हृदय मेद का आवरण हृत्पेशी क्रिया-ह्रास।

रक्तवाहिकाओं में मेद संचिति (fat deposition), जिससे रक्तवाहनियों के भीतर रक्त वह

मार्ग का संकुचन हो जाना जिसके कारण उनमें रक्त प्रवाहित करवाने के लिये अब हृदय को विशेष कार्य करना जरूरी हो जाता है, जिससे रक्तवाहनियों की दीवारों पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है। {रक्तचाप वृद्धि-व्यान चाप वृद्धि **Hypertension**}

रक्त में मेद का प्रमाण बढ़ा हुआ

विभिन्न हृद्रोग, रक्त प्रवाह में मेद कण

संचित के कारण रक्तमार्गावरोध (**Thrombosis**) तथा उससे उत्पन्न होने वाले गंभीर उपद्रव {**Serious complications**}

धातुओं की अपुष्टि--जिससे अल्पप्राण, रोगप्रतिकार क्षमता हीन और इसी कारण हरदम किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहना आम बात हो जाती है।

उष्णता-श्रम आदि सहन न कर पाने वाला।

रोग प्रतिकार क्षमता की हीनता के कारण होने वाला हरएक व्याधि बलवान ही साबिति होता है।

अत: अल्पायु आयुक्षय।

अकाली बुढ़ापा प्राप्त {धातु की अपुष्टि के कारण, शुक्र-ओजादि के दौर्बल्य के कारण}

मेदोवृद्धि के कारण वायवादि दोषों का सहसा प्रकोपण हो जाना।

जिसके कारण-विद्रधि (**Abscess**)

ज्वर

भगन्दर (**fistula**)

प्रमेह (**Dibetes**)

प्रमेह पीडका (**Dabetic corbuncles**)

| | |
|---|---|
| उत्साह हीनंता<br>बलहीनता<br>धैर्यहीनता<br>व्यवाय हीनता<br>**[in ability to perform sexual intercourse]**<br>शुक्रहीनता<br>अति स्वेद प्रवृत्ति<br>अङ्गदौर्गन्ध्य | इनके कारण ही अतिस्थूल व्यक्ति का जीवन दु:खमय बन जाता है। |

कोष्ठस्थ वात प्रकोप के कारण जाठराग्नि वृद्धि

{कोष्ठस्थ प्रकुपित समान वायु अग्नि का सन्धुक्षण लगातार करता रहता है।}

जिसके कारण अतिक्षुधा प्रवृत्ति बार-बार खूब खाना किन्तु

अन्य धातुओं के स्रोतस मेद से अवरुद्ध होने के कारण

लगातार सिर्फ मेद की ही वृद्धि होती रहती है जो उस व्यक्ति के लिये उत्तरोत्तर अधिकाधिक घातक ही सिद्ध होती जाती है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अतिस्थूल<br>व्यक्ति के शरीर को | } | कुपित अग्नि एवं<br>प्रकुपित वायु | } | नष्ट कर देते हैं। |

**अतिस्थूलस्य तावेदायुषो ह्रासो जवोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्य दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासाति योग श्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः।**

**तदति स्थौल्य मति संपूरणाद् गुरु मधुर शीत स्निग्धो प्रयोगाद व्यायामादव्यवायाद्दिवा स्वप्नाध्दर्ष नित्यत्वादचिन्तनाद्बीज स्वभावाच्चोप जायते।**

**तस्यह्याति मात्र मेदोस्विनो मेद एवोप चीयते न तथेतरे धातवः।**

**त स्मादायुषो-हास, शैथिल्यात्सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो जवोपरोधः, शुक्रबहुत्वा न्मेदसाऽऽवृत मार्ग त्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्यमसमत्वाद्धातुनां, दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात्स्वेदन त्वाच्च, मेदसः श्लेष्म संसर्गद्विषयन्दि त्वाद् बहुत्वाद् गुरुत्वाद् व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः तीक्ष्णाग्नित्वाद् प्रभूत कोष्ठ वायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासाति योगश्चेति।**

**-च०सं०सू० २१**

अति कृश

| | | |
|---|---|---|
| अति लंघन | अति अनशन | |
| क्षुधा-पिपासा | वेगावरोध | |
| निग्रह | निद्रावरोध | |
| रूक्ष-निःसत्व | अल्पाहार | |
| वातकार आहार | बीजदोष(Heridity) | इन समस्त |
| अति परिश्रम | अति व्यायाम | वात प्रकोपक |
| रात्रौ अति जाग्रण | वृद्धावस्था | आहार विहार के कारण |
| वमनादि | {स्वभावतः ही | रसधातु |
| शोधनों का अतियोग | धातुक्षय | अल्प तथा |
| | संपादित होता रहता है} | रूक्षगुणयुक्त बन जाता है |
| भय-शोक | अतिव्यवाय | तथा उसका संवहन भी |
| चिन्तादि भावों का | अतिअध्ययन | सम्यक् रूपेण |
| अतिरेक | | नहीं हो पाता। |

धातुपोषण सम्यक् रूपेण न हो पाना

=उत्तरोत्तर धातु दौर्बल्य। अन्त में

अस्थियों के ढांचे पर (Skeleton) चिपकी त्वचा ऐसा

कंकालरुप शरीर रह जाता है।

विद्रूप बने हडियल शरीर पर त्वचाजाल स्पष्ट दृगोचर।

कायिक }
वाचिक } क्रियाओं के संपादन करने के लिये
मानसिक } अल्प सामर्थ्य।

शरीरस्थ रोग प्रतिकार क्षमता-ह्रास (धातु दौर्बल्य के कारण)

उष्णता }
शीत }
श्रम (मिहनत-आयास) } को
क्षुधा } जरा भी सह न पाना।
तृषा } (इनके प्रति असहिष्णु बन जाना।)

मैथुन सामर्थ्य अल्प

श्रमशक्ति अल्प

पचन शक्ति अल्प

रोग क्षमता अल्प

विशेष रूपेण वात रोगों से ही पीडित-

होने वाली } अति बलवान }
हर व्याधि } अति कष्टकर } साबित होती है।

क्योंकि धातुओं की दुर्बलता }
तथा } यह अति कृश व्यक्ति की
रोग प्रतिरोधक शक्ति } विशेषता होती है।
का ह्रास }

उत्तम वीर्य युक्त बलवान औषधि { अति कृश व्यक्ति सहन
(Potent drugs) { कर नहीं पाती।

और इसी कारण उसे शीघ्र रोगमुक्ति भी

प्राप्त नहीं होती।

| | |
|---|---|
| प्लीहावृद्धि<br>उदर<br>ग्रहणी रोग<br>अर्श<br>धातुक्षय<br>अग्निमांद्य<br>रक्तपित्त<br>श्वास<br>कास<br>गुल्म | इ० रोगों से अति कृश व्यक्ति<br>विशेषेण<br>पीड़ित होती रहती है। |

वक्ष्यते वाच्यमति कार्श्यत्वत: परम सेवा रूक्षान्न पानानां लंघनं प्रमिताशमन्।
क्रियाति योग: शोकश्च वेगनिद्रा विनिग्रह:
रूक्षस्योद्वर्तनम् स्नान स्याभ्यास: प्रकृतिर्जर:।
विकारानुपशय: क्रोध: कुर्वन्त्यति कृशं नरम्।।
व्यायामाति सौहित्यं क्षुत्पिपासा मयौषधम्
कृशो न सहते तद्वदति शीतोष्ण मैथुनम्।
प्लीहाकास: क्षय: श्वासो गुल्मोऽर्शास्युदराणि च
कृशं प्रायोऽभि धावन्ति रोगोश्च ग्रहणी गता:।
शुष्कस्फिगुदर ग्रीवो धमनी जाल संमत:
त्वगस्थि शोषोऽति कृश: स्थूल पर्वा न रोमत:।

-च०सं०सू० २१

तत्र पुनर्वातलाहार सेविनोऽतिव्यायाम व्यावायाध्ययनभय शोक ध्यान रात्रि जागरण पिपासा क्षुत्कषायाल्पाशन प्रभृतिभिरूपशोषितो रसधातु: शरीर मननुक्रान मन्नल्पत्वान्न प्रीणाति तस्मादति कार्श्य भवति।

सोऽति कृश: क्षुत्पिपासा शीतोष्णवात वर्ष भारा दानश्च सहिष्णुर्वात रोग प्रायोऽल्प प्राणश्च क्रियासु भवति श्वास कास शोष प्लीहोदराग्निसाद गुल्म रक्तपित्ताना मन्तयतम मा साध्य मरण मुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्प प्राणत्वात्।

अतस्तस्योत्पत्ति परिहरेत्।

-सु०सं०सू० १५

**अति स्थूल व्यक्ति में** रक्तवाहिकायें (Blood vessels)

हृदय-धातु स्रोतस इ० समस्त मेद से आवृत्त रहते

हैं, शरीर में विकृति खूब ज्यादा प्रमाण में हुई रहती है।

किन्तु इसकी चिकित्सा जो अपतर्पण वह भी करना अति कठिन होता है। क्योंकि थोड़ा सा भी अपतर्पण स्थूल व्यक्ति सह नहीं पाता।

अति कृश व्यक्ति में

अति मेदस्वी व्यक्ति की तरह शरीर की विशेष हानि नहीं हुई रहती है।

उसी तरह

अति कृशता के लिये जो आवश्यक चिकीत्सा-सन्तर्पण वह भी की जा सकती है, और उससे उसमें उपशय प्राप्त हो सकता है।

अतः अति स्थूल एवं अति कृश व्यक्ति की तुलना में अति कृश व्यक्ति ठीक है, ऐसा कहा गया है।

...

❖

# वात वह संस्थान/नाड़ी संस्थान/मज्जा संस्थान
# (Nervous System)

शब्द स्पर्शादि विषयों की अनुभूति होना-संवेदनाओं की अनुभूति सुख दुःखादि-काम-क्रोधादि भावों का उद्भव

अन्न पचन

सार किट्ट विभजन

किट्ट वा मल भाग का शरीर से समय के समय पर निष्कासन होता रहना

शरीरोष्मा नियंत्रण

गर्भाशय में गर्भ का पोषण

यकृत-हृदयादि अंतर्गत महत्वपूर्ण इन्द्रियों के कार्य सुचारू रूपेण होते रहना

ऐसी अनेकानेक क्रियाओं का कर्ता आयुर्वेद के मतानुसार

शरीरस्थ अतिसूक्ष्म-सर्वगामी-तीव्रगतिमान वायु दोष होता है।

आधुनिक क्रिया शरीर के अनुसार मज्जासंस्थान (Nervous system) शरीरस्थ समस्त अंतर्बाह्य क्रियाओं का कारक होता है।

प्राचीनोक्त वात के समस्त कार्यों का अवलोकन करने पर आधुनिक क्रिया शारीरोक्त Nervous system से उनका साम्य दिखायी देता है।
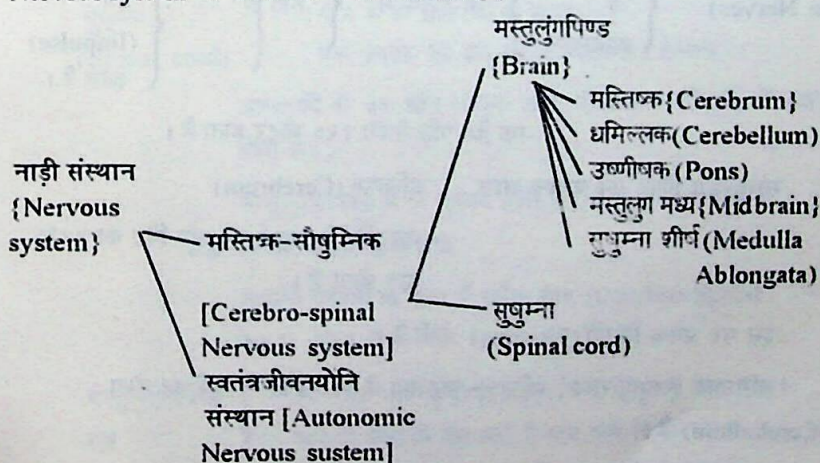
मस्तिष्क-सौषुम्निक नाड़ी संस्थान
तथा
स्वतंत्र जीवन योनि नाड़ी संस्थान
} इन दोनों के परस्पर सहकार्य से {Mutual co-operation}

{ इस समस्त नाड़ी संस्था का कार्य सुचारू रूपेण चलता रहता है।

इन दोनों नाड़ी संस्थाओं के

संज्ञावह
एवं
मनोवह वा आज्ञावह
} नाड़ी सूत्र होते हैं।

नाड़ियाँ(Nerves)

- शरीर के विभिन्न भागों से सुख-दुःखादि की संवेदनायें मस्तिष्क को पहुँचाने वाली संवेदनावाहक नाड़ियाँ (Afferent Nevers)
- प्राप्त हुई संवदनाओं के अनुसार आवश्यक हलचल इ॰ करने के लिये मस्तिष्क से उन-उन अवयवों को आदेश पहुँचाने वाली आज्ञावाहक नाड़ियाँ {Efferent Nevers}

नाड़ियों में (In Nerves) { संदेशवहन वा आज्ञावहन } के समय में { जो परिवर्तन होते हैं { उन्हें वेग (Impulse) कहते हैं।

यह वेग प्रति सेकंद १२० मीटर होता है।

मस्तुलुङ्ग पिण्ड का प्रधान भाग — मस्तिष्क (Cerebrum)

भारदृष्टि से संपूर्ण मस्तुलुंग पिंड का १/१० भाग होता है।

इस पर अनेक सितायें (Fissures) होती है।

धमिल्लक {लघुमस्तिष्क} मस्तिष्क पृष्ठभाग के निचले हिस्से में स्थित होता (Cerebellum) है।

मस्तुलुंग मध्य {Mid-brain} यह — मस्तिष्क [ Cerebrum], धमिल्लक {Cerebellum}, उष्णीषक {Pons} } इनका परस्पर सन्धान करने वाला मस्तिष्क का भाग

इसी के अधोभाग में उष्णीषक (Pons) स्थित होता है तथा

इसके नीचे सुषुम्नाशीर्षक [Medulla Ablongata] होता है। जो नीचे सुषुम्ना से (Spinal cord) संयुक्त रहता है।

**सुषुम्ना [spinal cord]**

कपालिका (Skull) के निम्न भाग में एक बड़ा गोल छिद्र होता है।

यहीं से

सुषुम्ना आरंभ होती है।

सुषुम्ना पृष्टवंश में (Vertebral column) स्थित होती है।

कनिष्टिका अंगुलीवत् यह मोटी होती है।

इसकी लम्बाई १८ इंच होती है।

मस्तुलुङ्ग पिण्ड (Brain) तथा सुषुम्ना (Spinal cord) } ये तीन कलाओं से वा आवरणों से वेष्टित। नीचे के दो आवरणों के मध्य एक प्रकार का द्रव संचित होता है। जिससे आघातादि से इन अति नाजुक अति संवेदनक्षम इन्द्रियों की रक्षा होती है।

मस्तुलुङ्गपिण्ड में ४ गुफायें होती हैं। इनमें बाह्यआवरण के निचले दो स्तरों में तथा

सुषुम्ना प्रणाली के मध्य में तर्पक कफ (Cerebro-Spinal fluid) होता है।

मस्तुलुङ्गपिण्ड एवं सुषुम्ना } का बाह्य भाग धूसर (Gray) नाड़ी कोषों से बना हुआ। यहाँ ही संज्ञा के वेग आते हैं तथा यहीं से आवश्यक चेष्टार्थ वेग (आज्ञा) अंगों की तरफ पहुँचते रहते हैं।

तथा

निचला भाग हिस्सा शुभ्र (White Mater) नाड़ी सूत्रों से बना हुआ होता है।

**मस्तिष्क(Cerebrum)**

रूप-रसादि का ज्ञान (Sensation)
मेधा (Intelligence)
इच्छा (Will)
चेष्टा (Movements)
स्मृति (Memory)
आवेग (Immotion)
चिन्तन (Thinking)
} इ० का प्रधान आश्रय।

मस्तुलुङ्ग पर स्थित सितायें (Fissures) जितनी पतली बारीक (fine), गहरी (Deep), संख्या में जितनी ज्यादा तथा हर दो सिताओं के मध्य का फासला जितना कम

उतनी वह व्यक्ति बुद्धिमान

इसके विपरीत ये सितायें जितनी मोटी-उथली (Shallow) समतल (Plain), संख्या में जितनी कम उतनी वह व्यक्ति निर्बुद्ध होती है।

मस्तिष्क का बाहर वाला धूसर (Gray) भाग नाड़ी कोषों से युक्त

यही मस्तिष्क वल्क(Cerebral cortex) कहलाता है।

यहीं इन्द्रियों से संज्ञायें आकर पहुँचती हैं तथा

यहीं से इन्द्रियों को उन संवेदनाओं के अनुसार आवश्यक चेष्टादि करने के लिये आदेश छूटते हैं।

मस्तिष्क गोलार्ध के } इस वल्क भाग में { प्रत्येक ज्ञान (Sensation) एवं कर्म का पृथक् प्रथक् केन्द्र होता है।

उदा रसकेन्द्र, दृष्टिकेन्द्र (Optic Centre)

गन्धकेन्द्र (Smell centre)

स्पर्श केन्द्र इ०

हस्त प्रेरक एक, पाद प्रेरक दूसरा, जबड़े की हलचल के लिये तीसरा इ०

उभीयविध समस्त केन्द्रों का परस्पर संबंध प्रतिसन्धानक सूत्रों के द्वारा स्थापित होता है।

इसीलिये कभी कोई ज्ञान वा कर्म एकाकी रूप में सम्पादित नहीं होता।

एक ज्ञान अपने केन्द्र में उत्पन्न होने पर प्रतिसन्धानक सूत्रों के द्वारा (**Association fibres**) उसकी अनुभूति अन्य केन्द्रों को हो जाती है और उसके अनुसार वे केन्द्र स्व स्व ज्ञान प्राप्त करते हैं, तथा

उसके अनुसार स्व स्व कर्मों का संपादन करते हैं।

उदा–दुकान में रसगुल्लों के देखते ही

पूर्वानुभूत उनकी गन्ध-स्वाद इ०

तुरन्त स्मृति से प्राप्त हो जाते हैं

जिससे पैर दूकान की तरफ मुड़ जाते हैं

हाथ बासुंदी की तरफ निर्देश करते हैं,

मुँह रसगुल्लों के दामों की पूछताछ करता है

इ० क्रियायें संलग्नता से सम्पादित हो जाती है।

**धमिल्लक**
**(Cerebellum)**

मांस पेशियों द्वारा संपादित होने वाली समस्त

क्रियाओं में परस्पर सुसंवाद स्थापित करना,

खड़े होते समय-चलते समय शरीर का

सन्तुलन बनाये रखना (**Balancing of the body**) मांसपेशी की स्थिति की सूचना चार

अङ्ग के द्वारा धमिल्लक को पहुँच जाती है-

| ये अङ्ग-- | नेत्र | ये होते हैं। |
|---|---|---|
| | आंतरकर्ण (**Labyrinth**) | |
| | मांसपेशी | |
| | संधि-त्वचा | |

प्राप्त संवेदना के अनुसार पेशियों को (**Muscles**) उसके अनुसार कर्म के बाबत प्रेरणा गदीं से प्रेषित की जाती है।

{प्रेरणा प्राप्त होती है मस्तिष्क के द्वारा तथा

क्रिया करते समय विभिन्न पेशियों का परस्पर सन्तुलन एवं सहकार्य रखा जाता है धमिल्लक के द्वारा}

**सुपुम्नाशीर्ष (Medulla Ablongata)**

मस्तुलुङ्ग से १२ प्रधान नाड़ियों की जोडियाँ {बारह मस्तिष्क नाड़ीयुग्म-Twelve Cranial Norves } निकलते हैं तथा भिन्न-भिन्न अवयवों को भिन्न कर्म सम्पादनार्थ जाते हैं।

श्वसन प्रक्रिया (Respiration)<br>हृत्स्पंद प्रवर्तक } नाड़ियाँ (Nerves) सुषुम्नाशीर्ष में और इसीलिये यह भाग अति महत्वपूर्ण अति संवेदन शील, जहाँ थोड़े से आघात के कारण भी मृत्यु हो सकती है।

सुषुम्ना काण्डवत् यह भाग भी प्रतिक्षिप्त क्रिया (Reflex action) का प्रवर्तक होता है।

**शीर्षण्य नाड़ियाँ (Cranial Nerver)**

१. प्रथम युग्म —— घ्राण नाड़ियाँ {Olfactory Nerves}

२. द्वितीय युग्म —— दृष्टि नाड़ियाँ [Optic Nerves]

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३. तृतीय | युग्म | नेत्र प्रचेष्टनी नाड़ियाँ | {Oculomotor Nerve} |
| चतुर्थ | | | {Trochlear Nerve} |
| षष्ठ | | | {Abducens Nerve} |

इनके द्वारा नेत्र गोलक (Eyeball)<br>पुतली<br>पक्ष्म } इनकी बिविध क्रियायें संपादित की जाती हैं।

६. पंचम युग्म त्रिधारी नाड़ियाँ (Trigeminal Neves)

इस प्रत्येक नाड़ी के ३ भाग

मुख शिर स्पर्श संज्ञावहन

तथा चबाने की क्रियार्थ जबड़ों को प्रवृत्त करती है।

७. सप्तम युग्म वक्त्र नाड़ियाँ (Facial Nerves)

मुख पेशी प्रवर्तक–

इसके द्वारा हर्ष<br>आश्चर्य<br>शोकादिभाव<br>प्रकटिकरण

जिव्हा पूर्व भाग में रसा स्वादन इसी के द्वारा कराया जाता है।

८. अष्टम युग्म

श्रुति नाड़ियाँ (Auditory Nerves) — एक भाग के द्वारा शब्द श्रवण; दूसरे भाग के द्वारा विविध हलचल (क्रियायें) इ० के समय आन्तरकर्ण में होने वाले परिवर्तन का ज्ञान धमिल्लक में पहुँचाया जाना।
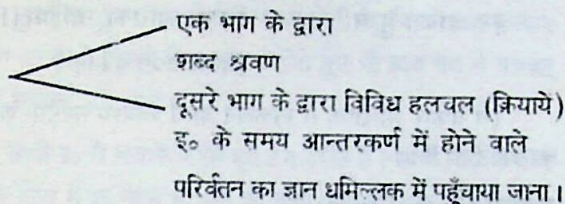
९. नवम युग्म कंठारासनी नाड़ियाँ (Glosso-Pharyngeal Nerves)

जिव्हा पश्चाद् भाग में। इनके द्वारा रसास्वादन कराने का कार्य संपादित किया जाता है। गले की पेशियों को कर्मप्रवृत्त करती है।

१०. दशम युग्म– प्राणदा नाड़ियाँ (Vegus-pneumogastic Nerves)

गल, कण्ठ, अन्नवहा, आमाशय, फुफ्फुस, हृदय, यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय — का कार्य प्रवर्तन इनके द्वारा संपादि.: किया जाता है।

उदर गुहा तथा उरोगुहा — की प्रवर्तक नाड़ियाँ एक ही होने के कारण एक गुहा में अवयव विकृति हो जाने पर उसका परिणाम अन्य गुहा (Cavity) स्थित अवयवों पर भी पड़ता है।

उदा श्लेष्मजन्य मंदाग्नि की स्थिति में उसका विपरीत प्रभाव दूसरी गुहा स्थित इन्द्रिय पर भी (हृदय पर) पड़ता है।

{अग्नि का स्थान उदर गुहा में तो हृदय का स्थान उरोगुहा में होता है। किन्तु इस प्रकार एक गुहा स्थित विकृति का परिणाम दूसरी गुहा स्थित इन्द्रिय पर विपरीत रूपेण पड़ता हुआ दिखाई देता है।}

११. एकादश युग्म– ग्रीवा पृष्टगा नाड़ियाँ [Spinal accessory nerves]

इनका एक भाग प्राणदा नाड़ी से संलग्न हुआ तो दूसरा भाग ग्रीवा की मन्या(Trapizius) पृष्ट च्छदा (Sterno-mastoid) नामक दो प्रधान पेशियों का प्रवर्तक होता है।

१२. द्वादश युग्म — जिव्हा लसिका नाड़िया (Hypoglossal Nerve) जिव्हा चेष्टा प्रवर्तक।

इस प्रकार मस्तिष्क से निकलने वाली शीर्षण्य नाड़ियाँ शरीर की महत्वपूर्ण क्रियाओं की कारक होती हैं।

## सुषुम्ना (Spinal cord)

मस्तुलुङ्ग पिण्ड (Cerebrum) में } धूसर भाग (Gray Mater) ऊपर { शुभ्र भाग (White Mater) नीचे के भाग में होता है।

इसके बिल्कुल विपरीत–

सुषुम्ना (Spinal cord) में } शुभ्र भाग (White Mater) ऊपर { धूसर भाग (Gray Mater) नीचे के भाग में स्थित। धूसर भाग का आकार अँग्रेजी वर्ण 'H' के जैसा होता है।

धूसर भाग की रचना } नाड़ी कोषों से बनी हुई होती है } तो { शुभ्रभाग की रचना } नाड़ी सूत्रों से बनी हुई होती है।

सुषुम्ना की पूरी लम्बाई की दिशा में पिछले तथा सामने के भाग में चिरें (Fissures) पड़ी हुई दिखाई देते हैं।

सुषुम्ना स्थित श्वेत भाग } मस्तिष्क एवं शरीरावयण { इनमें वेगवहन करने वाले } नाड़ी सूत्रों से बना हुआ होता है।

तथा

धूसरभाग — मस्तिष्कवत्क सदृश चैतन्य से युक्त होता है।

अर्थात् शरीर के विभिन्न भागों से चेष्टा प्रवर्तक वेग इस धूसर भाग में पहुँचते रहते हैं।

## प्रतिक्षिप्त क्रिया/प्रतिसंक्रमित क्रिया (Reflex action)

इसे सुषुम्ना के द्वारा संपादित महत्वपूर्ण कार्य कहा जाता है।

मनुष्य निद्रामग्न होने की स्थिति में उसका मस्तिष्क विश्रामावस्था में होता है।

इस निद्रामग्न अवस्था में उसके पैर के अंगूठे को मच्छर के काटने की स्थिति की उसकी संवेदना सुषुम्ना में पहुँचते से ही वहीं से ही (सुषुम्ना से ही) उसके अनुसार अवयव को

(अगूंठे को) छूटे हुए आदेश के मुताबिक तुरन्त अगूंठे में हलचल होती है, जिससे वह मच्छर उड़ जाय अथवा हाथ को आदेश छूटता है जिससे निद्रा भंग न होते हुए भी हाथ वेग से यंत्रवत् उस अगूंठे पर पड़ता है जिससे मच्छर उड़ जाये।

(कई बार लोगों को अपने साथी इ० से मजाक करते हुये हम देखते हैं। साथी नींद में मग्न होता है ऐसी स्थिति में साथी के कान में या नाक में धागे की बनी बनाकर डालने का प्रयत्न करने पर उसका हाथ वेग से उस कान या नाक तक पहुँचता है और साथी हँसने लगते हैं। यह प्रतिक्षिप्त क्रिया ही तो है।)

आदत के मुताबित (Practice) किये जाने वाले कार्य उदा-साइकिल चलाना, सर्कस वालों का तार पर या रस्सी पर चलना आदि क्रियायें प्रतिक्षिप्त क्रिया के ही उदाहरण होते हैं।

किन्तु अपनी ही धुन में सीटी बजाते हुये कुछ गुनगुनाते हुये बेखबर बने साइकिल चलाते समय चक्के के नीचे कोई पत्थर इ० आ जाने से जब सन्तुलन एकदम गड़बड़ा जाता है तथा क्षण भर में उसकी यह तन्द्रा टूटकर वह अचानक "अरे होऽ" कहते हुये अपने आप को गिरने से बचा लेता है अर्थात् इस विशिष्ट समय में उस क्रिया की संवेदना मस्तिष्क में पहुँचती है किन्तु उसके पूर्व वह कार्य प्रतिक्षिप्त क्रिया के रूप में ही संपादित होता रहता है।

मुखोद्गत श्लोकों का उच्चारण करना, रटा हुआ संभाषण बिना अटके धारा प्रवाह बोलते जाना आदि अनेकानेक प्रतिक्षिप्त क्रिया के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

**सौषुम्निक नाड़ियाँ (Spinal Nerves)**

सुषुम्ना पृष्टवंश में ऊपर से नीचे की दिशा में स्थित होती हैं।

इसमें से ऊपर से नीचे तक बायीं और दाहिनी तरफ से समरूपेण नाड़ियाँ निकली हुई रहती है। ये नाड़ियाँ बायीं और दाहिनी दोनों तरफ से कशेरूकाओ के छिद्रों से बाहर निकली हुई रहती हैं।

इन सुषुम्ना नाड़ियों का मूल } सुषुम्नाभागीय { मध्यवर्ती धूसर (Gray Mater) नाड़ी कोष होते हैं।

ये सुषुम्ना नाड़ियाँ जैसी-जैसी आगे जाती है वैसे-वैसे उनमें से शाखायें-उपशाखायें निकलती जाती है।

इन सुषुम्ना नाड़ियों के प्रतान त्वचा-पेशियों इ० में व्याप्त रहते हैं।

सौषुम्निक नाड़ियों में } संज्ञावह (चेष्टावह) एवं मनोवह (आज्ञावह) { इस तरह के उभयविध सूत्र होते हैं।

| | | | |
|---|---|---|---|
| संज्ञा वह नाड़ी सूत्रों के द्वारा | शीतोष्णादि स्पर्श सुख दुःखादि संवेदनायें | इ० के वेग (Impulses) | सुषुम्ना में पहुँचते रहते हैं। |

तथा–

| | | | |
|---|---|---|---|
| मनोवह (आज्ञावह) सूत्रों के द्वारा | प्रतिसंक्रमित वेग | सुषुम्ना से अवयवों की तरफ | पहुँचते रहते है। |

| | | |
|---|---|---|
| ग्रीवा भाग से कटिभाग पर्यन्त {from cervical to Lumber Portion of the vertebral column} | सौषुम्निक नाड़ियों के | कुल इकत्तिस युग्म (Thirty one spinal nerves) सुषुम्ना से बाहर निकले हुए रहते है। |

अधोभाग में ये सौषुम्निक नाड़ियाँ गुच्छा रूप में {स्त्रियों की वेणी के बालों के गुच्छ की तरह समानान्तर निकली हुई रहती हैं।}

विकार ग्रस्त बने हुए सुषुम्ना भाग से निकली हुई नाड़ियाँ जिन अवयवों को पहुँची हुयी रहती हैं वे भाग भी विकारग्रस्त हो जाते हैं।

कशेरुका शोथ कशेरुका स्थानभ्रंश

{जबर्दस्त आघात-अपघात इ० में कशेरुका स्वस्थान में थोड़ी सी वा ज्यादा स्थानभ्रष्ट हो जाती है}

कशेरुका क्षय वश स्थान संकोच (Tubercular infection)

इ० के कारण

| | | |
|---|---|---|
| सुषुम्ना पर दबाव पड़ कर | वहाँ से निसृत नाड़ियों के द्वारा | उस इन्द्रिय से सम्बन्ध तथा उस इन्द्रिय पर का नियंत्रण खत्म हो जाता है। |

उस भाग का वध अथवा क्रियाहीनता पक्षाघात-अङ्गघात (Paralysis) उत्पन्न हो जाता हैं।

स्वतंत्रयोनि नाड़ी संस्थान
{Autonomic Nervous System}

| | | |
|---|---|---|
| इस नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण | मस्तिष्क मूलभाग में स्थित आज्ञाकन्द (Thalamus) | दो नाड़ी कन्दों के द्वारा रखा जाता है। |

इस नाड़ी संस्थान के द्वारा शरीरस्थ इच्छातीत वा अनिच्छावर्ति क्रियायें {Involuntary movements}

अन्नमार्ग में अन्न आगे आगे खिसकना

अन्नपचन

सार किट्ट विभजन

सार भाग का आंत्र में शोषित होना

पाचक स्रावों का विस्रवण एवं वहन

विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रंथियों का विस्रवण (Secrection of the endocrine glands)

शरीरस्थ रक्त संचरण क्रिया (Blood circulation in the body)

इ० अनेकानेक क्रियायें यंत्रवत् अचूक रूपेण संपादित की जाती रहती है।

स्वतंत्र योनि नाड़ी संस्थान {Autonomic Nervous system}
- मध्यस्वतंत्र वा आग्नेय नाड़ी संस्थान {Sympathetic Nervous system}
- परिस्वतंत्र वा सौम्य नाड़ी संस्थान {Parasympathetic Nervous system}

सुषुम्ना के बायें तथा दाहिने तरफ के

दोनों पार्श्वों पर ऊपर से नीचे की दिशा में

नाड़ी कन्दों की (Ganglia) एक श्रृंखलादि बनी हुई होती है।

बायीं और दाहिनी तरफ की नाड़ी कन्दों की बनी हुई इन श्रृंखलाओं को ही 'इडा' तथा 'पिङ्गला' के नाम से योगी लोग सम्बोधित करते हैं।

| ये नाड़ी कन्द तथा इनमें से निकले हुये नाड़ी सूत्र | अर्थात् | मध्य स्वतंत्र वा आग्नेय नाड़ी संस्थान है। |
|---|---|---|

यहाँ से निकले हुए नाड़ी सूत्र सुषुम्ना सूत्रों में जाकर मिल जाते हैं

| परिस्वतन्त्र वा सौम्य नाड़ी संस्थान के सूत्र | तृतीय<br>सप्तम<br>नवम<br>दशम<br>एकादश | शीर्षण्य नाड़ियों में (Cranial Nerves) मिल जाते हैं। |
|---|---|---|

यही उत्तर परिस्वतंत्र नाड़ी संस्थान कहलाता है।

द्वितीय }
तृतीय } अनुत्रिक नाड़ियों में सुषुम्ना कांडीय
चतुर्थ } त्रिकास्थि अन्तर्वर्ति भाग से निसृत नाड़ियाँ

=अधर परिस्वतंत्र नाड़ी संस्थान

इसके व्यतिरिक्त आंत्र
हृदयं
बस्ति
तथा अन्य आतंरावयवों में भी } स्वतंत्र नाड़ी संस्थान के प्रभवस्थान स्थित होते हैं।

इनसे निकले हुए नाड़ी सूत्र चक्र व्याप्त रहते हैं (Plexus) जिन्हें योगशास्त्र में मणिपुर चक्र इ० नाम दिये हुये दिखाई देते हैं।

ये चक्र (Plexues) { मध्यवर्ती नाड़ी संस्थान (Central Nervous System) परिस्वतंत्र नाड़ी संस्थान (Para-sympathetic nervous system) के आधीन रहकर } अपने क्षेत्रस्थ अङ्गों का नियमन करते हैं

मध्यस्वतंत्र नाड़ी संस्थान के कर्म
**(Functions of Sympathtic nervous system)**

आकस्मिक समय में [In emergency- शत्रु आक्रमण, कुत्ता या ..ठ लगना इ० संकट काल में]

पाकक्रिया (Digestion) को शिथिल कर {पाक क्रिया के समय कोष्ठ में ज्यादा रक्त का संचार करवाना इ०} क्रियाओं को मंद कर उसके बजाय हस्त-पादादि इन्द्रियों का क्रिया वर्धन इ०

त्वक् रक्तवहाओं का

संकोच

रोमांच

स्वेदस्राव

पुतली विकास (Dilatation of Pupils)

हृत् वेग वर्धन

वृक्किका ग्रंथि अत: स्राव: वृद्धि

व्यान चाप वृद्धि {Increased Blood Pr. Hypertension}

क्लोम शाख विस्फार

{श्वसन वेग के बढ़ जाने से उसके द्वारा शरीर में ज्यादा की उष्णता एवं ऊर्जा उत्पन्न करने के लिये ज्यादा का ओषजन ($O_2$) शरीर को प्राप्त हो पाये-इस लिये}

हृत नाड़ी विकास

{शरीराङ्गों को विशेष प्रमाण में रक्त प्रदाय करने के खातिर},

महास्रोत कपाटिकाओं को अवरूद्ध करना,

पाकक्रिया को शिथिल करना, संकटकाल में प्राण बचाने के लिये दौड़ना,

प्राणघातक व्यक्ति या प्राणि का मुकाबला करना

(इ० के लिये हाथ-पैरों को तथा उन आवश्यक इन्द्रियों को विशेष रक्त का प्रदाय करने के खातिर कोष्ठस्थ पाकक्रिया को शिथिल कर कोष्ठ के बजाय हाथ-पैर इ० इन्द्रियों में रक्तसंचार संचारित किया जाता है। अथवा बिल्कुल पास ही बहुत बड़ा साँप दिखाई देना-अचानक कुत्ते या शेर जैसा प्राणि पीछे लगना, अचानक चोर-डाकु-शत्रु इ० का आक्रमण हो जाना-ऐसे समय प्रतिकारार्थ हाथ-पैरों को विशेष कार्य वा श्रम करना अनिवार्य हो जाता है इसके लिये हाथ-पैरों में ज्यादा की उष्णता-ऊर्जा इ० की निर्मिति के लिये)

परिस्वतंत्र नाड़ी संस्था के कार्य {Functions of Para sympathtic Nervous system}

मध्य स्वतंत्र वा आग्नेय नाड़ी संस्था के (Sympathetic Nervous System) विपरीत इसके कर्म होते हैं।

उदा–पुतली संकोच (Contraction of Pupils)

लाला वृद्धि

हृत्क्रियामन्दता (Brady cardia)

क्लोमशाखा संकोच,

आमाशय<br>अग्नाशय<br>आन्त्ररस (पाचक रस) } का प्रवर्तन।

महास्रोत ओष्ठ विशदीकरण

हृत् नाड़ी संकोचन इ०

❖